

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180299

UNIVERSAL
LIBRARY

CUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H 84
S 565a

Accession No. P. G. H 1896

Author

शुक्ल, गिरिजादत्त गिरिबा'.

Title

साहित्य-काली . 1956 .

This book should be returned on or before the date last marked below.

साहित्य-वार्ता

[साहित्यिक निबन्धों का संकलन]

लेखक

गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

भारती साहित्य मंदिर

फव्वारा, दिल्ली

प्रकाशक

गौरीशंकर शर्मा

भारती साहित्य मंदिर

फव्वारा, दिल्ली ।

प्रथम संस्करण : १९५६

मूल्य : पाँच रुपये आठ आने

मुद्रक

हकूमतलाल

विश्व भारती प्रेस

पहाड़गंज, नई दिल्ली ।

आलोचना व निबन्ध

प्रिय डाक्टर रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०
को सस्नेह

एक बात

विश्व-विद्यालयों में हिंदी-साहित्य का पठन-पाठन आरम्भ होने के परिणाम-स्वरूप हिंदी-जगत् में कुछ दिनों से निगमनात्मक अथवा व्याख्यात्मक समालोचना का डंका पिट रहा है तथा निर्णयात्मकता से बचने की अधिक-से-अधिक चेष्टा की जा रही है। निस्सन्देह निर्णयात्मकता निरंकुशतापूर्वक विचरण करने योग्य नहीं है; स्वच्छन्दता के साथ मनमाने मतों के रूप में अवतरित होकर वह ज्ञान के क्षेत्र में अज्ञान ही का अधिक प्रसार करेगी। किन्तु निर्णयात्मकता से शून्य व्याख्यात्मकता को भी में कम संकटजनक नहीं समझता; इसके सहारे उन आलोचन-तत्त्वों को भी प्रचारात्मक साधनों की प्राप्ति हो जाती है, जो अन्यथा समीक्षा की चर्चा में साधारण उल्लेख ही के अधिकारी हो सकते। यदि समालोचना को मर्यादित स्तर पर ले चलना है तो कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में व्याख्यात्मकता और निर्णयात्मकता का सामंजस्य करना ही होगा। ऐसे प्रयत्न और ऐसी साधना के द्वारा ही हिंदी के गण्य-मान्य विद्वज्जन उस कुहासे का अंत कर सकेंगे जो उनकी एकान्त व्याख्यात्मकता-प्रसूत प्रचारात्मकता के शैल-शिखर पर बैठकर सच्ची समालोचना की किरणों को प्रफुल्लित होने से रोक रहा है।

समालोचना व्याख्यात्मक हो अथवा निर्णयात्मक, प्रभावाभिव्यंजक हो अथवा मनोविश्लेषणात्मक, तुलनात्मक हो अथवा एकान्तिक, ऐतिहासिक हो अथवा सौष्ठववादी—उसके प्रधान उद्देश्य की क्षति नहीं होनी चाहिए और वह यही है कि पाठक को समालोचक से वह दृष्टि प्राप्त हो जिसकी सहायता से वह आलोच्य वस्तु अथवा तत्त्व में निहित सत्य की भूलक प्राप्त कर सके। वह समालोचना व्यर्थ है जो सत्य के प्रति अनुराग को शिथिल करके असत्य के प्रति रुचि को उत्तेजना देती है। यह व्यापक कथन साहित्यिक रचनाओं-सम्बन्धी समस्त समालोचना के लिए सार्थक समझा जाना चाहिए।

साहित्यिक समालोचना की भिन्न-भिन्न शैलियों के समन्वय से समन्वयवादी शैली का विकास तो आवश्यक है ही, किन्तु जो बात अधिक महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि समालोचक सबसे पहले अपनी समस्त चित्त-वृत्तियों को संगठित करके उन्हें अनासक्ति की ओर प्रेरित करे। समन्वयवादी शैली को पाकर भी यदि समालोचक आलोच्य के प्रति आसक्ति-पीड़ित ही रहा, तो स्थूलकाय पोथों में सहस्रों पृष्ठ काले

करके भी वह मरण और अपयश से नहीं बच सकेगा, साथ ही आलोच्य को भी क्षणिक आशा-निराशा एवं हर्ष-विषाद ही प्रदान करने की क्षमता रखेगा। यदि मोटी पोथियों के भीतर दस पंक्तियाँ भी ऐसी नहीं हैं जो वर्तमान वातावरण के सम्बन्ध में निर्लिप्त, निष्ठुर सत्य का कथन कर सकें, तो उन्हें श्रमावस्था के ग्रंथकार से घिरकर अत्यन्त भयानक दिखाई पड़ने वाली रात्रि ही समझना चाहिए। यदि बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ और बड़े-बड़े विवेचन करने के अनन्तर हमारे ऊँचे-से-ऊँचे समीक्षक वर्तमान वातावरण के समीप पहुँचते ही राग-द्वेष से प्रभावित होकर अपनी साधना का पुण्य गँवा बैठे तो ईसा मसीह के शब्दों में मुझे यही कहना पड़ेगा कि नमक के प्रयोग से भोजन स्वादिष्ट बनाया जाता है, किन्तु यदि नमक अपने स्वरूप को भुला दे, अपनी शक्ति को खो दे तो उसकी रक्षा कौन करेगा ? हिंदी-साहित्य के अनेक इतिहास ऐसे हैं जिनसे कूड़े-कबाड़ को भी स्थान दिया गया है, किन्तु जिनमें उन साहित्यकारों की, जिन्होंने हिंदी-साहित्य की सेवा में अपने-आपको मिटा दिया है, कहीं चर्चा नहीं है। और इन ग्रन्थों के लेखक विश्वविद्यालयों से प्राप्त डी० लिट०, डी० फिल, पी-एच०डी० आदि उपाधियों के अधिकारी आचार्यगण हैं, जिनकी ओर कोई उँगली नहीं उठा सकता !

समालोचना के नाम पर न तो व्यक्ति की असंगत आराधना होनी चाहिए और न उसके प्रति घृणा अथवा द्वेष के उद्गार प्रकट किये जाने चाहिए। रचनात्मक भाव अथवा कर्म की प्रेरणा देना अथवा लोकोत्तर आनन्द में निमग्न करना ही साहित्यिक रचना का उद्देश्य है; जिस साहित्यकार की कृति में इन विशेषताओं का अभाव है, वह समालोचक से साधुवाद पाने के योग्य नहीं है। जितना कलाकार की रचना पाठक के हृदय में मति-भ्रम उत्पन्न करती है, उसे उत्कल्लर भाव-विकास लोकहितपरक कर्मानुरक्ति अथवा सरस विश्रामदायिनी आत्मस्थिति की ओर प्रगतिशील नहीं बनाती, उसकी समर्थता अथवा असमर्थता का उद्घाटन न केवल समालोचक के अधिकार के अन्तर्गत है, वरन् यह कहना चाहिए कि वह उसका परम कर्तव्य-रूप है, जिसका उचित-निर्वाह न होने की अवस्था में भले ही वह व्यक्ति-विशेष अथवा दल-विशेष के प्रति अपनी निष्ठा का पालन कर ले, किन्तु साहित्य के प्रति तो वह अपराधी ही ठहरेगा। समालोचक चाहे जितना बड़ा विद्वान् हो, साहित्य के प्रति अपराधी होकर सब प्रकार से असफल ही कहा जायगा, कोई भी शैली उसकी इस असफलता का निवारण नहीं कर सकेगी। जो बात यहाँ कही जा रही है, उसके लिए यदि उदाहरण देने की आवश्यकता हो तो पाठकों से क्षमा माँगकर अपनी कृतियों ही से मैं उन्हें प्रस्तुत करूँगा। अपने चरितमूलक समीक्षा-ग्रन्थ 'महा-कवि हरिऔध' में यदि मैंने 'प्रियप्रवास' की तुलना में सूरदास की कृति को होत बतलाया होता तो हरिऔध जी के प्रति निष्ठा-पालन-व्यग्रता के साथ-साथ साहित्य-

हनन के भीषण दोष के लिए क्या मैं उत्तरदायी न ठहराया जाता ? इसी प्रकार 'गुप्त जी की काव्य-धारा' में श्री सैथिलीशरण गुप्त-कृत उर्मिला-विषयक आग्रह को स्वीकार करके यदि मैंने उसके अन्तर में निहित महती दुर्बलता का उद्घाटन न किया होता तो क्या मैं साहित्य-प्रेमी विद्यार्थियों की एक बहुत बड़ी संख्या के साथ बंचक का व्यवहार करने वाला न कहा जाता ? हाल ही में प्रकाशित होने वाले अपने आलोचनात्मक प्रबन्ध 'समीक्षक-प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल' में मैं सहज ही स्वयं को उस शास्त्रार्थ से बचा सकता था जो शुक्ल जी सम्बन्धी भ्रान्तियों के निवारण के लिए मुझे छेड़ना पड़ा, किन्तु भ्रम-निवारण प्रयास के प्रसंग प्राप्त अवसरों की अवहेलना करना क्या मेरे लिए प्रस्तुत संघर्ष-स्थल से पलायन करने के तुल्य न होता ? मेरी विवशताओं को जानने पर भी मेरी आलोचना से सम्बन्धित व्यक्तियों के हृदय में करुणा का संचार न हो, किसी प्रकार से भी उनका सतोष-समाधान संभव न हो, ऐसा मैं नहीं मानता; किन्तु यदि मैं अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणाओं के प्रति विश्वास-घात कछूँ तो क्या मेरी साहित्यिक चेतना को ही लकवा न मार जायगा ? मुझे विश्वास है, समझदार व्यक्ति मेरे इस कथन से सहमत होंगे कि मैंने व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना-शैलियों का गठबन्धन करके रचनाकार की, अपनी एवं साहित्य की प्रगति का ही विधान किया है।

इस सग्रह ही के निबन्धों पर यदि ध्यान दिया जाय तो पाठक देखेंगे कि 'यदि मैं कामायनी लिखता,' 'दिनकर जी का कुरुक्षेत्र,' 'अज्ञेय जी का नदी के द्वीप' आदि निबन्धों में व्याख्यात्मकता के साथ-साथ निर्णयात्मकता की भी वृत्ति है। अब यदि इस निर्णयात्मकता का लोप कर दिया जाय तो ऐसा कौन-सा तत्त्व शेष रह जायगा जिससे पाठक को उक्त साहित्यिक कृतियों की सीमाओं को समझने में सहायता मिल सके ? और यदि अस्त-व्यस्त विचारों की दलदल में से उसको निकलने का अवसर न दिया जाय, यदि स्थल-विशेष की विकृतियों से वह सावधान न किया जाय तो उसकी प्रगति कैसे होगी ? वह प्रगति जिसके अभाव में साहित्य ही का प्रयोजन सिद्ध न होगा। यश-लालसा को प्रसिद्ध अंग्रेज कवि मिल्टन ने (That last infirmity of noble mind) सुसंस्कृत मन की अंतिम दुर्बलता कहा है, किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मिथ्या प्रशंसा से रचनाकार की यश-लालसा भी सिद्ध नहीं होती, उसकी प्रगत भी अवरुद्ध हो जाती है। अतएव, समालोचक का यह भी कर्तव्य है कि वह रचनाकार को मिथ्या यश-लाभ के प्रलोभनों से मुक्त करे और उसकी साधना को उत्तरोत्तर प्रखर बनाने के लिए सचेष्ट हो।

संक्षेप में मेरा यह निवेदन है कि निर्णयात्मकता से भागने की आवश्यकता

नहीं, व्याख्यात्मकता की अपेक्षा उसके द्वारा ग्राह्योक्त की प्रतिभा एवं साधना को अधिक मँजाव और निखार मिलने की सम्भावना है। व्याख्यात्मकता की वाणी श्रवण-सुखद है, किन्तु सहज ही वह चाटुकारिता से सम्बन्ध जोड़कर साहित्य-के पतन का कारण बन सकती है; विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य के पठन-पाठन के सिलसिले में इसका अतिशय आदर तथा उच्च आचार्य उपाधियों के लिए लिखित ग्राह्योचनात्मक प्रबन्धों में इसके अतिशय प्रयोग से विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध और असम्बद्ध लेखकों के कृतित्व की स्वीकृति में जो असंतुलन दिखाई पड़ रहा है, शोध का हठ कर लेकर उठने वाले महानिबन्धों में जो प्रायः विपरीत मनोवृत्तियों का परिचय मिलता है वह शुद्ध, वैज्ञानिक समालोचना के विकास में बाधक हो रहा है। उनके विरोध में प्रतिक्रिया भी आरम्भ हो गई है। अस्तु।

‘साहित्य-वार्ता’ में कुछ रचनात्मक निबन्ध भी समाविष्ट हैं, जो प्रायः कहानी के समीप पहुँच गए हैं और व्यगात्मकता, जिनकी प्रधान विशेषता है। ये हैं — ‘साहित्य-वार्ता’, ‘किराये का मकान’, ‘आनन्दवर्द्धनी समिति’ आदि। व्यगात्मक निबन्धों में रस का परिपाक तभी मान्य है, जब वे लक्ष्य किये गए व्यक्तियों में भी आनन्द का संचार कर सकें। हिन्दी में इन निबन्धों की रचना एक प्रयोग के रूप में है, इनमें जिस शैली का अनुसरण किया गया है, उसकी उपयोगिता और सरसता की परीक्षा होनी चाहिए। इनके सम्बन्ध में मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है।

इन निबन्धों में से अनेक निबन्ध आकाशवाणी पर प्रसारित हो चुके हैं, अनेक ‘कल्पना’, ‘राष्ट्रभारती’, ‘सरस्वती’, ‘प्रतिभा’, ‘आज’, ‘भारत’ आदि सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पा चुके हैं। एतदर्थ इन सबके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ।

भिन्न-भिन्न निबन्धों को ‘साहित्य-वार्ता’ के सूत्र में पिरोने का समस्त श्रेय मेरे चिरंजीवी ग्राह्यज श्री विजयकुमार शुक्ल बी० ए० को है। उन्हींके आग्रह से इधर मैं कुछ अधिक लिखने लगा हूँ और ऐसा जान पड़ता है कि वे मुझे विश्राम न लेने देंगे।

यह वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व एस० चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली के हिन्दी-विभाग के सुयोग्य और उत्साही व्यवस्थापक श्री भीमसेन को धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है, ‘साहित्य-वार्ता’ की सुन्दर सजावट के भीतर उन्हींकी कला-रसिकता झलक रही है।

प्रयाग

वसंत पंचमी, सं० २०१२

गिरिजादत्त शुक्ल ‘गिरीश’

क्रम

१	साहित्य-वार्ता	१
२	मेरी साहित्यिक मान्यताएँ	९
३	प्रगतिवाद	१४
४	आधुनिक हिन्दी-काव्य का विद्रोही स्वर	२५
५	श्री हरिऔध	३६
६	गुप्त जी का 'साकेत'	५८
७	श्री सुमित्रानंदन पत	६५
८	'निराला' जी का 'तुलसीदास'	७७
९	यदि मैं 'कामायनी' लिखता	८२
१०	हमारे रचनाकार और आलोचक—१	८९
११	हमारे रचनाकार और आलोचक—२	१००
१२	आचार्य शुक्ल का काव्य-सिद्धान्त	१०८
१३	मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में राधा-कृष्ण	११४
१४	शेक्सपियर का विश्व-संदेश	१२३
१५	किराये का मकान	१२७
१६	विश्व-संस्कृति बनाम भारतीय संस्कृति	१३१
१७	'इन्दुमती'	१३९
१८	अज्ञेय जी का 'नदी के द्वीप'	१४६
१९	हिन्दी-काव्य की प्रतिक्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ	१५१
२०	हिन्दी-उपन्यास में सृजनात्मक सहर्षण	१५७
२१	'दिनकर' जी का 'कुरुक्षेत्र'	१७२
२२	विवेचना की आवश्यकता	१८१
२३	मेरी अप्रकाशित कृति—'तारक-वध' महाकाव्य	१८८
२४	वर्तमान काव्य-भाषा और जन-सम्पर्क	१९३
२५	आनन्द वृद्धिनी समिति	२००
२६	उर्दू—देश-भाषा ही की एक शैली	२०९

एक ::

:: साहित्य-वार्ता

: १ :

हमारे ही देश के नहीं, सम्पूर्ण विश्व के प्रामाणिक लोगो ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि यदि कोई बात निर्विवाद रूप से स्वयंसिद्ध कही जा सकती है तो वह यही है कि श्रीमान् सच्चिदानन्द शर्मा इस युग के अवतार हैं। जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जिसमें उनकी महत्ता स्वीकार न कर ली गई हो, ज्ञान-विज्ञान का ऐसा कोई विभाग नहीं, जिसके वे आचार्य न माने जाते हों। कारण यह है कि शर्मा जी की तर्क-शैली के सामने सभी ने हार मान ली है। इस तर्क-शैली के अनुसार ब्रह्म ही के नहीं, प्रत्येक पक्ष के निराकार और साकार दो रूप होते हैं; उदाहरण के लिए आप्रह किये जाने पर वे कहते हैं—और कहने के साथ मुसकराते भी रहते हैं—“दूर बयो जाते हो, आचार्य उपाधि के लिए विश्वविद्यालय में जो निबन्ध प्रस्तुत किया जाता है उसके भी दो पार्श्व होते हैं; निबन्ध का साकार पार्श्व वह है जो दिखाई पड़ता है और निराकार पार्श्व वह है जो दिखाई नहीं पड़ता। कागज पर निबन्ध लिखकर प्रस्तुत करने को मैं साकारोपासना मानता हूँ, जिसका मैं कायल नहीं। मैं निराकारवादी हूँ, और निराकार निबन्ध ही प्रस्तुत कर सकता हूँ, यदि विश्वविद्यालय मुझे आचार्य नहीं मानता तो मैं उसे साम्प्रदायिक मानने के लिए विवश हूँ।”

श्रीमान् सच्चिदानन्द शर्मा सदैव एक-न-एक अच्छे काम में लगे रहते हैं। उनके साथ एक छोटा-सा दल है, जिसके सभी सदस्य उन्हींके चरण-चिन्हों पर चलते हैं। शर्मा जी अगर राजनीति के अखाड़े में कूदते हैं तो उनके सभी अनुयायी राजनीतिज्ञ बन जाते हैं। अगर वे सन्यास की ओर पाँव बढ़ाते हैं तो उनके भक्तगण पहले से कर्म-योग पर व्याख्यान देने लगते हैं। आज शर्मा जी ने साहित्यकार का चोला धारण किया है तो उनके साथी साहित्य की समस्याओं पर विचार करने लगे हैं। शर्मा जी की एक विशेषता उल्लेख-योग्य है, वे किसी भी क्षेत्र में रहे, किन्तु उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक अथवा राष्ट्रीय न होकर सदा विश्ववादी ही देखने में आता है। उनका वर्तमान उद्देश्य तो बड़ा सराहनीय है, वे संसार को एक महान् समाज के रूप में परिणत करना चाहते हैं और इस

कार्य की सिद्धि के लिए संसार के समस्त साहित्यकारों को एक सूत्र में बाँधना चाहते हैं। वे मेरे बहुत दिनों के परिचित हैं, ऐसी अवस्था में जब मैंने उनका प्रयाग आने का कार्यक्रम पढा तो तार द्वारा उन्हें यह सूचना दिये बिना मैं नहीं रह सका कि वे जब प्रयाग पधारे तो मेरे ही अतिथि होकर रहे। शर्मा जी की स्वीकृति आ जाने पर मुझसे अधिक मेरी धर्मपत्नी ही उत्कण्ठित और उत्साहित हो गई।

शर्मा जी कितनी बार और कितने बजे चाय पीते हैं ? भोजन दोपहर और रात को कितने बजे करते हैं ? उनके दल में कितने आदमी हैं ? धर्मपत्नी के इन प्रश्नों का उत्तर देना जब मेरे लिए आवश्यक हो गया तो क्रमशः परिस्थिति की गम्भीरता भी मेरे सामने चित्रित होने लगी। कैसे कहा जा सकता है कि शर्मा जी कब चाय पियेंगे और कितने व्यक्तियों के साथ पियेंगे, कब भोजन करेंगे और कितने व्यक्तियों के साथ भोजन करेंगे ? मैंने शीघ्र ही समझ लिया कि शर्मा जी के पास तार भेजकर मैंने अपने लिए बड़ी विपत्ति मोल ले ली है। उनके आगमन और निवास के साथ अनिवार्य रूप से लगी रहने वाली समस्त सम्भावनाएँ मेरे सामने भौंति-भौंति की भयजनक बातें प्रस्तुत करने लगी। सबसे भयकर कठिनाई, जो मेरे सामने खड़ी हुई, यह थी कि शर्मा जी के निवास-काल में जब मेरे छोटे-से मकान पर साहित्यकारों का जमघट होने लगेगा तो मैं किस प्रकार पत्रों में प्रकाशनार्थ प्रतिदिन एक लेख लिख सकूँगा और यदि दस दिन भी न लिख पाऊँगा तो क्या मेरा श्रमिक साहित्यकार-जीवन इस विलासिता का भार सहन कर सकेगा ?

शर्मा जी आए और मेरी दुश्चिन्ताएँ कठोर तथ्यों के रूप में प्रकट होने लगी। समाचार-पत्रों ने शर्मा जी के पधारने का विज्ञापन इतनी धूम-धाम के साथ किया कि मेरे मकान में दर्शनार्थियों के मारे तिल रखने के लिए जगह नहीं रह गई। विज्ञापन करने वाली सामग्री में शर्मा जी का एक निबन्ध था जिसमें उन्होंने हिन्दी की नई कविता, नया उपन्यास, नया नाटक, नई समालोचना—सभी को विश्व-साहित्य की विभूति बतलाकर अति यथार्थवाद के अत्यन्त उग्र स्वरूप का समर्थन कर दिया था और यह चेतावनी दी थी कि मनुष्य एक बुद्धिमान् पशु ही होकर सदा रहेगा तथा उसे इस भूमि से उठाकर देवत्व की भूमि पर ले जाने की समस्त आशा और लालसा व्यर्थ होगी। उनके इस लेख को पढ़कर नये साहित्यकार अपने नेता का दर्शन करने तथा बूढ़े साहित्यकार उन्हें कुछ खरी-खौटी सुनाने के लिए एकत्र हुए थे। बूढ़े साहित्यकारों के प्रति मुझे विशेष सहानुभूति हुई और मैंने उनसे पूछा कि आखिर वे शर्मा जी से कितना समय

चाहते हैं और किस विषय पर बातचीत करना चाहते हैं ?

एक साथ पचीसों आवाजे आई, जिनका उद्देश्य अभिव्यञ्जनाविवाद, छाया-विवाद, हृदयवाद, प्रगतिवाद, कलावाद, कल्पनाविवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अतिथार्थवाद आदि के सम्बन्ध में शर्मा जी से विवाद करना था। बूढ़े साहित्यकारों की वह उत्तेजना देखने योग्य थी, उनमें से कितने ही पत्रकार भी थे और शर्मा जी के पूर्व इतिहास से भी परिचित थे, जब वे सन्यास के समर्थक होकर घोर आदर्शवाद का प्रचार कर रहे थे। उनकी यह परेशानी उचित है और उन्हें शर्मा जी से मिलने का अवसर सर्वप्रथम मिलना चाहिए, यह सोचकर मैंने उन्हें धीरज बँधाया और अपने पाँच प्रतिनिधि निर्वाचित कर देने के लिए कहा। मैंने उन्हें यह भी बता दिया कि उपस्थित तो सभी रह सकते हैं, किन्तु बोलने और बहस करने का काम प्रतिनिधि ही कर सकेंगे।

प्रतिनिधि के निर्वाचन में बूढ़े साहित्यकारों को बड़ी दिक्कत हुई, क्योंकि उनमें से हर एक प्रतिनिधि होने के लिए उतावला हो रहा था, किन्तु अन्त में इस भय से कि कहीं विलम्ब करने से कार्य का नाश न हो जाय, जैसे-तैसे निर्वाचन हो गया। उनकी यह कवायद देखकर नये साहित्यकार कभी मुसकुराते, कभी हसते, और कभी तरह-तरह के व्यंगात्मक वाक्यों का प्रयोग करते रहकर शर्मा जी के कृपा-भाजन के रूप में शीघ्र ही उनके सामने पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे अधिकांश में बहुत थोड़ी अवस्था के थे, ससार का बहुत कम अनुभव उन्हें प्राप्त था और शर्मा जी-जैसे विलक्षण व्यक्तित्व की जटिलताओं की कल्पना वे नहीं कर सकते थे। जब वे बूढ़े साहित्यकारों में से किसी को असफल प्रकाशक, किसी को प्रकाशकों का सोल एजेंट, किसी को पुराना पुस्तक-विक्रेता कहकर उनके आदर्शवादी होने के कल्पित कारणों की व्याख्या कर रहे थे, उसी समय मैंने उन्हें चेतावनी दी थी कि आप लोग शर्मा जी के स्वभाव से पूर्णतया परिचित नहीं हैं; यह सम्भव नहीं है कि आप अपने मनोरंजन के लिए जो बातें कह रहे हैं वे शर्मा जी के कानों में न पहुँच रही हो या न पहुँचाई जा रही हो, और, मुझे भय है, उनकी प्रतिक्रिया अच्छी न होगी। वे शान्त हो गए थे और तब तक शान्त बने रहे जब तक निर्वाचन समाप्त नहीं हो गया।

थोड़ी देर तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के लिए उपस्थित लोगों से प्रार्थना करके मैं शर्मा जी के पास अपने मकान के ऊपर वाले कमरे में गया। यह कमरा काफी बड़ा था और इस समय एक महान् व्यक्ति और उसके महान् अनुयायियों को पाकर मानो सोते से जाग पड़ा था। एक लम्बी दरी कमरे भर में बिछी थी, उस पर कई गलीचे थे, जिन्हें धुली सफेद चद्दरो ने ढक रखा था। पाँच-छः

गाव तकिये पड़े थे, जिनमें से एक के सहारे स्वयं श्रीमान् शर्मा जी विराजमान थे । नीचे बैठक में मैं किस प्रकार शान्ति-स्थापन के लिए प्रयत्न कर रहा था, इसी की चर्चा छिड़ी थी । विघ्न डालने के लिए क्षमा माँगकर मैंने कहा, 'अब चार बज रहे हैं, आपकी चाय आ रही है ।'

शर्मा जी—“चाय का आना तो ठीक है, किन्तु आपके नोटिस का क्या हुआ ? मेरी समझ में नोटिस आ जाता और इन लोगों में उसे आप बाँट देते, तब थोड़ी देर के लिए पूर्ण शान्ति स्थापित होने पर हम लोग चाय पीते तो अधिक अच्छा होता ।”

मैं उत्तर देने ही जा रहा था कि इसी बीच जिस लड़के को मैंने प्रेस से नोटिस लाने के लिए भेजा था, वह आ गया । शर्मा जी और उनके मित्रों को नोटिस की एक-एक प्रति देकर शेष मैंने लड़के को दे दिया और उससे कह दिया कि यह नोटिस नीचे के सब लोगों में बाँट दो । लड़का आज्ञा का पालन करने के लिए नीचे चला गया । पाठक यह जानने के लिए उत्कंठित होंगे कि नोटिस में क्या छपा था, इससे उसकी प्रतिलिपि मैं यहाँ दिये देता हूँ—

साहित्य-गोष्ठी

श्रीमान् सच्चिदानन्द शर्मा तथा उनके मित्रों के स्वागतार्थ सरस्वती-मन्दिर कालेज के हाल में आज ७। बजे रात को साहित्य-गोष्ठी की एक बैठक होगी । शर्मा जी वयोवृद्ध साहित्यकारों के पाँच प्रतिनिधियों का शंका-समाधान करेंगे । नये साहित्यकार तथा अन्य साहित्य-प्रेमी सज्जन दर्शक के रूप में उपस्थित रह सकेंगे ।”

साहित्य-गोष्ठी के संयोजक के स्थान पर मेरा नाम छपा था ।

नीचे नोटिस बाँटकर लड़का मेरे पास आया । मैंने उससे पूछा कि लोग जा रहे हैं अथवा नहीं । उसने बताया कि सभी लोग चले जा रहे हैं ।

इसी समय चाय ले आने के लिए नीचे से आवाज आई । लड़का नीचे चला गया और दो-तीन बार में सब सामान ऊपर लाया । ताजी पकौड़ियाँ तथा अन्य कई तरह के सामान तश्तरियों में आ गए ।

चाय-पान से छुट्टी पाकर मैंने शहर-भर में नोटिस बँटवा देने का प्रबन्ध किया ।

: २ :

सरस्वती-मन्दिर कालेज के हॉल में प्रयाग के साहित्य-प्रेमी इतनी बड़ी संख्या में एकत्र हुए कि हाल ठसाठस भर गया । मंच पर वयोवृद्ध साहित्यकारों

के पाँच प्रतिनिधि तथा नगर के बहुत-से प्रतिष्ठित लोग बैठे । शर्मा जी और उनके मित्रों को केन्द्र में स्थान दिया गया । कार्यारम्भ होने पर नगर की अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने उनका स्वागत किया । उसे स्वीकार करते हुए शर्मा जी ने एक संक्षिप्त भाषण किया । उसके बाद साहित्यिक विवाद का विषय उपस्थित हुआ । सभापति महोदय ने कार्य-विधि बताते हुए कहा कि पाँच प्रतिनिधियों में से किसी एक के द्वारा शंका प्रकट हो जाने के अनन्तर शर्मा जी उसका समाधान करेंगे । इसके अनुसार एक प्रतिनिधि ने कहा—“अभी थोड़े ही दिनों पहले शर्मा जी आदर्शवादी थे, आज यथार्थवादी कैसे हो गए ?”

शर्मा जी—“मैं चाहता हूँ कि शेष चार प्रतिनिधि भी अपनी शंकाएं प्रकट कर दें, जिससे मैं सबका एक साथ उत्तर दे सकूँ ।”

सभापति जी ने शर्मा जी के इस प्रस्ताव का समर्थन किया । इसके अनन्तर द्वितीय प्रतिनिधि ने कहा, “कुछ ही दिनों पहले शर्मा जी रस-सिद्धान्त को मानते थे, अब अभिव्यञ्जनावाद के प्रेमी क्यों हो गए ?”

तृतीय प्रतिनिधि ने प्रश्न किया, “पहले मनुष्य के चरित्र-विकास को ही आप कला का उद्देश्य मानते थे, अब आप निरुद्देश्य कला के उपासक क्यों हो गए ?”

चतुर्थ प्रतिनिधि ने पूछा, “पहले आप तुलसीदास के समर्थक थे, अब सूरदास के पृष्ठपोषक क्यों हो गए ?”

पाँचवें प्रतिनिधि ने जिज्ञासा की, “पहले आप प्रकाशवादी थे, अब रहस्य-वादी क्यों हो गए ?”

शर्मा जी पहले बैठे थे, इससे बहुत-से लोगों की दृष्टि उन पर पड़ती थी और बहुतांश की नहीं भी पड़ती थी, किन्तु शंकाओं का समाधान करने के लिए जब वे खड़े हुए तो उनका पूर्ण दर्शन करके सब लोग कृतार्थ हो गए । सिर पर नाइट कैप, बदन पर सूट, नेकटाई, पैरों में पालिश किया हुआ क्रोम लेदर का शू, जिसमें मोजे की झलक मिल जाती थी । जान पड़ता था कि लार्ड माउण्टबेटन लौट आए और पार्लियामेंट में भाषण के लिए खड़े हुए हैं । माइक्रोफोन ठीक करके उनके पास पहुँचा दिया गया और उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ किया—

“आजकल मैं एक प्रवृत्ति सब जगह बढ़ती हुई देख रहा हूँ—वह है साम्प्रदायिकता । संकीर्णता ही का दूसरा नाम साम्प्रदायिकता है । आपको यह जानकारी आश्चर्य होगा कि जो लोग साम्प्रदायिकता से सबसे अधिक चिढ़ते हैं वे ही इस रोगसे सबसे अधिक पीड़ित होते हैं । यह साम्प्रदायिकता जितनी ही जीवन

के क्षेत्र में है उतनी ही साहित्य के क्षेत्र में भी दिखाई पड़ती है। दोनों ही प्रकार की साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए मैं यथार्थवादी बन गया हूँ।

जीवन की साम्प्रदायिकता का एक उदाहरण लीजिए। सोवियट रूस की सरकार आदर्श सरकार कही जाती है। उसके आदर्शवाद से प्रभावित होकर मैं रूस गया, वहाँ मैंने एक महिला से विवाह किया। उससे एक लड़का और एक लड़की—दो सन्तानें हुईं। किन्तु जब मैंने अपने परिवार को भारत लाना चाहा तो यह निषेधाज्ञा हो गई—तुम इन लोगों को रूसी सीमा से बाहर नहीं ले जा सकते। क्या यह साम्प्रदायिकता नहीं है? आज भी विश्ववाद का सच्चा रूप भारत में ही दिखाई पड़ेगा। यहाँ हम सच्चरित्र विधवाओं को भी लाञ्छित करके विधर्मियों के हवाले कर देते हैं, फिर चाहे वह सात समुद्र पार चली जायें अथवा बीच ही में डूब मरे। भारत के इसी विश्ववाद का विश्व-भर में प्रचार करने के लिए मैं यथार्थवादी बना हूँ।

अब साहित्यिक साम्प्रदायिकता का एक दृष्टान्त देता हूँ। सभी लोग जानते हैं कि तुलसीदास जी का 'रामचरित मानस' उच्चकोटि का विश्ववादी काव्य है, किन्तु क्या उसमें सक्तीर्णता नहीं है? क्या उसमें परकीया नायिका की उपेक्षा नहीं है? और यदि है तो क्या यह अन्याय नहीं है? सूरदास से भी तो नहीं बना। उन्होंने तुलसीदास के अन्याय को मिटाने की धुन में केवल परकीया ही का वर्णन किया, स्वकीया से काम ही नहीं रखा। इन दोनों से अच्छे मुझे लगे उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपियन साहित्य के यथार्थवादी और अति यथार्थवादी निर्माता, जिन्होंने स्वकीया और परकीया का भेद-भाव ही मिटा दिया। तुलसीदास ने अपनी कविता में मानव राम को भगवान् बना दिया और दानव रावण को भी साधारण मानव से श्रेष्ठ रूप में अङ्कित किया, यहाँ तक कि वहाँ बन्दर और भालू बड़े-बड़े काम करते दिखाये गए हैं। किन्तु औसत श्रेणी का मनुष्य वहाँ कहाँ है जो तीन चौथाई पशुत्व और एक चौथाई देवत्व के मेल से बनता है? इस दृष्टि से सूरदास तुलसीदास से निस्सन्देह आगे है, क्योंकि उन्होंने मनुष्य के पशु-भाव को बिल्कुल ही मिटा देने का प्रयत्न नहीं किया है। किन्तु सच पूछिए तो मैं उनसे अथवा कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी उनके उत्तराधिकारियों से भी सन्तुष्ट नहीं हूँ। मुझे तो फ्रांस के उन यथार्थवादियों की कृतियों ही से सन्तोष है जिन्होंने मनुष्य को उसके असली पशु रूप में ही चित्रित किया है, उस पर किसी तरह की अप्राकृतिक पालिश या कलई करने की कोशिश नहीं की है। मैं कृत्रिमता को, अप्राकृतिकता को न जीवन में पसन्द करता हूँ और न साहित्य में।''

शर्मा जी के भाषण में इस समय इतनी सरगर्मी आ गई थी कि नये साहित्य-

वारो ने तथा उनकी देखा-देखी अन्य दर्शको ने करतल-ध्वनि करके अपना उत्साह और उल्लास प्रकट किया। बेचारे वयोवृद्ध साहित्यकारो के चेहरो पर हवाईयों उड़ने लगी।

करतल-ध्वनि के बीच में एक मिनट के विराम के बाद शर्माजी ने फिर कहना शुरू किया, “मुझसे पूछा जाता है कि मैंने रस-सिद्धान्त को क्यों त्याग दिया और ‘कला के लिए कला’ सिद्धान्त को क्यों अपना लिया ? इसका उत्तर यह है कि ईसा की बीसवीं शताब्दी में, एटम बम के इस युग में, रस-सिद्धान्त कैसे चल सकता है जब पशु-भाव की इति के बिना उसका अर्थ हो ही नहीं सकता। ऐसी अवस्था में जिन सिद्धान्तों में पशु-भाव के आधुनिक निखरे हुए रूपों के साथ चिपक जाने की प्रवृत्ति और शक्ति है वे रस-सिद्धान्त पर हावी हो जायेंगे। हमें यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि वर्तमान मानव बहुत वेग के साथ वैज्ञानिक पशुता की ओर लौटा आ रहा है, देवत्व की ओर उसकी प्रगति शून्य के बराबर है। रस-सिद्धान्त की हार बड़े अक्षरो में मुझे दीवाल पर लिखी दिखाई पड़ रही है। मैं साफ कह दूँ कि मैं हारने वाले का नहीं जीतने वाले का साथी हूँ। इसीलिए नैतिकता के ठीक विरोध में चलने वाले ‘कला के लिए कला’ सिद्धान्त का मैं समर्थक हो गया हूँ।

अब रहा इन प्रश्नों का उत्तर कि मैं अभिव्यंजनावादी और रहस्यवादी क्यों हूँ, सो जो बात ‘कला के लिए कला’ सिद्धान्त के लिए कही गई है, वही अभिव्यंजनावाद और रहस्यवाद के लिए भी लगानी चाहिए। काल की गति इस समय मनुष्य के हृदय की सचाई को आँकने की ओर नहीं है, वह उसकी अभिव्यक्ति, वाहन और विधान-मात्र को देखकर सन्तुष्ट होने के लिए तैयार है तो जीत अभिव्यंजनावाद ही की होगी। इसी प्रकार जब मनुष्य प्रकाश में रहना ही पसन्द नहीं करता, सीदी-सादी झोपड़ी अथवा घने वृक्षों के नीचे की सुखद छाया में रहना त्याग कर जब वह महलो और पक्की कोठियों के अन्धकार में अपने गूढ़ रहस्यों में मग्न रहना चाहता है तब रहस्यवाद के प्रसार को कौन रोक सकता है ? यदि हम अभिव्यंजनावाद और रहस्यवाद को साहित्य में प्रधानता ग्रहण करने से रोकना चाहे तो पहले जीवन में उनके प्रवेश को रोकें।

अन्त में मैं फिर जोर देकर कहना चाहता हूँ कि वर्तमान और आगामी मनुष्य बुद्ध और ईसा मसीह नहीं होना चाहता, वह पशु का पशु ही बना रहना चाहता है और केवल उस रंग की खोज कर रहा है जिसे लगा देने से वह मनुष्य ही नहीं देवता से भी चमकीला और भड़कीला बन सकता है। उसे शुद्ध सोने की जरूरत नहीं है, गिनी गोलड से ही वह मनोहर आभूषण तैयार कर लेगा। हमारे वयोवृद्ध साहित्यकार साहित्य में नीति, सदाचार, सद्भाव-विकास आदि को लेकर

चलना चाहते हैं, मेरी उनसे पूर्ण सहानुभूति है, किन्तु उनके दिल में रहकर मैं अपनी लोक-प्रियता की हानि नहीं कर सकता ।”

अपना भाषण समाप्त करके शर्मा जी अपने आसन पर बैठ गए ।

इसके अनन्तर मैंने उपस्थित साहित्य-प्रेमियों को धन्यवाद दिया और साहित्य-गोष्ठी का कार्य समाप्त हुआ ।

एक विचित्र बात यह देखने में आई कि वयोवृद्ध साहित्यकार शर्मा जी के भाषण से अधिक असन्तुष्ट नहीं थे और नये साहित्यकार भीतर-ही-भीतर गहरी निराशा का अनुभव कर रहे थे । वे प्रायः यह कहते सुने गए कि यह भाषण कूट-नीतिपूर्ण था । वास्तव में यह कम लोग समझ पाए कि उन्होंने किसका विरोध किया और किसका समर्थन ?

शर्मा जी के विचित्र वक्तृत्व के अध्ययन में मुझे भी रस मिल रहा था, किन्तु मेरे हृदय के किसी कोने में रह-रहकर आवाज आती थी—क्या श्रमिक साहित्यकार के लिए इस प्रकार का मनोरंजन विलासिता नहीं है ?

दो ::

:: मेरी साहित्यिक मान्यताएँ

अपनी साहित्यिक मान्यताओं की चर्चा करने के पहले मेरा यह बताना देना अच्छा होगा कि उनका उद्गम कहां से है—यह इसलिए कि वे मान्यताएँ निरनुश न समझी जायँ ।

मैं मानता हूँ कि हमारे चर्म-चक्षुओं के सामने जो साकार उपस्थित है, उसका प्रस्थान कभी-न-कभी किसी बिन्दु से हुआ, ठीक उसी प्रकार जैसे वृक्ष की जीवन-यात्रा का आरम्भ किसी-न-किसी बीज से हुआ । कुछ दूर और आगे चलकर उक्त बिन्दु की स्थूलता को तिरोहित ही देखने बनता है और क्रमशः वह बिन्दु कपूर की तरह उड़कर आँखों से ओझल हो जाता है । इसी कारण मेरा अनुभव है कि चरम सत्य को उनमें ही अंशों में साकार मानना आवश्यक है, जितने अंशों में उसे निराकार मानना अनिवार्य है । सत्य को केवल साकार अथवा केवल निराकार रूप में ग्रहण करना मेरी समझ में सत्य को अपूर्ण रूप में देखना है । मुझे दोनों का समन्वय ही अपेक्षित है ।

तिरोहित होने के पूर्व उक्त बिन्दु का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होने योग्य रह जाता है, उसीको सिद्धान्त-उद्योतिष में रुद्र अथवा अग्नि-तत्त्व की सजा दी गई है । यहाँ किसी ईश्वर-भावना का आरोप नहीं है । किसी अनादि प्रगति की प्रेरणा से रुद्र का विस्फोट होता है । वही उमें क्रमशः अपने प्रतिक्रियात्मक शिव अथवा जल-तत्त्व की ओर अग्रसर करती है और वही उमें पुनः विस्फोट की ओर ले चलती है ।

प्रगति के इस सिद्धान्त में कभी रुद्र चेतन का तथा शिव जड का प्रतिनिधि बनता है, कभी इसका ठीक उलटा होता है, अर्थात् शिव चेतन का तथा रुद्र जड का प्रतिनिधि बन जाता है । साथ ही ध्यान देने योग्य बात यह है कि रुद्र और शिव की अभिन्नता के कारण जड चेतन की ओर खिंचता है तथा चेतन जड को अपनी ओर खींचता है । इसी कारण प्रगति-सिद्धान्त के उस स्वरूप को मानने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ, जिसमें जड सदैव जड बना रहता है, उसकी प्रगति कभी होती ही नहीं ।

यदि रुद्र को संघर्ष तथा उनके प्रतिक्रियात्मक शिव को शान्ति का प्रतीक मान ले, तो प्रगति के जिस स्वरूप की मैं कल्पना करता हूँ, उसके अनुसार कभी संघर्ष में चेतन-तत्त्व का समावेश हो जाता है और कभी शान्ति को ही वह चेतन-तत्त्व प्राणशक्ति प्रदान कर देता है। निरन्तर संघर्ष, घृणा, द्वेष, अशांति ही में प्रगति का दर्शन करना मुझे प्रिय नहीं, मेरी बुद्धि को स्वीकार नहीं। वह सर्वथा एकांगी है।

कार्ल मार्क्स के जडवादी प्रगतिवाद में भी एक तत्त्व के उदय और एक अन्य तत्त्व के निरन्तर ह्रास की मान्यता है। इस उदित और विजयी तत्त्व को मैं जड़ न मानकर चेतन मानता हूँ। जहाँ जीवित, जीवनोपयोगी सत्य के सूर्य को जीवन-नाशक असत्य का बादल घेर लेता है, वहाँ किरणों के बाण से बादलों के शरीर को छेदना प्रगति है। किन्तु जहाँ सूर्य अतिशय तापी होकर जीवन का शोषण करता है, वहाँ चन्द्रमा की शीतल किरणें ही अपनी मुसकान द्वारा प्रगति का सन्देश प्रदान करती हैं।

इसी समन्वित प्रगति-सिद्धान्त पर मेरी समस्त साहित्यिक मान्यताएँ आधारित हैं। मेरी रचना और आलोचना दोनों ही के मूल इसी विचार-धारा में केन्द्रित हैं।

प्रगति अपने कर-कमलो में निर्मल ज्योति प्रदान करने वाला दीपक लेकर चक्राकार भ्रमण करती है और जब वह सामने आकर खड़ी हो जाती है, तब तो उसे मभी पहचानते हैं, किन्तु उपा की प्रथम हलकी, अस्पष्ट मुसकान की तरह जब वह विश्व के मानस-क्षितिज पर पहले-पहल अवतरित होती है, तब उसे पहचानने और पहचानकर उसका स्वागत करने की क्षमता केवल रचनाकार में होती है। द्वितीया के चन्द्रमा की तरह पवित्र प्रगति की मूर्ति का दर्शन करके रचनाकार गद्-गद् हो जाता है और जिस आनन्द से वह अभिभूत होता है, उसके भार से उन्मुक्त होने के लिए वाणी का अवलंब लेता है, जो कभी प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के रूप में और कभी उपन्यास, नाटक, कहानी आदि के रूप में उसे व्यक्त कर देती है। वाणी का यह प्रयास होता तो है स्वान्तः सुख के लिए ही, उद्देश्य यदि तोते की तरह उस आम्र-मंजरी पर चंचु-प्रहार कर दे, तो उसका सरल, अकृत्रिम सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। किन्तु कवि का स्वान्तःसुख शेष विश्व के स्वान्तःसुख से भिन्न कदापि नहीं हो सकता। हाँ, यदि दोनों में थोड़ा-सा अन्तर हो सकता है, तो यही कि कवि को जो स्वान्तःसुख प्रस्तुत रचना-काल में मिल रहा है, वह शेष विश्व को, जो कवि की तरह प्रतिभा-सम्पन्न नहीं है, कालान्तर में तब मिलेगा, जब वह प्रगति की अनवरत आन्तरिक प्रेरणा से विवश होकर उसकी ओर उन्मुख होगा।

विश्व की यह उन्मुखता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यदि कवि ने अपनी वाणी द्वारा प्रगति का यथार्थ दर्शन नहीं कराया, यदि शेष विश्व को स्वान्तः सुख की प्राप्ति नहीं हो सकी, तो इससे कवि के स्वान्तः सुख की अपूर्णता, सदोपता समझी जायगी। अतएव जहाँ मैं यह मानता हूँ कि कवि की कृति वैयक्तिक होने के कारण निष्प्रयोजन है, वहाँ मैं यह भी मानता हूँ कि विश्व के व्यक्तित्व के साथ कवि के व्यक्तित्व की अभिन्नता होने के कारण वह प्रयोजन-सापेक्ष होने के लिए बाध्य है, या यो कह सकते हैं कि वैसा होना उसकी स्फुटित प्रकृति का एक अनिवार्य अंग है। ऐसी स्थिति में यदि कोई 'कला के लिए कला' सिद्धान्त पर बहुत आग्रह करता है, तो मैं उससे यह नहीं कहता कि तुम गलत रास्ते पर हो, मैं उससे केवल यही कहता हूँ, मेरे प्रिय मित्र, तुम्हारा सिद्धान्त बहुत ठीक है; किन्तु विभिन्न मोहक दिशाओं में भ्रमण करने के अनन्तर जब प्रगति के मुन्दर और समूचे स्वरूप के दर्शन के लिए विश्व तुम्हारी कलात्मक कृति की ओर उन्मुख होगा और उसमें स्वान्तः सुख के स्थान में पुनः भ्रमण ही की प्रेरणा मिलेगी, अमृत की बूँद के स्थान में विष की बूँद ही प्राप्त होगी, तो तुम्हारी रचना का मूल्य कौड़ी के बराबर भी नहीं आँका जायगा।

प्रगति कभी बहिर्मुखी होकर चलती है और कभी अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी होकर वह विश्व की भिन्न इकाइयों के बीच अभेद भावना स्थापित करती है और अन्तर्मुखी होकर उन आन्तरिक मूलों को छिन्न-भिन्न करती है, जिनसे उद्गम प्राप्त करके बाह्य विश्व में व्याप्त वैषम्य स्वरूप धारण करता है। मानव के अनेक स्थूल और सर्व-सुलभ स्थायी भावों को आसक्ति से रिक्त काव्य-भूमि पर उतारकर कभी वह उक्त भिन्नता का अन्त करने में सलग्न होती है और कभी अन्तर्मुखी होकर सर्वत्र एकत्व की, अद्वैत की स्थापना करती हुई साकार, सगुण के परे निराकार और निर्गुण की झाँकी लेने का भी प्रयत्न करती है, यद्यपि उसे विश्वास रहता है कि अपने उस प्रयत्न में उसे कभी सफल नहीं होना है। अव्यक्त, अज्ञात के रहस्य ने मनुष्य का प्रवेश करना उसका सबसे बड़ा पराक्रम है। रहस्योन्मुखता जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है। किन्तु यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि एक-मात्र रहस्योन्मुखता सम्पूर्ण जीवन का संचालन नहीं कर सकती। प्रकृति ने उषा के स्वरूप, प्रभाव आदि को मध्याह्नकालीन सूर्य के स्वरूप और प्रभाव आदि से भिन्न ही निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार रहस्योन्मुखता तथा बहिर्मुखी कर्मण्यता का हमारे जीवन में उसने पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित किया है। इनमें से कोई भी एक अन्य के क्षेत्र पर आक्रमण नहीं कर सकती। इस विचार-धारा के आधार पर एक ओर मैं काव्य की क्रमिक प्रगतियों को झलकाने वाले रस-मत की महत्ता को

स्वीकार करता हूँ, दूसरी ओर रहस्योन्मुख काव्य मे अपेक्षाकृत अधिक सरसता देखता हूँ। रस-सम्प्रदाय के घेरे के भीतर आने वाला काव्य यदि सेव अथवा अमरुद कहा जा सकता है, तो रहस्योन्मुख काव्य को अगूर मानना होगा, जिसमें रस-ही-रस है। मैं दोनों को यथास्थान देखना चाहता हूँ, इसीमें उनकी उपयोगिता है; इसीमें उनका महत्त्व है। मैं रहस्योन्मुख काव्य को रस-परिपाक-विशिष्ट काव्य की अपेक्षा ऊँचा मानता हूँ; किन्तु जिस रहस्यात्मकता में विकृति आ गई हो, वह किमी काम की चीज नहीं। जहाँ रहस्योन्मुखी कविता जीवन ही का निषेध करने में लग जायगी, वही उसकी विकृति पहचान में आ जायगी।

हमारे जीवन में जटिलता की ज्यो-ज्यो वृद्धि हो रही है, त्यों-त्यों हमारे काव्य-गम्बन्धी उपकरण भी कम उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। हमारे समाज की जिन परिस्थितियों में स्थायी भावों को विकसित करने वाले अनुभावों का निर्धारण किया गया था, आज वे ठीक वैसी नहीं हैं, जैसी किसी समय थी। उदाहरण के लिए क्रोध की परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी प्रायः देखने में आता है कि आश्रय की आँखें लाल-लाल नहीं होती, वरन् सारा क्रोध पीकर वह मुस्कराया करता है। आत्म-नियंत्रण करने वाले लोग पहले भी रहे होंगे, किन्तु राजनैतिक कारणों से अब उसका अभ्यास विशेष आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार शृंगार, करुण, उत्साह, भय आदि स्थायी भावों के आलंबन और आश्रय अनुभावों के प्रायः परिवर्तित स्वरूप उपस्थित करते हैं। इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जब तक विशेष अनुसंधान करके उसे आज के जीवन के अनुरूप नहीं बना दिया जाता, तब तक उसकी उपयोगिता दिनो-दिन घटती जायगी। यह भी कहा जा सकता है कि न जाने कितने भाव हैं जो किसी स्थायी भाव के घेरे में आते ही नहीं। मेरी समझ में इतना कह देना ही यथेष्ट नहीं है। यदि हमारे साहित्य-शास्त्र में प्रस्तुत स्थायी भावों में कोई वृद्धि है, अवैज्ञानिकता है, तो उसका ऐसे ढंग से सशोधन होना चाहिए कि उसका सामंजस्य पाश्चात्य जगत् की विचार-धाराओं के साथ हो जाय। मनुष्य की मूल वृत्तियाँ कितनी ही भुलाई जायँ, किन्तु प्रकृति जब तक कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं उपस्थित करती, तब तक उनका नाश असंभव है। चारों ओर घूम-फिरकर अंत में वे फिर अपने ही स्थान पर मिलेगी। ऐसी अवस्था में भले ही युग-प्रभाव हमारी रुचियों को इस सिद्धान्त से दूर खींच ले जाय, मेरा विश्वास है कि सच्चे सहृदयों का मन मधुकर की तरह उसके चारों ओर मँडराता रहेगा।

कला में प्रयोजन, प्रगतिवाद, रहस्यवाद, रस-सिद्धान्त आदि के सम्बन्ध में भी कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। स्वर्गीय प्रसाद जी ने यथार्थवाद के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया था, उससे सहमत होकर मैं भी चाहता हूँ कि समाज में उपे-

क्षित लघु को साहित्य में अधिक अभिव्यक्ति प्रदान की जाय तथा जो समाज-विरोधी तत्त्व प्रकट रूप में अधिक प्रतिष्ठा-प्राप्त है, उनका साहित्य के द्वारा प्रभाव घटाया जाय ।

प्रसाद जी ने यथार्थवाद की इस परिभाषा के द्वारा कार्ल मार्क्स के प्रगतिवाद का गौरव बढ़ाया था । अतिशयताओं से बचकर, मानवीय तत्त्वों की रक्षा करते हुए प्रचारात्मक रूढ़ताओं से दूर रहकर यदि इस विचार-धारा को कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त हो, तो इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य में नवीन शक्ति का संचार हो जाय । किन्तु यथार्थवाद शब्द से जिस अर्थ का बोध आजकल प्रायः होता है, वह यूरोप की, विशेषकर जड़वाद और भोगवाद पर आधारित फ्रास की देन है । उक्त यथार्थवाद के स्वरूप को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए प० रामचन्द्र शुक्ल ने यथार्थवाद शब्द का प्रयोग किया है । मानव की पशु-भावनाओं को खुलकर खेलने का अवसर देने वाला यह यथार्थवाद कभी-कभी प्रगतिवादी तत्त्वों को भी अपनाकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करता है । किन्तु इससे वही परिणाम होता है, जो भाँग के साथ मिठाई खा लेने से होता है । इस सगठन से यथार्थवाद की हानि करने की शक्ति अधिक बढ़ जाती है ।

रचनाकार की साधना का दीपक जलता रहे, इस उद्देश्यसे अपात्र को हतोत्साहित करना तथा पात्र को उसके परिश्रम का फल देना ही मैं सच्चे समालोचक का पवित्र धर्म मानता हूँ । अनासक्ति की प्रखरता और स्नेह की शीतलता ही सच्ची समालोचना की उत्पत्ति कर सकती है । जिस साहित्य में ऐसी समालोचना होती है, वही शक्तिशाली बनता है ।

तीन ::

:: प्रगतिवाद

शैथिल्य और गत्यवरोध से पीड़ित हिन्दी-साहित्य में यूरोपीय प्रगतिवाद के प्रवेश ने प्राण-संचार कर दिया है, इसे वे भी स्वीकार करेंगे जो पाश्चात्य विचार-धाराओं के प्रबल विरोधी हैं। उसने समाज के उपेक्षित, दलित वर्ग के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति उत्पन्न की है, हमें एक नवीन आलोक दिखलाया है, एक नवीन दृष्टिकोण से सम्पन्न किया है। कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, समालोचना आदि साहित्य के समस्त विभागों को उसने प्रभावित किया है। यहाँ यह विचार किया जायगा कि यह प्रगतिवाद सर्वांश में उपयोगी है या इसमें कुछ कसर भी है।

किसी भी वस्तु के सम्यक् गुण-दोष-विवेचन के लिए यह आवश्यक है कि उसके स्वरूप का हम एक साधारण ज्ञान प्राप्त कर लें। कितनी सीमा तक उसकी अनिवार्य आवश्यकता है, कहाँ उसकी सदोषता का श्रीगणेश हो जाता है, इसे हम तभी समझ सकेंगे।

उक्त प्रगतिवाद प्रधान रूप से दो सिद्धान्तों पर आधारित है—(१) द्वन्द्वात्मकता, (२) भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक शैली का प्रकृति के समस्त व्यापारों और रूपों के प्रति यह दृष्टिकोण रहता है कि प्रकृति निरन्तर परिवर्तनशील और प्रगतिमयी है, उसका विकास उसमें अन्तर्निहित विरोधी तत्त्वों के विकास द्वारा ही सम्भव होता है और ये विरोधी तत्त्व प्रकृति की विरोधी शक्तियों के परिणाम-स्वरूप प्रस्तुत होते हैं। रहा भौतिकवाद, सो उसके सम्बन्ध में प्रगतिवादी आचार्यों के विचार सर्वथा स्पष्ट हैं, वे लोक के प्रत्यक्ष कल्याण का विधान चाहते हैं, मानव के लिए सबसे पहले अन्न, वस्त्र, निवास तथा अन्य लौकिक सुविधाओं की व्यवस्था का आग्रह करते हैं। उत्पादन-साधनों का उपयोग वे इस ढंग से चाहते हैं कि शोषित जनता का शोषण सम्भव न रह जाय, अर्जित सम्पत्ति का विषम वितरण न हो तथा उत्पादन-कार्य में नियोजित विभिन्न तत्त्वों में मतभेद न बढ़े।

जहाँ तक द्वन्द्वात्मकता का सम्बन्ध है, उससे किसी का भी मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि द्वन्द्व और संघर्ष ही जीवन है, जहाँ द्वन्द्व का अभाव है, वहाँ जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यदि मतभेद सम्भव है तो वह भौतिकवाद ही

के सम्बन्ध में हो सकता है, क्योंकि जिन लोगो की दृष्टि में यह सापेक्ष जगत् ही सत्य नहीं है और जो निरपेक्ष सत्य को मन और बुद्धि से अतीत घोषित करते नहीं श्कते, उनके गले के नीचे यह बात नहीं उतरेगी कि एक-मात्र यह प्रत्यक्ष जगत् ही सत्य है, इसके अतिरिक्त और सब मिथ्या है। भारतीय दार्शनिको की बात जाने दीजिए, स्वयं यूरोप के अनेक दार्शनिको की—जिनमें हीगेल, पयूरबक आदि का उल्लेख किया जा सकता है—यह विचार-धारा है कि प्रत्यक्ष जगत् हमारी कल्पना की उपज है, कल्पना से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है। जो हो मतभेद की चर्चा में न पड़कर हमें प्रगतिवादी आचार्यों के मत को समझने ही का उद्योग करना चाहिए। कार्ल मार्क्स को अपने लक्ष्य के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है; कल्पनावादियों के मत का सर्वथा तिरस्कार करके वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष जगत् ही मानव के मन के द्वारा प्रतिबिम्बित होकर विचार के विभिन्न रूपों को ग्रहण करता है और विचार की इन आकृतियों से भिन्न आदर्श कोई चीज नहीं है। उनके अनुसार प्रकृति एक सुसम्बद्ध, सुसंगठित पूर्णता है, जिसमें समस्त वस्तुएँ तथा संघटित व्यापार-अन्योन्याश्रित और परस्पर सम्बन्धित हैं। प्रकृति की दूसरी विशेषता वे यह मानते हैं कि वह निरन्तर गतिमयी और परिवर्तनमयी है, जिसमें एक ओर तो किसी वस्तु का उत्थान हो रहा है और दूसरी ओर किसी वस्तु का विघटन और विनाश चल रहा है। विकास के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वह किसी प्राचीन गुणात्मक स्थिति का नवीन गुणात्मक स्थिति में पहुँचना, एक साधारण सीधी अवस्था से एक जटिल, सघन आकार प्राप्त करना मात्र है। वे ब्रह्माण्ड-व्यापी परमात्मा की आवश्यकता को अस्वीकार करके कहते हैं कि विश्व जड़ पदार्थ की प्रगति के नियमों के अनुसार नित्य नवीन रूप में विकसित होता चलता है। उनका कथन है कि यह संसार और इसके समस्त नियम मनुष्य की ज्ञान-शक्ति की सीमा के अन्तर्गत हैं; यह हो सकता है कि अज्ञात बातों की संख्या बहुत बड़ी हो, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि मनुष्य उन्हें ज्ञात न कर सके।

अपनी सुसंगठित विचार-धारा के आधार पर प्रगतिवादी आचार्यों ने मानव की दैनिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। सबसे अधिक उल्लेख-योग्य सफलता उन्हें इस सम्बन्ध में यह मिली है कि उन्होंने मनुष्य की रचनात्मक शक्तियों को अपनी सम्पूर्ण प्रखरता के साथ उद्योगशील, सहयोगपरायण और संगठित होने का अवसर दिया है। इस सिद्धान्त को प्रचलित करके कि जो श्रम नहीं करता उसे भोजन प्राप्त करने का भी अधिकार नहीं है, उन्होंने रचनात्मक और विनाशोन्मुख तत्त्वों की पहचान का बड़ा सुन्दर साधन प्रस्तुत कर दिया है। अर्थात् हमारे समाज में जो श्रम करने वालों का शोषण करके जीविका प्राप्त

करते हैं, स्वयं किसी प्रकार का श्रम नहीं करते, वे ही विनाशोन्मुख हैं और जो शरीर का पसीना बहाकर अपनी रोटी अर्जित करते हैं वे ही रचनात्मक हैं ।

निस्सन्देह मानव की श्रमिक-श्रेणी इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों ~ जिस प्रकार समाज की अन्य शक्तिशालिनी श्रेणियों द्वारा ठगी जाती रही है, उसका अन्त करने वाला बहुत सुन्दर हल उक्त प्रगतिवाद के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है । रचनात्मक श्रम करने वाले श्रमिकों की सरकार बनाने की योजना प्रस्तुत करके प्रगतिवाद ने उन समस्त परश्रमोपजीवी श्रेणियों के मरण का विधान किया है, जो प्रत्येक परिस्थिति में अपने-आपको श्रम से मुक्त रखकर कृत्रिम, विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहती हैं । श्रमिकों के उद्धार के अतिरिक्त उसने युग-युग से पीड़ित नारी की भी मुक्ति का प्रयास किया है, सतीत्व-विषयक नैतिक मानों से उत्पन्न विकृतियों के आधार पर मातृजाति के प्रति वचना का जो जाल बिछाया जाता रहा है, उसे भी उसने विफल बनाने का उद्योग किया है । यदि समाज का स्वरूप वही हो जैसा प्रगतिवादी आचार्यों ने उसे समझा है तो प्रगतिवाद को एक सुन्दर, सुव्यवस्थित तन्त्र, जिसके तर्क सर्वथा उचित ही नहीं, अकाट्य जान पड़ते हैं, मान लेने में हमें कोई कठिनाई न हो । सच बात तो यह है कि कभी-कभी हम इस परिणाम पर पहुँचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि यदि इस प्रकार के किसी तन्त्र की परिचालना न की जायगी तो श्रमिक वर्ग एवं नारी-समाज सदैव स्वार्थी और धूर्त व्यक्तियों एवं वर्गों के शोषण का पात्र बनता रहेगा ।

कर्म के महत्त्व-विषयक सिद्धान्त की घोषणा सहस्रो वर्ष पूर्व 'श्रीमद्भगवद्-गीता' में की गई थी :

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोभसंग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

अर्थात् कर्म के द्वारा ही जनकादि ज्ञानी जन ने भी सिद्धि प्राप्त की । लोक-संग्रह को दृष्टि में रखकर भी तुझे कर्म करना चाहिए ।

इसी सिलसिले में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को सम्बोधित करते हुए फिर कहते हैं :

उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्याम् कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्त्ता स्यादुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

अर्थात् यदि मैं कर्म न करूँ तो समस्त लोक भ्रष्ट हो जायें, वर्णसंकरत्व की वृद्धि हो जाय और मैं प्रजा का हनन करने वाला होऊँ ।

भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी का मर्म यह है कि जो अपने कर्म के सम्बन्ध में प्रमाद करता है, वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट होकर वर्णसंकरत्व को प्राप्त होता है

तथा अन्त में मृत्यु के मुख में पतित होता है ।

प्रकारान्तर से प्रगतिवाद के प्रचारको का भी यही मत है, उनका भी यही कथन है कि कर्महीन, श्रमहीन, विलासी, परोपजीवी को मरना ही होता है ।

किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जहाँ गीता की वाणी पुस्तक के भीतर ही पड़ी रह गई, वहाँ प्रगतिवाद ने समूचे समाज को श्रम-सिद्धान्त द्वारा शासित बनाने की व्यवस्था कार्य रूप में परिणत कर डाली, रूस इतना बड़ा देश इसी सिद्धान्त की छत्रछाया अपना दैनिक जीवन संचालित कर रहा है, श्रमिकों की सरकार ने वहाँ श्रम-विरोधियों का शोषण-प्रयत्न समाप्त कर दिया है ।

रचनात्मक श्रम के आधार पर समाज के रचनात्मक और विनाशोन्मुख तत्त्वों की पहचान सहज ही की जा सकती है, इसकी चर्चा की जा चुकी है । इन विनाशोन्मुख तत्त्वों में से कुछ विशिष्ट तत्त्वों पर विचार करना यहाँ आवश्यक है । हम देखते हैं कि ब्रह्माण्ड-व्यापी परमात्मा के अस्तित्व को प्रगतिवाद ने अस्वीकार किया है, ऐसी अवस्था में उक्त परमात्मा पर आधारित समस्त पूजा-पाठ-सम्बन्धी अनुष्ठान अनुत्पादक श्रम हो जायगा और उसमें सलग्न होने वाले सभी लोग विनाशोन्मुख हो जायेंगे । जो पूजिपति अपने कार्यालय के श्रमिकों के श्रम से सम्पन्न अधिकांश लाभ को अपने अधीन कर लेता है, उसकी गणना भी विनाशोन्मुख तत्त्वों में की जायगी । इसी प्रकार जमींदार, तालुकेदार, राजे-महाराजे आदि, जिन्हें अपनी जीविका के लिए इससे अधिक प्रयत्न कोई नहीं करना पड़ता कि श्रमिक वर्गों के शोषण के नये-नये साधनों का वे आविष्कार करें, विनाशोन्मुख तत्त्वों की श्रेणी में सहज ही चले आते हैं । रिश्वत लेने वाले सरकारी पदाधिकारी, ब्याज का पहाड़ खड़ा करने वाला महाजन, आँख में धूल झोकने वाला व्यापारी—सब-के-सब की गणना विनाशोन्मुख तत्त्वों में की जायगी । यहाँ यह भी कह देने की आवश्यकता है कि रचनात्मक और विनाशोन्मुख तत्त्वों की बीच में प्रगतिवाद ने प्रबल संघर्ष की अनिवार्यता मानी है । प्रकृति के विविध संघटित व्यापारों के परिवर्तनों में वेगमयी आकस्मिकता का निरीक्षण करके प्रगतिवादी आचार्यों ने उसीके आधार पर यह निर्धारित किया है कि सामाजिक क्षेत्र में नवीन गुणात्मक स्थिति उत्पन्न करने के लिए विनाशोन्मुख तत्त्वों के प्रति रचनात्मक तत्त्वों को, श्रमिकों को अनवरत, निष्ठुर और प्रबल संघर्ष करते ही रहना पड़ेगा और यह कार्य तबतक जारी रहेगा जब तक उत्पादन के समस्त साधनों ही पर नहीं, सम्पूर्ण शासन पर श्रमिकों का अधिकार न हो जाय । इस संघर्ष की सफलता के लिए यदि एक ओर रचनात्मक तत्त्वों को असीम त्याग तथा अनन्त और अविचल धैर्य के लिए तैयार रहना पड़ेगा तो दूसरी ओर विनाशोन्मुख तत्त्वों को भी यह समझ लेना होगा कि उन्हें अपने विरोधियों से हृदय को हिला देने

वाला सहृदयता से सर्वथा शून्य, अमानवीय व्यवहार भी प्राप्त हो सकता है। विना-शोन्मुख तत्त्वों को या तो शीघ्र-से-शीघ्र अपनी प्राचीन गुणात्मक स्थिति को भुलाकर नवीन गुणात्मक स्थिति को ग्रहण कर लेना पड़ेगा, श्रम-सिद्धान्त को मान लेना होगा या इस धराधाम से मिट जाना होगा—प्रेम और समझौते में विश्वास न रखने वाले प्रगतिवाद ने उनके लिए उक्त दो मार्गों के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग रखा ही नहीं है।

मैं फिर ये कहना चाहता हूँ कि यदि संसार का स्वरूप ठीक वैसा ही होता जैसा कि प्रगतिवादी आचार्यों ने उसे समझा है तो प्रगतिवाद के इस विधान को पाकर आज हम सन्तोषपूर्वक कह सकते कि चलो, दलितों और पीड़ितों की समस्या हल हो गई, पृथ्वी पर दरिद्रता नाम की कोई चीज अब दिखाई नहीं पड़ेगी, मानवमात्र को सुखी बनाने वाला वैज्ञानिक साधन हमें मिल गया।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले महात्मा बुद्ध ने मानव-मात्र की मानसिक शान्ति के लिए एक अलौकिक प्रकाश की खोज की थी, उसके होते हुए भी आज मानव दीन और दुःखी है, क्योंकि उन्होंने अन्न, वस्त्र, निवास तथा अन्य शारीरिक सुविधाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। तो क्या कार्ल मार्क्स द्वारा आविष्कृत 'प्रगतिवाद' किसी ऐसे युग में भी कार्यकारी हो सकेगा जब अन्न, वस्त्र, निवास आदि की समस्याएँ हल हुई रहेंगी तथा फिर उसी प्रकाश को नये सिरे से खोजने की आवश्यकता पड़ जायगी जिसके लिए राज-पाट तथा सुन्दरी स्त्री—सब कुछ त्याग कर महात्मा बुद्ध वनवासी हुए थे ? थोड़ी देर के लिए यदि यह कल्पना भी कर लें कि प्रगतिवाद-विशिष्ट शासन द्वारा ऐसी विद्याओं का प्रचलन न होने दिया जायगा जो अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का विकास करती हैं, अन्तरात्मा की बुभुक्षा को जगाती हैं, तो भी क्या यह सम्भव है कि इन आज्ञाओं की अवज्ञा करने वाले विद्रोही व्यक्तियों का अवतरण न होगा ? केवल लौकिक सुविधाओं के घेरे में सिमटकर बैठ जाने वाली प्रगति तब क्या वास्तविक प्रगति कही जा सकेगी ? क्षितिज में समुद्र के उस पार अनुपम अरुणिमा के गौरव से मण्डित होकर आने वाली नव-जाग्रत जिज्ञासा-सी कमनीय प्रगतिमयी उषा का स्वागत करने के लिए तब क्या हम खड़े न होंगे ?

सच बात तो यह है कि जीवन-सत्य निरन्तर प्रगतिशील है, यदि आज वह लौकिक सुविधाओं के प्रति आग्रह के रूप में प्रकट होता है तो कभी वह उनके प्रति विरक्ति के रूप में व्यक्त हो सकता है। निस्संदेह आज का युग-सत्य अन्न, वस्त्र, और निवास-व्यवस्था की खोज में है, किन्तु सदैव वह इसी खोज में रत रहेगा, यह नहीं कहा जा सकता। न हम जीवन-सत्य के आज के स्वरूप को अपरिवर्तनीय

अन्तिम स्वरूप कह सकेंगे और न भविष्य में प्रस्तुत होने वाले इससे सर्वथा विपरीत स्वरूप को इसका स्थान न देने के लिए ही दृढ़-प्रतिज्ञ रह सकेंगे। जीवन-सत्य चंचल वायु की तरह, अस्थिर निर्झर की तरह अनन्त प्रवाहमय है, उसे कारागार में डालने उस पर नियंत्रण स्थापित करने की यदि हम चेष्टा करेंगे तो उसकी तो कुछ भी हानि नहीं होगी, स्वयं हम ही विपाद और अवसाद में मग्न होंगे, स्वयं हम ही मृत्यु के मुख में पतित होंगे।

मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ कि हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद के प्रवेश ने उसमें शक्ति का संचार किया है, उसे जीवन की वास्तविकताओं से परिचित कराया है। किन्तु मैं इसका विरोध करता हूँ कि वह अन्तिम, अपरिवर्तनीय, शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार किया जाय। ऐसा करना स्वयं प्रगतिवाद की प्रगति परायणता का नाम-निशान मिटाना होगा।

साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए हितकर जीवन-सत्य को हार्दिकता से आर्द्र बनाकर मनुष्य के सामने प्रस्तुत कर देना है। समाज के लिए केवल युग-सत्य पर्याप्त हो सकता है, किन्तु व्यक्ति को युग-सत्य के साथही साथ वह शाश्वत सत्य भी चाहिए जो उसकी समस्त प्रवृत्तियों को, समस्त जिज्ञासाओं को शान्त कर सकता है। समाज के हित के लिए वाद-विशेष के पक्ष में अपने आपको ले जाकर यदि साहित्य-सेवा करना चाहता है तो उस व्यक्ति की पीड़ा को भी तो उसे व्यक्त करना पड़ेगा जो संयोग से उक्त वाद की चक्की में अनायास ही पिस जाता है। प्रगतिवाद ने व्यक्ति को समाज का अंग माना है, इस पर तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु उसने इतना ही नहीं किया है, उसने व्यक्ति की सत्ता ही मिटा दी है। विचारणीय यह है कि लौकिक अभावों की अनुभूति से मुक्त होकर यदि कोई व्यक्ति वर्तमान युग में भी महात्मा बुद्ध की अंतरात्मा-गत भूख से व्याकुल होता है तो क्या प्रगतिवादी तत्र के शासन में उसका जीवित रहना अभिशाप-स्वरूप माना जायगा ?

जो हो, शासन भले ही उक्त व्यक्ति की अवहेलना कर दे, किन्तु साहित्य उसकी अवहेलना करके स्वयं अपने जीवन की सार्थकता से वंचित हो जायगा। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि समाज के अभावों और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य-क्रम और कार्य-नीति में संशोधन करे, किन्तु यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि वह लौकिक सुख-साधन की सीमाओं से आगे अपने को न ले जाय। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर लगने वाले प्रतिबन्धों के प्रति अपना विरोधी स्वर ऊँचा करना साहित्य का धर्म है, अपने इस धर्म का पालन करके साहित्य मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सामञ्जस्य

उपस्थित करता चलता है तथा जब सामाजिक स्वीकृति-जन्य शक्ति से सम्पन्न होकर शासन-पद्धति व्यक्ति पर अत्याचार करने के लिए सन्नद्ध होती है तब वह व्यक्ति के अधिकार की घोषणा करके जीवन-प्रवाह को स्वस्थ प्रगति प्रदान किया करता है। साहित्य के धर्म-पालन की इस प्रक्रिया में कभी बाधा नहीं खड़ी की जानी चाहिए।

अन्ततोगत्वा साहित्य का उद्देश्य क्या है ? क्या विषयी राजाओं अथवा कुरुचि-पीडित समाज का मनोरंजन-साधन ही उसका परम लक्ष्य है ? नहीं, यह तो साहित्य के उपयोग का विकृत स्वरूप है। तो फिर क्या किसी आन्दोलन का, किसी विचार-धारा का प्रचार करना साहित्य का कर्तव्य है ? किसी हद तक औचित्यपूर्वक इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' कहा जा सकता है। 'किसी हद तक'— इन शब्दों का प्रयोग मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ। कारण यह है कि जीवन-समुद्र में कोई भी आन्दोलन, कोई भी विचार-प्रवाह, जो सामयिक परिस्थितियों के वातावरण में जन्म लेता है, किसी प्रकार भी शाश्वत सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। और, युग-सत्य को शाश्वत सत्य के सिंहासन पर आसीन करना उतना ही भयावह है जितना शाश्वत सत्य की आराधना में रत होकर युग सत्य की उपेक्षा करना। स्पष्ट है कि दोनों के कार्य-क्षेत्र और प्रभाव-क्षेत्र का ठीक तौर से निरीक्षण करके उन्हें समन्वित रूप में उपस्थित करना ही साहित्य का परम साध्य है।

अब यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि प्रगतिवाद हमारे सामने युग-सत्य के रूप में उपस्थित किया गया है अथवा शाश्वत सत्य के रूप में ? इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जो लोग प्रगतिवाद को युग-सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं वे भ्रम में हैं, उनके विघाताओं ने वास्तव में उसे चिरन्तन सत्य का स्थान लेने के लिए ही प्रवर्तित किया है। मानव की भूख की समस्या, समाज में आदरणीय स्थान पाने की उसकी कामना चिरन्तन है, अतएव जिस साधन के द्वारा भूख का सफलतापूर्वक निवारण हो एव श्रमिक को उचित प्रतिष्ठा प्राप्त हो, उसका शोषण समाप्त हो, वह चिरन्तन सत्य का प्रतिनिधि क्यों न माना जाय ? यह तर्क सर्वथा समीचीन है।

बौद्ध धर्म मानव की शान्ति की समस्या को हल करने के लिए अवतीर्ण हुआ था। उसने कुछ दूर तक अपने कार्य में सफलता भी पाई। मनुष्य को शान्ति चाहिए और निस्सन्देह उसके सामने शान्ति का प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, किन्तु आज प्रगतिवाद के वातावरण में क्या शान्ति के खोजियों से हम यह न कह दें कि महाराज, भूख की ज्वाला जब तक न बुझ जायगी तब तक न

शान्ति की खोज अच्छी लगेगी और न अहिंसा की भावना ही टिक सकेगी ।

मच बात तो यह है कि आध्यात्मिक प्रक्रियाओं द्वारा मिलने वाली मन की शान्ति तथा लौकिक सुख-सुविधाओं की व्यवस्था से प्राप्त होने वाली शान्ति एक दूसरे की पूरक-मात्र है, इन दोनों में से कोई भी आत्म-निर्भर नहीं है । यात्रा के श्रम से विकल होकर यात्री क्लान्ति-निवारण के लिए किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाता है, जिस समय वह बैठता है उस समय वृक्ष का उपयोग उसे सर्वोपरि रहता है किन्तु थोड़ी ही देर में शक्ति-संचय करके वह फिर यात्रा आरम्भ कर देता है । महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचारित ज्ञान किसी समय इसी प्रकार का एक पड़ाव था और वर्तमान युग में मार्क्स और एंगिल्स द्वारा प्रतिष्ठापित प्रगतिवाद भी इसी प्रकार के एक पड़ाव के रूप में लिया जाना चाहिए, पूर्ण सत्य का प्रतिनिधित्व न बौद्ध धर्म ने किया और न आज के प्रगतिवाद में यह शक्ति है कि वह उसे सम्पादित कर सके । हमारे साहित्य का यह धर्म है कि प्रगतिवाद से मिलने वाली सम्पूर्ण शक्ति को वह ले ले, किन्तु उसकी अपूर्णता को पूर्णता के रूप में घोषित करने का प्रमाद न करे ।

खण्ड जीवन-सत्य के सेवन से, अर्थ और काम की उचित उपलब्धि से, साधारण तृप्ति का अनुभव करके मानव यदि उसे ही सत्य का सार्वभौम और सर्वकालीन स्वरूप मान भी लेना चाहे तो यह संभव नहीं है कि उसकी यह मान्यता अजर और अमर बनी रह जाय । कालान्तर में उसके अतृप्त अंतरतम से एक पुकार उठेगी और उसकी संवेदनशीलता, चिन्तनशीलता को कारागार से मुक्त एवं नव उद्दीपन-प्रेरित बनाकर उसे उस व्यापक सत्य की खोज करने के लिए उत्साहित करेगी जो अगणित खंडों में विभक्त नहीं है, जो भूत, वर्तमान और भविष्य के बन्धनों से मुक्त है, जिसमें एक ओर तो व्यक्तित्व का विस्फोट होता है और दूसरी ओर उसी विस्फोट की पुनर्वात सम्पन्नता के उद्देश्य से प्रत्येक अभिव्यक्ति का विलय भी अनिवार्यता प्राप्त करता है । पूर्ण सत्य की स्मृति बनाये रखकर यदि हम अपूर्ण, प्रतिक्रियात्मक खण्ड-सत्यों की उपासना में लगेगे तब तो कोई क्षति नहीं होगी, किन्तु यदि घर की याद को भुलाकर राही पड़ाव ही में रह गया तो आगे चलने की प्रेरणा देने वाली शक्ति का ही लोप हो जायगा, जिसके कारण विशेष हानि होना निश्चित है ।

बौद्ध धर्म के रूप में व्यक्त होने वाले विद्रोह के पूर्व, तथा उस विद्रोह को औचित्य और सार्थकता प्रदान करने वाली वैदिक धर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्डानु-मोदित अतिशय, अमर्यादित हिंसा-प्रवृत्ति की वृद्धि के भी पूर्व भारतीय वाङ्मय ने पूर्ण सत्य और खण्ड सत्य के मध्य में सामंजस्य उपस्थित करके उसीके द्वारा

अनुशासित जीवन-विधान प्रस्तुत किया था। एकांगी प्रवृत्तियों के विकास ने उसे जिस प्रकार शक्तिहीन बनाया, उसके लम्बे इतिहास की चर्चा में न प्रविष्ट होकर इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि उसकी रक्षा के प्रति प्रबलतम आग्रह तुलसीदास कृत रामचरित मानस में सुरक्षित है। सूरदास की वाणी में भी उक्त समन्वित सत्य को आश्रय मिला है, किन्तु आगे रीति काल में केवल स्वल्पप्राण खण्ड-सत्य ही हमारे हाथ में रह गये हैं। रहा आधुनिक काल, सो उसकी तो बात ही निराली है। भारत द्वारा आविष्कृत समन्वित सत्य के ज्ञान में सर्वथा अप्रभावित रहकर हमने अपने रिक्त मानस-घट को औरो के साधना-जल से ही भरकर संतुष्ट हो जाने का निश्चय कर लिया है। यूरोपीय प्रगतिवाद की विचार-धारा के आकर्षण में पड़कर हमने भारतीय प्रगतिवाद के प्रकृत स्वरूप को भुला दिया है—वह स्वरूप, जिसमें समस्त पक्षों, समस्त वादों का समन्वय विद्यमान है, जिसमें एक ओर बौद्ध धर्म की अहिंसा विद्यमान है तो दूसरी ओर यूरोपीय प्रगतिवाद की रचनात्मक हिंसा का भी बहिष्कार नहीं है। यह परिस्थिति चिन्ताजनक है।

जो हो, हिन्दी के साहित्यकारों को अपने समस्त विवेक की सहायता से एक निर्णय कर लेना है—वे यूरोपीय प्रगतिवाद को साहित्य की शक्ति-वृद्धि के एक साधन के रूप में ग्रहण करेंगे अथवा उक्त प्रगतिवाद के प्रचारार्थ साहित्य को एक माध्यम बनायेंगे ? मैं उन्हें सावधान कर देना चाहता हूँ कि अपूर्ण सत्य की आराधना में लगने वाला साहित्य स्वयं ही अपूर्ण और शक्तिहीन हो जायगा। इसके अतिरिक्त ऐसे साहित्य से पाठकों पर जो प्रभाव पड़ेगा और उनमें जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न होगी उनसे भी समाज की हानि तो अवश्य ही हो जायगी। उदाहरण के लिए रचनात्मक तत्त्व और ब्राह्मण को विनाशोन्मुख तत्त्व का प्रतिनिधि मानकर ब्राह्मण के मुख में चमार के द्वारा हड्डी ठूँसी जाने के कार्य-सम्पादन से रचनात्मक तत्त्व का उत्थान-क्रम तथा विनाशोन्मुख तत्त्व का मरण और भी कम देखने में आ रहा है, इन दोनों ही के स्थान में वास्तविकता, जो सामने उपस्थित हो रही है, यह है कि ग्रामीण जीवन की एकता नष्ट हो रही है और जिस हार्दिकता से दोनों ही का सहयोग निरन्तर चलता आ रहा था उसकी समाप्ति हो रही है। जिस देश का सामाजिक संगठन अहिंसा और हिंसा के समन्वय पर आधारित रहा है और जहाँ मानव के मानसिक धरातल पर अनेक प्रेममूलक विचार-धाराओं की तहे जमती रही हैं वहाँ के निवासियों को एकाएक हिंसा का पाठ पढ़ाना सकट से शून्य नहीं है। ऐसी अवस्था में हिन्दी के साहित्यकारों से मेरा अनुरोध है कि बहुत सतर्कता के साथ वे यूरोपीय प्रगतिवाद के सिद्धान्तों का प्रयोग भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में करें, यथा-शक्ति भारतीय प्रगतिवाद के सिद्धान्तों के साथ उन्हें समन्वित कर ले तथा भारतीय

विचार-धारा का सर्वथा तिरस्कार करके उन्हें, आवश्यक सामंजस्य के बिना स्वीकार न करे ।

अन्त में यूरोपीय प्रगतिवाद के प्रति मैं अपनी फिर श्रद्धा प्रकट करता हूँ, किन्तु साथ ही यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं उसे पूर्ण रूप से निर्दोष नहीं मानता और न यही छिपाना चाहता हूँ कि मैं भारतीय प्रगतिवाद को अधिक रचनात्मक, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक सजीवनप्रद और पूर्ण सत्य के अधिक निकट मानता हूँ ।

चार ::

:: आधुनिक हिन्दी-काव्य का विद्रोही स्वर

स्वर्गीय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी की जो काव्य-परम्परा प्राप्त हुई थी, उसमें लोक-हितैषिणा का सजीवनप्रद संस्पर्श प्रदान करके उन्होंने उसे एक नवीन दिशा में प्रेरित कर दिया। इस प्रेरणा ने जो गति प्रदान की, उसके परिणाम-स्वरूप आधुनिक हिन्दी काव्य एक विद्रोही स्वर लेकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रा-नन्दन पंत, श्री निराला, श्री दिनकर आदि कवियों ने खड़ी बोली में परिपाटी-विहित भाव-धारा के प्रति विद्रोहमूलक काव्य की रचना की और इनमें से अनेक का रचना-कार्य अभी चल रहा है। प्रकृत विद्रोह सदैव निर्जीव में जीवन-संचार करने वाला होता है। यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उक्त विद्रोह में कितनी शक्ति रही है और उससे हमारा कितनी मात्रा में निर्माण सम्भव है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा रचित 'प्रिय-प्रवास' ने हिन्दी के जडीभूत काव्य-जगत् में विद्रोह का विगुल बजाया। रीति-कालीन काव्य में श्रीकृष्ण और राधा का प्रतीक के रूप में, जिस प्रकार का उपयोग नायिका-भेद की बारीकियों को समझाने के लिए किया गया था, उसके प्रति 'प्रिय-प्रवास' ने हमारे सामने श्रीकृष्ण को एक महापुरुष के रूप में तथा राधा को विरह की आग में तपकर, प्रकृति के सम्पर्क में एक विलक्षण विकास से सम्पन्न होकर समाज की सेविका बन जाने वाली, अखिल विश्व में प्रियतम का दर्शन करके सहज ही परोक्ष सत्ता की अनुभूति प्राप्त करने वाली देवी के रूप में उपस्थित किया। 'प्रिय-प्रवास' से पूर्व के कवियों ने राधा और कृष्ण के चाहे-जैसे चित्र अंकित किये हों, उन्होंने राधा और कृष्ण के अनन्त विरह के आधार-रूप में आध्यात्मिक व्यवधान ही की कल्पना की थी। 'प्रिय-प्रवास' ने इस माध्यमिक व्यवधान को भी हटाकर राजनीतिक व्यवधान से उसकी पूर्ति करने का प्रयत्न किया। विद्यापति, सूरदास, बिहारी तथा अन्य कवियों ने श्रीकृष्ण और राधा के साधनापरक अथवा शृंगारिक चित्रण ही हमारे सामने रखे थे, 'प्रिय-प्रवास' ने लोक-संग्रह को विशेष महत्त्व दिया और शृंगार में भी केवल विप्रलम्भ शृंगार को ग्रहण किया। मानव, प्रकृति और परोक्ष सत्ता तीनों ही के प्रति हमारी जो भावना बहुत समय से चली आ रही थी, उसके प्रति विद्रोह करके 'प्रिय-प्रवास' ने हमारे सामने सौंदर्य की जो एक नवीन भाँकी प्रस्तुत की, उसने हमारे हृदय को उल्लास

से भर दिया। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी उपाध्याय जी ने परम्परा से चली आती हुई मर्यादाओं का बन्धन स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सारा-का-सारा काव्य संस्कृत के वृत्तों में लिखने का साहस किया। इसके अतिरिक्त तुक की नकेल से छुटकारा पाकर 'प्रिय-प्रवास' को उन्होंने आदि से अन्त तक अन्त्यानुप्रासहीन पक्तियों से विभूषित किया। इस मार्ग-प्रदर्शन के लिए हिन्दी काव्य-जगत् सदैव उपाध्याय जी को स्मरण रखेगा।

ब्राह्म मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दी काव्यगत अनेक मान्यताओं का विरोध करके उक्त विद्रोह-भावना को बल प्रदान किया है। उदाहरण के लिए रामायण की कथा में कैकेयी को ले लीजिए। गोस्वामी तुलसीदास ने मथुरा का और उसका बलिदान करके अपनी कथा को प्रगति प्रदान की थी। उन्होंने लिखा है :

नाम मन्थरा मन्द मति, चेरि कैकेयी केरि।

अग्रश पिटारि ताहि करि, गयो गिरा मति फेरि ॥

स्पष्ट है कि मन्थरा पहले वैसी नहीं थी, जैसी अचानक राम-राज्याभिषेक के अवसर पर हो गई। देवताओं ने इस उद्देश्य से कि श्री रामचन्द्र राज्याधिपति होने के स्थान में लोक-कल्याण-सम्बन्धी अन्य कार्यों में लगे, शारदा को प्रेरणा दी कि वे किसी प्रकार मतिभ्रष्टता उत्पन्न करके विघ्न उपस्थित करें।

सुनि सुर विनय ठाढ़ि पछिताती।

भयउ सरोज विपिन हिमराती ॥

आगिल काज विचारि बहोरी।

करिहं चाह कुशल कवि मोरी ॥

हृषि हृदय वशरथपुर आयी।

जनु ग्रह-दशा दुसह दुखदायी ॥

किसी भयानक रोग के उदय होने पर अथवा ग्रह-दशा के आने पर मनुष्य में आकस्मिक विकृति का आना असम्भव नहीं है। शारदा ने मथुरा में विकृति उत्पन्न की और मन्थरा ने शारदा के पूर्ण सहयोग से कैकेयी में। इन दोनों व्यक्तियों का बलिदान करने के अनन्तर तुलसीदास जी का मार्ग सुगम हो गया। काल, कर्म और विधि का सहारा लेकर उन्होंने कैकेयी को चित्रकूट में मुक्त तो किया, किन्तु उसे कोई प्रगति नहीं दी। चित्रकूट में राम-कैकेयी के मिलन-अवसर पर उन्होंने कहा है :

प्रथम राम भेंटी कैकेयी।

सरल स्वभाव भक्तिमति भेयी ॥

पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी।

काल, कर्म, विधि सिर धरि खोरी ॥

. प्रगति देना सम्भव भी कहाँ था ! नीव ही ऐसी भयानक डाल दी गई थी कि लंकाकाण्ड की समस्त कथा के समाप्त होने के पूर्व सुधार हो ही नहीं सकता था । तुलसीदास ने अपनी कथा में कैकेयी के प्रमाद को ऐसा स्वरूप दे दिया, जैसे वह उसकी क्षणिक अथवा स्वल्पकालिक भूल न होकर, साधना की उपज हो ।

तुलसीदास जी ने अपनी रचना के लिए जिस प्रकार का आधार निर्मित किया है, वह अत्यन्त सुदृढ़ है और यदि उन्होंने कैकेयी के व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं उपस्थित किया, तो उसे दोष-दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए । किन्तु, यदि इस युग का कवि भी तुलसीदास जी के ही साधनों का उपयोग करे और अपने को वही खड़ा रखे, जहाँ तुलसीदास जी थे, तो यह असदिग्ध रूप से कहना पड़ेगा कि उसमें सौंदर्य-निर्माण करने की शक्ति नहीं है । सतोष की बात है कि कैकेयी को गतिशून्य रखने की नीति के प्रति गुप्त जी के कवि ने विद्रोह किया ।

गुप्त जी ने कैकेयी की जो परिस्थिति हमारे सामने रखी है, वह वास्तव में सर्वथा सगत है । मनुष्य प्रमाद करता है, किन्तु उसके कुपरिणामों से विचलित होकर अनुताप भी करता है और अपना मार्ग बदलने के लिए तैयार होता है । पुत्र के प्रति आसक्ति-भाव से प्रेरित होकर कैकेयी ने राम के वन-गमन और भरत के राज्यारोहण की माँग की, किन्तु परिणाम ऐसा हुआ, जिसकी उसने कभी आशका नहीं की थी । उसे विधवा होना पड़ा, साथ ही पुत्र ने स्वयं उसी के प्रति विद्रोह किया । इस अवस्था में उसके हृदय में अनुताप का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है । वह कहती है :

थूके मुझ पर त्रँलोक्य, भले ही थूके !
जो कोई, जो कह सके, कहे, क्यों चूके !
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे !
रे राम ! दुहाई करूँ और क्या तुझसे ?
हा ! लाल ! उसे भी आज गमाया मेने !
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मेने !
श्रीखंड आज अगार चण्ड है मेरा !
तो इससे बढ़कर कौन दंड है मेरा ?

यह कहकर कैकेयी ने राम के सामने अयोध्या वापिस चलने लिए जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह वास्तव में अकाट्य है । वह कहती है :

ले कर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मेने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा !
घर चलो, इसीके लिए न रूठो अब यो !

मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे !

मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे !

कैकेयी की ये उक्तियाँ इतनी सरल, स्वाभाविक और मर्मोद्घाटिनी हैं कि यह असम्भव जान पड़ने लगता है कि चित्रकूट आने पर उसने अपना अनुताप इस तरह न व्यक्त किया होगा ।

आधुनिक हिन्दी-काव्य के विद्रोही स्वर में प्रसाद जी ने भी अपना स्वर मिलाया है । उनका विद्रोह प्रधान रूप से महाकाव्य-विषयक प्रचलित आदर्शों और धारणाओं के विरुद्ध खड़ा हुआ है । 'कामायनी' में सबसे पहली बात, जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, यह है कि उसका नायक मनु उदात्त न होकर अत्यन्त अस्थिर-चित्त और अपने वासनामय चित्र में लीन है । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है प्रसाद जी ने 'कामायनी' के द्वारा राम और कृष्ण-विषयक काव्य-परम्परा के जाल में जकड़ी हुई हिन्दी-कविता का उद्धार करके उसे विस्तृत भूमि प्रदान की तथा उन्मुक्त आकाश के दर्शन कराये । तीसरी उल्लेख-योग्य बात यह है कि साकारोपासना के सीमित क्षेत्र से ईश्वर-भावना को उन्होंने अनन्त प्रवाहमय सत्य की ओर उन्मुख करके पूछा :

विश्वदेव, सविता या पूषा

सोम, मरुत, चचल पवमान ।

वरुण आदि सब घूम रहे हैं

किसके शासन में अम्लान ?

महा नील इस परम व्योम में

अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ।

गृह, नक्षत्र और विद्युत्-कण

किसका करते-से सधान ?

'कामायनी' की एक विलक्षणता यह भी है कि उसमें स्त्री पात्र श्रद्धा के हाथ में ज्ञान का दीपक है, जो भारतीय महाकाव्यों की प्रचलित परिपाटी के विरुद्ध है । भारतीय महाकवियों ने पुरुष को ब्रह्म का और नारी को माया का प्रतिनिधि मानकर स्त्री को भ्रान्ति की अवस्था में ही चित्रित किया है । तुलसीदास जी ने तो नारी की बहुत सीमित योग्यता की घोषणा की है । उनके अतिरिक्त प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' में राधा का तथा बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में उर्मिला का जो चित्र अंकित किया है, उसमें भी हमें नारी की व्याकुलता ही के दर्शन होते हैं । मनु के चंचल मन का प्रतिनिधित्व करने पर अपने नाम के अनुरूप श्रद्धा को ही जीवन का अमृत-पात्र हाथ में लेना पड़ा । यहां कवि की कुछ विवशता भी दिखाई

पड़ती है, किन्तु अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि कवि ने एक नवीन तथ्य के उद्घाटन के लिए, नारी की वास्तविक शक्ति के प्रदर्शन के लिए ही महाकाव्य के निमित्त इस प्रकार की वस्तु का निर्माण किया है। भारतीय महाकाव्यों में जिस ब्रह्म का प्रतिनिधित्व उदात्त, मर्यादा-प्रचारक, अनाचार-विरोधी नायक करते दिखाये जाते हैं, उसमें असत् और सत्, केन्द्रापसारिणी तथा केन्द्रानुसारिणी, दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियों का निवास माना जाता है। केन्द्रानुसारिणी प्रवृत्ति अधिक ध्वंसात्मक और केन्द्रानुसारिणी प्रवृत्ति अधिक रचनात्मक मानी जाती है। महाकाव्यों की उदात्त नायक-गत कल्पना इसी सत्य पर आधारित है कि उक्त नायक ध्वंसात्मक एवं रचनात्मक आदर्शों का एक मनोहर समन्वय हमारे सामने प्रस्तुत करता है। यह कार्य यदि पुरुष कर सकता है, तो नारी इसे और भी अधिक सौंदर्य के साथ सम्पन्न कर सकती है। श्रद्धा ने परिचय के प्रारम्भ-काल से ही मनु को जिस प्रकार प्रोत्साहन दिया है, उसके प्रमादों को क्षमा किया है, उसे ठीक मार्ग दिखाया है, उससे स्पष्ट होता है कि श्रद्धा-भाव-समन्वित श्रद्धा-जैसी नारी पुरुष का नेतृत्व करने में सर्वथा समर्थ है एक बात और वर्तमान युग शायद ऐसी परिस्थिति को पहुँच गया है या पहुँचने वाला ही है, जब कि नारी का नेतृत्व ही हमारे लिए श्रेयस्कर होगा, यही नहीं, नारी ही हमारी समस्याओं को हल कर सकेगी, हमारे धावों का उपचार करने में समर्थ होगी किन्तु निश्चित रूप से इडा-जैसी नारी द्वारा यह कार्य सम्पादित नहीं हो सकेगी, क्योंकि वह तो भटकने वाले पुरुष को और भी भटकायगी। वर्तमान समय में अपने जीवन के एक-एक पग पर हम नारी को इडा का स्वरूप देते जा रहे हैं और हमें आनन्द से बहुत दूर उलझनों की जाली में फँसाती जा रही हैं। 'कामायनी' महाकाव्य वर्तमान विश्व-समाज की इस कुप्रवृत्ति के प्रति एक प्रबल विद्रोह की घोषणा करता है। उसका संशय-रहित आग्रह यह है कि यदि हम अपने लिए नारी का नेतृत्व आवश्यक समझते हैं, तो वह नारी इडा नहीं होगी, वह नारी श्रद्धा होगी।

मनु उदात्त नायक नहीं है, बात केवल इतनी ही नहीं है, वास्तव में वह अपनी ही लालसा और अपने ही अधिकार की पूर्ति के लिए उन्मत्त दानव-सा हो गया है। यदि मनु की आड़ लेकर प्रसाद जी ने आज के मानव का यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया है, तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किन कारणों से उनके प्रति उनके हृदय में इतनी अश्रद्धा हो गई है, इतना अविश्वास हो गया है? जो हो, निस्संदेह वर्तमान युग की सभ्यता के विरुद्ध 'कामायनी' ने जैसा प्रखर विद्रोही भाव व्यक्त किया है, वैसा हिन्दी के अन्य किसी आधुनिक काव्य में दिखाई नहीं पड़ता।

असयत व्यक्तिवाद की परिस्थिति में डालकर कवि ने मनु से कहलाया है :

बाधा नियमों की न पास मैं अब आने दो
इस हताश जीवन में क्षण सुख मिल जाने दो
राष्ट्र-स्वामिनी यह लो सब-कुछ वैभव अपना,
केवल तुमको सब उपाय से कह लूँ अपना ।
मैं शासक, मैं चिर स्वतन्त्र तुम पर भी मेरा
हो अधिकार असौम्य, सफल हो जीवन मेरा ।
छिन्न-भिन्न अन्यथा हुई जाती है पल में
सकल व्यवस्था अभी जाय डूबती अतल में ।
देख रहा हूँ वसुधा का अति भय से कम्पन
और सुन रहा हूँ नभ का निर्मम क्रन्दन;
किन्तु आज तुम बन्दी हो मेरी बाहों में ।

बुद्धिवादी मनुष्य का प्रतिनिधित्व करते हुए मनु अपने उपकारों की सूची प्रस्तुत करते हैं :

...तो सुन लो कहता हूँ अब :
तुम्हें तृप्त कर सुख का साधन सकल बताये,
मैंने ही श्रमभाग किया फिर वर्ग बनाये ।
आज न पशु है हम या गूंगे काननचारी,
यह उपकृति क्या भूल गए तुम आज हमारी ।

बुद्धि-व्यवसाय पर आश्रित सभ्यता का पक्ष प्रस्तुत करने के अनन्तर मनु के विरुद्ध विद्रोह करने वाले प्रजाजनों की वाणी में कवि ने अपनी विद्रोहात्मक बात कही है :

देखो, पाप पुकार उठा अपने ही मुख से,
तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला
लोभ सिखाकर इस विचार संकट में डाला ।
हम संवेदनशील हो चले यहाँ मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख ।
प्रकृत शक्ति तुमने मन्त्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर भीनी ।

स्पष्ट है कि प्रसाद जी यत्रवाद के विरोधी हैं और बुद्धिवाद को मानव की प्रकृत आनन्दानुभूति में बाधक समझते हैं ।

हिन्दी-काव्य-जगत् में श्री सुमित्रानन्दन पंत का अवतरण मानो असुन्दरता

और अप्रगतिशीलता के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहने के लिए ही हुआ है। वे अपूर्व शब्द-शिल्पी हैं और शब्दों के भीतर प्रवेश करके उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परख लेने वाली विचित्र दृष्टि उन्हें प्राप्त है। इसी प्रकार प्रगति-तत्त्व के भी वे कुशल पहचानने वाले हैं और जिन आदर्शों ने अपनी जीवनी-शक्ति गँवा दी है, वे उन्हें अधिक समय तक धोखे में नहीं डाले रह सकते। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जिस कालावधि को द्विवेदी-काल की संज्ञा प्राप्त है, उसकी अतिशय इतिवृत्तात्मक काव्य-धारा में हलचल उत्पन्न करने का श्रेय उन्हें दिया जाना चाहिए। उक्त काव्य-धारा ने भारतेन्दु से प्राप्त सदेश से शक्ति-संग्रह करके रीति-कालीन काव्य की संकुचित वृत्ति को दबा तो दिया था, किन्तु कोई रचनात्मक सहयोग न कर सकने के कारण दैन्य की अनुभूति से पीड़ित भी हो रहा था। पन्त जी ने प्रकृति-सौन्दर्य-चित्रण-विशिष्ट एवं आत्मोद्गार-रजित रचनाओं द्वारा काव्य के अवरुद्ध कठ को खोलकर एक ओर तो रीतिकालीन काव्य की सकीर्णताओं के प्रति प्रकृत विद्रोह प्रस्तुत किया, दूसरी ओर द्विवेदीकालीन कविता को विकास की एक नवीन दिशा दिखाई। अपनी नवीन काव्य-शैली में पन्त जी ने यत्र-तत्र जिस मनस्विता और कविजनोचित निरकुशता का परिचय दिया, उसमें उन्हें अनेक महारथियों के कोप का भाजन होना पड़ा। अस्तु।

भाव और उसकी अभिव्यक्ति के प्राचीन साधनों को अस्वीकृत करके पन्त जी ने अपने लिए नये-नये मार्ग निकाले, उनका अग्रेजी-काव्य-विषयक अध्ययन इस कार्य में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुआ। किन्तु अपने निर्दिष्ट क्षेत्र के भीतर वे स्वयं ही सीमित होकर न रह सके। अपनी ही पूर्व प्रवृत्तियों और शैलियों को उन्हें त्यागना पड़ा। उदाहरण के लिए, अपने रचना-काल के आरम्भ में वे प्रकृति के पुजारी थे। वही उन्होंने प्रकृति के सुन्दर प्रकृत चित्र अंकित किये थे और कहीं ऐसे, जो मनोभावनाओं की रंगीनी के साथ उतारे गए थे। इनमें हृदयहारी कवित्व का संचार हो सका था। किन्तु जब वे उन्हें उनका पूर्ण सत्य न दे सकी तो उन्हें अपने अभिलषित सत्य की खोज में फिर नवीन यात्रा करनी पड़ी। उन्होंने भारतीय दर्शन के शीतल जल से अपनी प्यास बुझाना शुरू किया। उपनिषदों द्वारा अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठापित अद्वैत भावना ने उन्हें मुग्ध कर लिया। किन्तु उनका जिज्ञासामय, प्रगतिशील व्यक्तित्व यहाँ भी अधिक देर तक पड़ाव न कर सका। वे अन्तर्जगत् की खोज बाह्य जगत् में करने लगे और क्रमशः पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा प्रतिष्ठापित ऐतिहासिक भौतिकवाद के पास पहुँचे। 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल'-जैसी रचनाओं का सरस कवि समाज-हित-चिन्ता के ताप से तप्त हो गया। फलतः उनकी उत्तरकालीन रचनाओं में पूर्व रचनाओं के संघर्ष और हार्दिकता के स्थान में आत्मोत्कर्ष और सामा-

जिक अभ्युदय की इच्छा अधिक मात्रा में मिलने लगी । ऐतिहासिक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रकृति और मानव-हृदय के नायक पंत जी की रेखनी मानव को अनावश्यक श्रम से मुक्त करने वाले यत्रवाद का गुणगान करने लगी

जड नहीं यत्र, वे भाव रूप सस्कृति द्योतक ।

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत्-क्रम में विकसित ।

यत्रवाद ही में पंत जी के कवि ने मानव के भावी निर्माण की आशा देखी, मानव की सांस्कृतिक समस्या के समाधान का दर्शन किया

राजनीति का प्रश्न नहीं रे

भ्राज जगत् के सम्मुख ।

“भ्राज बृहत् सांस्कृतिक समस्या

जग के निकट उपस्थित ।

खंड मनुजता के युग युग की

होना है नव निर्मित ।

फिर भी पंत जी ने एकांत ऐतिहासिक भौतिकवाद को ग्रहण किया है और न अध्यात्मवाद का त्याग ही उन्हें अपेक्षित है, वे अध्यात्मवाद का शाश्वत चेतना के रूप में स्वीकार करते हैं और ऐतिहासिक भौतिकवाद को ऐतिहासिक चेतना के रूप में लेकर एक समन्वय प्रस्तुत करना चाहते हैं । वास्तव में इस प्रकार का समन्वय ही अभीष्ट है और हमें पूर्ण आशा है कि उसीमें अपनी पूर्ण तृप्ति को प्रतिष्ठित करके वे भविष्य में हमें ऐसी रचनाएँ दे सकेंगे, जो हमारे एकांगी जीवन की नहीं, सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या करेंगी ।

हमारे वर्तमानकालीन विद्रोही कवियों में प० सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’ का एक प्रमुख स्थान है । उनकी विद्रोही प्रकृति ने अपने लिए अनेक विरोधी खड़े किए और अभिव्यक्ति की नवीन शैली के प्रवर्तक रूप में जिनके आक्रमण उन्हें झेलने पड़े, उतने शायद ही किसी वर्तमान कवि को सहन करने पड़े होंगे । हर्ष की बात है कि क्रमशः पारखियों ने उनके व्यक्तित्व तथा कृतियों की आकर्षक विशेषताओं को समझा है, जिसके परिणाम-स्वरूप अब उनकी लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ रही है ।

छायावाद-क्षेत्र के अग्रणी कवि होने पर भी निराला जी क्रमशः प्रगतिवादी रचनाओं की ओर प्रवृत्त हुए । गरीबों और दुःखियों के दुःख को व्यक्त करने के लिए उन्होंने जो कविताएँ लिखी हैं उनमें उनकी उच्च कोटि की मानवता झलकती है । समाज की विषमताओं का चित्रण शोषक-वर्ग की शोषण-प्रवृत्ति का कवित्व-पूर्ण का दिग्दर्शन आपकी रचनाओं के एक अंश की विशेषता है । यहाँ ‘एक अंश’ इसलिए कहा जा रहा है कि उनकी कुछ कृतियों में अन्य विशेषताएँ हैं ।

निराला जी भारतीय संस्कृति और भारतीय स्वतन्त्रता के कितने बड़े पुजारी हैं, इसका परिचय हमे उनकी 'तुलसीदास' नामक रचना में विशेष रूप से मिलता है। इसकी आरम्भिक पंक्तियों में वे कहते हैं :

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमिन आज रे तमस्तूर्य दिग्मण्डल,
उर के आसन पर अिस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है उर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल ।
रिपु के समक्ष जो था प्रचंड
आतप ज्यों तम पर करोद्दण्ड,
निश्चल अब वही बुंदेलखण्ड आभागत ।
वीरों का गढ़, वह कालिंजर,
सिंहों के लिए आज पिंजर ।
भारत के उर के राजपूत,
उड़ गये आज वे देवदूत ।
जो रहे शेष, नृप-वेश सूत-बन्दीगण ।

इन पंक्तियों में कितनी व्यथा है, कितनी पीडा है, भारतीय संस्कृति पर विदेशी संस्कृति के आरोप से कवि कितना मर्माहत है, सहृदय जन इसका महज ही अनुभव कर सकते हैं। देश की मूल संस्कृति का निरुल्लास, निर्जीव हो जाना स्वयं तुलसीदास जी को जितना कष्टकर हुआ होगा, उससे कम उनका कीर्ति-गान करने निराला जी को नहीं हुआ, ये पंक्तियाँ इसे प्रमाणित कर रही हैं।

जो लोग साम्प्रदायिक कहे जाने के भय से भारतीय संस्कृति के सर्वप्रिय और सर्वमान्य स्वरूप को भी अपना सहज विकास करते देखना नहीं चाहते, उन्हीं की दुर्बलता के प्रति स्वाभिमानी कवि के ये उद्गार हैं, जिन पर उन्हें निर्लिप्त चित्त होकर विचार करना चाहिए।

निराला जी की काव्य-शैली देव के कवित्त की शैली नहीं है और न द्विवेदी जी की शैली है, जिनमें बात थोड़ी होकर भी बहुत फैलाव के साथ कही जाती है। अंग्रेज कवि राबर्ट ब्राउनिंग की तरह वे अधिक बात थोड़े शब्दों में कहना चाहते हैं और यह भी आशा करते हैं कि उनकी कविता का पाठक, इतना बुद्धिहीन नहीं है के आवश्यक होने पर वह दिये गए संकेतों के आधार पर उचित पूर्ति न कर ले। उनकी रचनाओं में समास-बद्ध पद-विन्यास तथा क्रिया-पदों का लोप एक ऐसी

षता है, जो उन्हें हिन्दी के अन्य समस्त कवियों से पृथक् करती है। इसके अतिरिक्त छन्द के मार्ग को बंधनहीन बनाने का श्रेय भी उन्हींको प्राप्त है, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्री जयशंकर प्रसाद, श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी आदि कवियों ने अन्त्या-नुप्रासहीन कविता को जिस सीमा तक पहुँचा दिया था, उससे बहुत आगे पिंगल के क्षेत्र से भी बहुत आगे, जहाँ काव्य की पक्तियाँ केवल सगीत का सहारा पकड़कर खड़ी रह सकती है, वहाँ कहीं बहुत छोटे और बड़े पदों के माध्यम से उन्होंने उच्च कोटि की भावुकतापूर्ण कविता लिखी है। उनके इन छन्दों के 'रबर छन्द' 'कंगारू छन्द' कहने के दिन चले गए। अब तो यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'निराला'-जैसे विद्रोही कवि को अपनी अभिव्यक्ति के लिए विद्रोह के इस पथ पर चलना आवश्यक एवं स्वाभाविक ही था।

'दिनकर' जी ने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य लिखकर अपनी जिस विद्रोही प्रवृत्ति का परिचय दिया है, उसका भी उचित मूल्य आँका जाना चाहिए। जिस समय लोग प्रतिशोध की भावना की निन्दा कर रहे हैं, क्योंकि उसके कारण रणक्षेत्र में उतरना पड़ता है, उस समय उन्होंने उसका औचित्य घोषित किया है। 'कुरुक्षेत्र' में प्रधान रूप से भीष्मपितामह और युधिष्ठिर द्वारा प्रश्नोत्तर कराये गए हैं। युधिष्ठिर ने युद्ध के परिणाम के प्रति असन्तोष व्यक्त करके संन्यास ग्रहण करने की इच्छा की है; भीष्मपितामह ने इसका विरोध किया है। प्रतिशोध की प्रशंसा में भीष्मपितामह की आड़ ले कर कवि स्वयं कहता जान पड़ता है :

प्रतिशोध से है होती शौर्य की शिखाएँ दीप्त,
प्रतिशोधहीनता नरों में महापाप है।
पाप हो सकता नहीं, वह युद्ध है,
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

क्रमशः कवि युद्ध का पक्ष लेता दिखाई पड़ता है, क्योंकि प्रतिशोध अहिंसात्मक उपायों पर आग्रह करके भी लिया जा सकता है, कवि को इस सम्बन्ध में विश्वास नहीं। वह कहता है :

पाशविकता खंग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।
नहीं प्रिये, सुधर मनुष्य सकता है तप-
त्याग से भी उत्तर दिया था घनश्याम ने।
तप का परन्तु वश चलता नहीं सदैव
पतित-समूह की कुवृत्तियों के सामने

आत्मबल की सीमाएँ कहाँ तक हैं और क्यों हैं, इस चर्चा में न प्रविष्ट होकर

महात्मा गांधी के अहिंसात्मक आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप जीवन की समस्त समस्याओं के हल के लिए आत्मबल को अपराजेय मानने का आग्रह वृद्धिशील रहा है। दिनकर जी ने इसी भावना के प्रति विरोध किया है। इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि कहीं-कहीं मानव-प्रगति की साधना के लिए हिंसात्मक संग्राम भी अपेक्षित है। हिंसात्मक संग्राम की एक बार उपादेयता स्वीकार कर लेने पर उसमें विजय-लाभ करने की इच्छा भी स्वाभाविक ही है। विजय-लाभ का इच्छा के साथ-ही साथ शस्त्र-साधनों की वृद्धि भी आवश्यक हो जाती है। वर्तमान युग में हम देख रहे हैं कि विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से हमने अणुबम के युग में प्रवेश कर लिया है। एक ओर तो इस परिस्थिति की स्वाभाविकता की हम उपेक्षा नहीं कर सकते, दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि विज्ञान की सहायता से नित नूतन शस्त्रों के आविष्कार की जो घुड़दौड़ हो रही है, उसकी दिनकर जी ने निन्दा की है और कहा है कि हृदय की क्षुद्रता को न मिटाकर वैज्ञानिक उन्नति करना सच्ची उन्नति नहीं है।

थोड़े दिन हुए पटना में दिनकर जी के विचारों से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने का सुअवसर इन पक्तियों के लेखक को मिला था। जहाँ तक मैंने उन्हें समझा है, वे गांधीवाद की एक वामपक्षीय व्याख्या प्रस्तुत किये जाने के पक्ष में दिखाई पड़े थे। महात्मा जी ने अहिंसा के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह बतलाई थी कि हिंसा करने की पूर्ण शक्ति रहते हुए भी मनसा, वाचा, कर्मणा, अपनी सद्भावना को अक्षत रखकर किसी सत्य पर दृढ़ रहना अहिंसा का मार्ग है। इसीको उन्होंने सबल की अहिंसा कहा था। उदाहरण के लिए अणुबम रखकर भी यदि अमरीका अपने प्रति अन्याय करने वाले किसी छोटे राष्ट्र के अपराध को क्षमा कर देता है, तो उसकी यह अहिंसा सबल की अहिंसा समझी जायगी। सबल और शक्तिशाली की अहिंसा ही वास्तव में सच्ची अहिंसा है। महात्मा जी का आग्रह केवल इस बात पर था कि शक्तिशाली अपनी हिंसा करने की शक्ति का प्रयोग न करे। यदि वह इस कार्य से विरत होगा, तो सैनिक दृष्टि से दुर्बल राष्ट्र भी उसी के पक्ष का अनुसरण करेंगे और विश्व में सहज ही शान्ति स्थापित रहेगी।

वास्तव में हृदय की क्षुद्रता मिटाने, अन्य का भाग न ग्रहण करने, अपने परिश्रम-फल की ही माँग करने की बात कहकर दिनकर जी न सली तत्त्व की बात कह दी है। यदि हमारा हृदय उदार होगा, तो हम अपनी सबलता का दुरुपयोग नहीं करेंगे, अन्य के स्वत्व को हड़प जाने के लिए सचेष्ट न होंगे तथा अपने उद्योग से जो कुछ मिलेगा उसीमें सन्तोष मानेंगे। हममें से प्रत्येक व्यक्ति ऐसी ही उदारता धारण कर ले, तो निस्संदेह यह संसार स्वर्ग बन जाय।

मैं सहृदय पाठकों से 'कुरुक्षेत्र' द्वारा प्रस्तुत स्वस्थ काव्यात्मक विद्रोह का औचित्य स्वीकार करने का अनुरोध करता हूँ ।

. आधुनिक हिन्दी-काव्य के विद्रोही स्वर में यहाँ केवल छः कवियों के सहयोग की चर्चा की गई है । इसका यह अर्थ नहीं है कि विद्रोहात्मक भावना केवल इन्हीं कवियों तक सीमित है ।

पाँच ::

:: श्री हरिऔध

: १ :

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के इस युग में पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरि-औध' को प्रगतिशील कवि कहना शायद साहस का काम समझा जाय, किन्तु केवल एक विचार-धारा से प्रेरित होकर, जिसकी वैज्ञानिकता प्रशंसनीय होने पर भी जीवन के समस्त अवयवों के प्रतिनिधित्व से सम्पन्न नहीं है, ऐसे कवि की प्रगतिशीलता को अस्वीकार करना, जिसने प्राप्त देश-काल-जन्य परिस्थितियों में उत्तम श्रेणी की सौन्दर्य-सृष्टि की हो, साहस ही का नहीं, दुस्साहस का काम भी समझा जायगा। सच बात तो यह है कि भारतेन्दु के समय से लेकर द्विवेदी जी के समय तक जितने भी कवि प्रकाश में आये उनमें हरिऔध जी की प्रतिभा ही सबसे अधिक प्रगतिशील, प्रखर और रचनात्मक थी। पूर्ववर्ती कवियों से उत्तराधिकार के रूप में हरिऔध जी को अन्धकार और प्रकाश दोनों ही की उपलब्धि हुई, उनमें दोनों के अन्तर को परखने की शक्ति थी और उन्होंने अन्धकार को त्यागकर प्रकाश को अधिकाधिक मनोहर और नयनाभिराम रूप में हमारे सामने उपस्थित किया। ऐसा करने के प्रयत्न में उन्होंने जिस सहृदयता, रसिकता और मार्मिकता का परिचय दिया उसके कारण वे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सदैव एक ज्योतिर्विकीर्णकारी श्रेष्ठ कलाकार माने जायेंगे।

हरिऔध जी ने विभिन्न कृतियों द्वारा अपनी समसामयिक साहित्यिक परिस्थितियों में जो क्रान्ति उत्पन्न की वह अनेक रूपों में पल्लवित और पुष्पित हुई— (१) कल्पना और अनुभूति के केन्द्रों में परिवर्तन, (२) परम्परा से प्राप्त प्रतीकों का नवीन मूल्याङ्कन, (३) अभिव्यक्ति के विविध स्वरूपों और साधनों का अङ्गीकरण—इन तीन दिशाओं में उसने विशेष रूप से प्रगति की। हरिऔध जी के कार्य का महत्त्व समझने के लिए यह आवश्यक है कि यहाँ हम इन तीनों ही तत्वों की थोड़ी सी विवेचना करें और उन रचनाओं का भी उल्लेख करें जिनमें इनका समावेश सम्भव हो सका है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य-काल के पूर्व हिन्दी-कवि की कल्पना और अनुभूति संकुचित होकर नारी के प्रेयसी-रूप ही तक सीमित हो गई थी, भारतेन्दु ने

हिन्दी-काव्य में मानव के प्रति सहानुभूति का तत्त्व प्रस्तुत करके एक नवीन अध्याय का समारम्भ किया। स्वभावतः हिन्दी कवि की कल्पना और अनुभूति अपने विकास के लिए मानव-सेवा के विस्तृत क्षेत्र की खोज करने लगी। कवि अपने अन्तर में अनुभव करने लगा कि जीवन के भोगमूलक मानवों के प्रति अनुरागी होकर वह व्यर्थ ही समय नष्ट कर रहा था। भारतेन्दु के समसामयिक तथा द्विवेदीकालीन अनेक कवियों की इतिवृत्तात्मकता को जीवन प्रदान करने वाली इस प्रवृत्ति द्वारा निर्दिष्ट केन्द्र को सबसे पहले, कलात्मक रूप में, हरिऔध जी ने ही स्वीकार किया; उन्होंने 'प्रिय प्रवास' की रचना करके प्रेम-विषयक दिय कल्पना और मार्मिक अनुभूति के नवाविष्कृत केन्द्र को काव्यात्मक अनुरंजना प्रदान की; रीतिकालीन प्रमदा नायिका के स्थान में त्यागमयी, सेवामयी राधा की अवतारणा करके उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रणय को अत्यन्त स्वच्छ धरातल पर उपस्थित किया। यही नहीं, उन्होंने विरहिणी राधा के विरह-वर्णन में गीत काव्यात्मक तत्त्व का समावेश करके एक बहुत बड़ी क्लान्ति का अन्त किया, जिसे हिन्दी काव्य शताब्दियों से अनुभव करता आ रहा था।

जीवन के मार्मिक स्थलों का स्पर्श करने वाले केन्द्रों के आविष्करण और उद्घाटन के अतिरिक्त 'प्रिय प्रवास' ने परम्परा से प्राप्त प्रतीकों के नवीन मूल्याङ्कन का भी प्रयत्न किया। हिन्दी-कृष्ण-काव्य के पूर्वाद्ध ने राधा और कृष्ण को माया और ब्रह्म के रूप में चित्रित किया था और माया की अधीरता तथा ब्रह्म की अप्रा-ह्यता के आधार पर सूर की वाणी ने अद्भुत कवित्व की सृष्टि की थी, किन्तु उक्त काव्य ने अपने उत्तरार्द्ध में राधा-कृष्ण के प्रतीक-मूल्यमात्र को स्वीकार करके समाज के दैनिक जीवन में उनके ऐसे चित्र उतारे थे जो न माया को याद दिला सकते थे और न ब्रह्म की, और जिनमें यदि एक ओर कुछ सौन्दर्य दिखाई पड़ता था तो साथ ही दूसरी ओर आत्मशक्ति का अभाव भी खटकता था। प्रसाद गुण मण्डित, मधुर, अलंकृत, चमत्कारपूर्ण पंक्तियों में अंकित राधा-कृष्ण का चित्र न चर्मचक्षुओं के सामने और न अन्तर्दृष्टि के सम्मुख कोई सर्वांग-सुन्दर, संगत सौन्दर्य प्रस्तुत कर पाता था। हमारे साहित्य के गत्यवरोध का अन्त करने के लिए 'प्रिय प्रवास' ने राधा को साधारण नारी और कृष्ण को महापुरुष के रूप में अंकित किया। राधा के क्रमिक विकास एवं श्रीकृष्ण के व्यस्त, सघर्षमय जीवन का चित्र उपस्थित करके उसने केवल अंध विश्वास की लकड़ी के सहारे खड़ी होने वाली मानव-श्रद्धा को स्वाभाविकता का पल्ला पकड़कर चलने योग्य बनाया।

'प्रिय-प्रवास' में राधा-कृष्ण के नवीन मूल्याङ्कन से भी अधिक आकर्षक हुआ है प्रकृति का नवीन मूल्याङ्कन; जो 'प्रिय प्रवास' के प्रकाशन के पूर्व हिन्दी-साहित्य में अज्ञात था। कवि ने राधा के सुकुमार, प्रभाव ग्रहणशील व्यक्तित्व को प्रकृति के

सम्पर्क में रखकर निरुपम विकास से सम्पन्न किया, विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों में प्रियतम की झाँकी दिखाकर क्रमशः सम्पूर्ण जगत् को प्रियतममय बना दिया। अद्वैत भावना की ओर राधा की यह प्रगति हमारे हृदय में आशा और विश्वास संचार करती है और हमें इस बात का भरोसा हो जाता है कि यदि हम भी अपना सिर प्रकृति की गोद में रख दें तो वह हमें आश्वासन तो देगी ही, साथ ही विश्व-सेवा की प्रेरणा देकर कर्म के लिए हमारा आह्वान भी करेगी। 'प्रिय प्रवास' का यह सन्देश निस्संदेह अमूल्य है।

जैसे 'प्रिय-प्रवास' में राधा-कृष्ण का नवीन मूल्याङ्कन किया गया वैसे ही 'वैदेही वनवास' में सीता और रामचन्द्र जी का भी नये ढंग से चित्रण किया गया। किन्तु पूर्ववर्ती कवियों ने जितनी विकृति राधा-कृष्ण के चित्रण में प्रस्तुत की थी उतनी सीता और रामचन्द्र के चित्रण में नहीं। कुछ इस कारण और कुछ इस कारण भी कि 'प्रिय-प्रवास' अपने गीति काव्यात्मक एवं प्रणयजन्य विरह-वर्णनों की विशेषताओं के कारण अधिक हृदयहारी हो गया है, 'वैदेही-वनवास' के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्य के प्रेमीगण उसकी ओर अपेक्षाकृत कम आकर्षित हुए।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी 'प्रिय-प्रवास' ने क्रान्ति की। उसने अपने लिए ऐसा मार्ग पसन्द किया जिस पर उसके पहले किसी ने चलने का साहस नहीं किया, था उसने संस्कृत के वर्णवृत्तों ही में अपनी सम्पूर्ण यात्रा समाप्त करने का संकल्प किया, उसने अन्त्यानुप्रास का बन्धन तोड़कर अतुकान्त काव्य-रचना का पथ परिष्कृत बनाया। 'प्रिय प्रवास' के पहले, तुक का सहारा त्यागकर महाकाव्य लिखने का कोई सफल प्रयत्न नहीं किया जा सका था।

'प्रिय प्रवास' की भाषा संस्कृत-गर्भित है और उसकी कृत्रिमता की शिकायत की गई है। कुछ अंशों में यह शिकायत उचित जान पड़ती है, किन्तु जिन बन्धनों में बँधकर कवि ने इस रचना के निमित्त लेखनी चालित की उन्हें दृष्टि में रखकर हमें विचार करना चाहिए। संस्कृत के वर्ण-वृत्त संस्कृत-काव्य के निर्वाहाथ वने हैं, यदि हिन्दी-काव्य उनसे काम लेना चाहता है तो उसे कही-न-कही संस्कृत भाषा, संस्कृत-शब्दावली से समझौता करना ही पड़ेगा, यदि ऐसा न होगा तो सत्काव्य के भीतर निरन्तर लहरित संगीत को क्षति पहुँचेगी। 'प्रिय प्रवास' ने यह आवश्यक समझौता किया है और इस प्रकार अपने संगीत की रक्षा की है। यहाँ प्रसंगवश यह कह देना भी उचित होगा कि सब बातों को देखते हुए 'प्रिय प्रवास' की अभिव्यक्ति अत्यन्त सरल मानी जायगी, कही जटिलता नहीं, किसी प्रकार की दुरुहता नहीं।

'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास'-जैसे प्रयत्नों के अतिरिक्त हरिऔध जी

ने अपने जीवन का कुछ अंश काव्य-रचना के अन्तर्गत अभिव्यक्ति क्षेत्र की कठिनाइयों को हल करने की ओर लगा दिया। भाषा ठेठ हिन्दी हो, मुहावरेदार हो, फारसी बहो का प्रयोग हिन्दी-कविता में हो—इन प्रश्नों की ओर ध्यान चले जाने के कारण उनका घनिष्ठ सम्पर्क उन तत्त्वों से छूट गया जो हृत्तन्त्री के तारों को भ्रूंकृत कर दिया करते थे। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' उतनी मात्रा में औपन्यासिक रचना के लिए नहीं लिखे गए जितनी मात्रा में ठेठ हिन्दी का चमत्कार दिखाने के लिए। इसका यहाँ यह आशय न लगाया जाय कि उपन्यास के रूप में इन दोनों ही कृतियों का कोई मूल्य नहीं। नहीं, मूल्य निस्संदेह है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' के प्रकाशन के पहले हिन्दी-उपन्यास-रचना के क्षेत्र में देवनन्दन, देवबाला, देवहूती और देवस्वरूप-जैसे चरित्रों की सृष्टि करके किसी सामाजिक समस्या को प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की गई थी। इस दृष्टि से इन दोनों उपन्यासों ने उपन्यास-प्रेमियों के सामने कला का एक नवीन रचनात्मक स्वरूप उपस्थित किया। अस्तु। यह सब स्वीकार करते हुए भी हम जिस ओर साहित्य-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि स्वयं हरिऔध जी इस ओर मूलतः भाषा-सम्बन्धी चमत्कार दिखाने ही के लिए प्रवृत्त हुए। विचित्र बात तो यह है कि 'प्रिय प्रवास' का निर्माण इन ग्रन्थों की रचना के अनन्तर हुआ; ठेठ हिन्दी के भीतर से संस्कृत-गर्भित भाषा कैसे फूट पड़ी?—शायद ऐतिहासिक क्रम के खोजने वाले इस रहस्य के उद्घाटन के लिए आतुर हो उठे।

हिन्दी-काव्य में फारसी बहो का प्रयोग करके तथा मुहावरेदार भाषा लिखकर उर्दू-प्रेमियों के एतद्विषयक अभिमान को चूर्ण करने के लिए वे इतने कटिबद्ध हो गए कि अनेक वर्षों तक 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' तथा 'चोखे चौपदे' की रचना में निमग्न रहे। इन ग्रन्थों में कवित्व के अतिरिक्त अपने समाज का एक चित्र भी हमें उपलब्ध होता है और कही-कही काव्य-पंक्तियों के भीतर कवि की पीड़ा भी झॉकती दिखाई पड़ती है। काव्य की कसौटी पर कसी जाने पर ये रचनाएँ खरी न उतरे, ऐसी बात नहीं है। ध्यान देने योग्य बात केवल यही है कि यहाँ भी उद्देश्य काव्य-प्रयत्न नहीं है, कवि का ध्यान एक विशेष प्रकार की भाषा लिखने की ओर है, जिसके अन्तर्गत मुहावरों की एक लम्बी तालिका को खपाने का उसने संकल्प कर लिया है। इस प्रकार काव्य-सम्बन्धी गाड़ी के सामने मुहावरों का काठ पड़ जाने के कारण निस्संदेह हृदय के स्थान में मस्तिष्क को अधिक क्रियाशील होना पड़ा है और उससे काव्य को क्षति पहुँची है।

कवित्व की दृष्टि से 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' भले ही उतने उत्कृष्ट न हो जितना वर्तमान युग उसका होना चाहता है, किन्तु भारत के सास्कृ-

तिक विकास मे उनसे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होगा, इसमे सन्देह नहीं। भारतीय राष्ट्रीयता की प्रगति के साथ ही साथ उर्दू शैली का हिन्दी की प्रकृति मे विलीन होना, आत्मसात् होना अनिवार्य है। यह विलय की प्रक्रिया किस प्रकार का सामं-जस्य, समन्वय हमारे सामने प्रस्तुत करेगी ? उर्दू के बहो मे काव्य-पक्तियों मे उर्दू के कवि जिस प्रकार आवश्यकानुसार दीर्घाक्षरो की हजामत करते हुए अनियमित रूप से ढाला करते हैं क्या उसे हम हिन्दी मे ज्यों-का-त्यों ले लेंगे ? नहीं, ऐसा नहीं होगा, हरिऔध जी ने मार्ग दिखा दिया है—उर्दू बहल का नियम मानकर भी हिन्दी कवि हिन्दी पिगल के अनुसार मात्राओं की कसौटी पर उसे कस लेगा।

उक्त ग्रन्थों का हमारे ऊपर एक और उपकार है। हमे खड़ी बोली-काव्य की भाषा को बहुत माँजना है, उसे मुहावरेदार बनाकर जन साधारण के सम्पर्क में लाना है। हम भले ही अपने भावी काव्य को मुहावरो से बोझिल न बनावे किन्तु उसमे उतनी मात्रा मे उनका समावेश तो स्वीकार करना पड़ेगा जितना काव्य को सजा देने के लिए नितान्त आवश्यक है।

हरिऔध जी के कवि-व्यक्तित्व को जिन तीन तत्त्वों ने चमका दिया है उनकी एक संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी। उनकी प्रतिभा चतुर्मुखी थी और उन्होंने यदि एक ओर 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग और 'रुक्मिणी-परिणय' नाटक की रचना की तो दूसरी ओर 'हिन्दी भाषा और साहित्य' जैसे व्याख्यापरक ग्रन्थ का भी निर्माण किया। इसी प्रकार 'रस-कलश' की रचना करके उन्होंने काव्य-शास्त्र-विषयक अपने ज्ञान का भी परिचय दिया। फुटकर कविताएँ, मुक्तक आदि लिखने मे भी उन्हें बड़ी सिद्धहस्तता प्राप्त थी। छायावादी जमाने मे उन्होंने रहस्यवाद की झलक देने वाली रचनाएँ की। यदि वे जीवित होते तो पता नहीं आज प्रगतिवाद के साथ उनकी कैसी निभती। प्रगतिवाद के रचनात्मक तत्त्व तो उनमे संस्कारवत् विद्यमान थे, हाँ वर्ग-विद्वेष और हिसात्मक रण-नीति को प्रेरणा देने वाली रचनाएँ उनकी लेखनी से नहीं निकल सकती थी।

हरिऔध जी के कुछ प्रयोगों की सफलता सिद्ध हो चुकी है और कुछ अभी समय के निर्णय की बाट जोह रहे हैं। उन सबके आधार पर हम यह कह सकेंगे कि वे हिन्दी के सच्चे अर्थ मे प्रगतिशील कवि थे, यही मेरा निश्चित मत है।

१२ :

स्वर्गीय भारतेन्दु ने हिन्दी-काव्य को जो एक नवीन दिशा प्रदान की थी उसकी ओर उनके अनेक समसामयिक तथा परवर्ती कवियों ने प्रगति की। इनमे पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० नाथूराम 'शंकर' तथा पं० श्रीधर पाठक उल्लेख-योग्य हैं। किन्तु इनमे कवित्व-शक्ति का अभाव न

न होने पर भी नवीन काव्य-प्रेरणा को ग्रहण करके उसे पल्लवित-पुष्पित एवं सफल बनाने के लिए आवश्यक लगन, उमंग और दूरदर्शिता न थी। इन गुणों से युक्त होकर कार्यक्षेत्र में सबसे पहले पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ही आ सके। ऐसी अवस्था में यह सर्वथा उचित है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य का प्रथम चरण उनके काव्यारम्भ-काल से ही माना जाय।

पण्डित श्रीधर पाठक और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की तुलना बड़ी मनोरंजक है। दोनों ही खड़ी बोली और ब्रजभाषा के कवि थे तथा ब्रजभाषा-काव्य के प्रति दोनों ही के हृदय में बड़ा स्नेह था; यद्यपि दोनों ही ने खड़ी बोली को सम्मानित काव्य-भाषा बनाने के लिए सराहनीय उद्योग किया। पाठक जी की अधिकांश कविता ब्रजभाषा में है और अपेक्षाकृत स्वल्पांश खड़ी बोली में है। हरिऔधजी की अधिकांश कविता खड़ी बोली में है और अपेक्षाकृत स्वल्पांश ही ब्रजभाषा में है।

हरिऔध जी की प्रारम्भिक रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं और 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बु-प्रसवण' तथा प्रेमाम्बु-प्रवाह में संकलित हुई हैं। ये संग्रह सन् १८९९ में या उसके लगभग प्रकाशित हुए। इनमें प्रचलित परिपाटी से कोई नवीनता नहीं है और न युग की काव्य-प्रेरणा को ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही इनमें लक्षित होती है। रीति-कालीन कवि कही कृष्ण को परब्रह्म के रूप में और कही शृङ्गारिक नायक के रूप में अंकित करते आ रहे थे। यही प्रवृत्ति इन संग्रहों में समाविष्ट रचनाओं में भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए दो रचनाएँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।—

अकल अनावि अत्र अजित अरूप अखि-

लेस जग धूप ज्योति अगम जगैया को।

तीन लोक विवित अजावि बन्दनीय विभु-

संत जन काज नाना बपुख धरैया को।

हरिऔध ताप अपतापहिं हरैया महा-

पातक कदन पापी पुञ्जन तरैया को।

जन बरदैया, सुखदैया, करदैया काज

में तो जानौ एक बलराम जू के भैया को।

यहाँ श्री कृष्ण परब्रह्म रूप में अङ्कित हुए हैं। अब द्वितीय रचना में उनका मानव रूप मिलेगा :—

ऊबि-ऊबि आन मेरो तलफत आठो जाम

डूबि-डूबि बिरह-समुद्र मन हारो है।

बावरी भई हौं बूझि सकत न बात कोऊ

धरकत बार-बार हियरो हमारो है ॥

ऊधो, किमि हिय सो बिसारि हरिऔध हम,
 ध्यावें जगदीसं जो न जीवन को धारो है।
 अंगन में, मन में, हिये में, आन नैनन में,
 रम्यों रोम रोम में रसीलो नंद वारो है।

हिन्दी में कृष्ण-काव्यकारो ने श्रीकृष्ण का गोपी बल्लभ-स्वरूप सामने रख कर साधना की थी, उसीके उत्तराधिकारी के रूप में श्रीकृष्ण का प्रेम-प्रधान मानव रूप ही काव्य में स्थान पा सका था। पिछली शताब्दी के अन्त तक हरिऔध जी इस स्थिति से आगे नहीं बढ़ सके।

लगभग इसी काल से उनकी रचनाएँ भी सम्बन्ध रखती हैं जो बाद को 'रस कलस' नामक रीति-ग्रन्थ में समाविष्ट हुआ।

बीसवीं शताब्दी के उदय के साथ-ही-साथ हरिऔध जी के विचारों में क्रान्ति हुई। उन्होंने देखा कि राधा और कृष्ण का प्रतीक के रूप में नवीन मूल्याङ्कन होने की आवश्यकता है, कल्पना और अनुभूति को ऊँचे स्तर पर उठाना तथा अभिव्यक्ति के नवीन परिधानों से समन्वित और मंडित करना न केवल उपयोगी है, वरन् समाज के कल्याण-साधन की दृष्टि से अनिवार्य है। उनका 'प्रिय प्रवास' नामक महा-काव्य जो उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाये रहेगा, उनके इन्हीं परिपक्व संस्कारों का परिणाम है। इस काव्य में उन्होंने श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में तथा राधा को समाज-सेविका देवी के रूप में अंकित किया है। इसके अतिरिक्त गीति-काव्यात्मक तत्त्व का प्रवेश करके उन्होंने हिन्दी काव्य के शैथिल्य का निवारण किया।

'वैदेही वनवास' में भी हरिऔध जी ने अपनी उसी प्रवृत्ति का परिचय दिया जिसकी प्रेरणा से उन्होंने कृष्ण के परब्रह्मत्व को महापुरुषत्व के रूप में परिणत किया था। इस काव्य में उसने राम और सीता को महा-पुरुष और देवी के रूप में चित्रित किया। किन्तु इसके सम्बन्ध में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि करुण-रस के परिपाक के काव्य-निर्दिष्ट समस्त साधनों का इसमें उपयोग नहीं किया जा सका है। प्राकृतिक दृश्यों का प्रचुर वर्णन तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का उद्घाटन इस काव्य की प्रशंसनीय विशेषताएँ हैं।

'प्रिय-प्रवास' ने हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में क्रान्ति की, उसको दलदल से निकाल कर खड़ा किया। किन्तु 'वैदेही वनवास' को किसी प्रकार की नूतन प्रगति प्रदान करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। हाँ, स्वच्छ और समाजोपयोगी भावनाओं की उसमें कमी नहीं है।

'वैदेही वनवास' में प्रकृत वर्णन की अधिकता निस्संदेह है किन्तु 'प्रियप्रवास'

में प्रकृति ने मानव व्यक्तित्व को अपने सम्पर्क में लाकर अपनी जिस रचनात्मक शक्ति का परिचय दिया है उससे बढ़कर अथवा वैसी किसी विशेषता का दर्शन 'वैदेही वनवास' में नहीं हो सका है ।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में क्रांति का नेतृत्व 'प्रिय प्रवास' ने किया । हिन्दी का वह पहला महाकाव्य है जो आदि से अन्त तक अन्त्यानुप्रासहीन पद्यों में लिखा गया है तथा जिसमें आदि से अन्त तक केवल संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का प्रयोग हुआ है ।

'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' की रचना में जिन शैलियों का प्रयोग किया गया है उनसे सर्वथा पृथक् एक अन्य शैली में हरिऔध जी ने 'बोल चाल' 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' की रचना की । इसे बोल-चाल की शैली कह सकते हैं । हिन्दी-पाठकों ने हरिऔध जी के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इन ग्रन्थों को कम अपनाया है । इसका कारण यह समझ पड़ता है कि इन काव्यों में कवि अपनी गम्भीरता को त्याग नहीं सका है और पद्यों के भीतर मुहावरों को खपाने के उत्साह में मग्न होकर उन तत्त्वों का उपयोग नहीं कर सका है जो हृत्तन्त्री के तार को हिला देते हैं । 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' के प्रबन्ध में कथा का सूत्र पकड़कर जो भाव पाठक के हृदय को हिला देने थे वे अपने सहायक तत्त्वों से वंचित होकर तथा किन्हीं अन्य रस-वर्द्धक उपादानों का सहयोग न पाकर अपने एकाकीपन में केवल ऊब और क्लान्ति उत्पन्न करने के कारण बन गए ।

हरिऔध जी की गणना अनुभूति-प्रधान कवियों में की जानी चाहिए । उनकी कल्पना बहुत ऊँची नहीं थी, किन्तु वह जैसी थी उसके साथ सहयोग करने वाली अनुभूति उन्हें इतनी मात्रा में प्राप्त थी जितनी उनके समसामयिक अन्य कवियों में नहीं दीख पड़ती । अनुभूति की इस अधिकता के साथ-साथ उनके कवि व्यक्तित्व में मृदु-हास (Humour) का सर्वथा अभाव था । इसीसे उनके चौपदों का आकर्षण कम हो गया है । मैं समझता हूँ कि यदि उसमें मृदुहास का भी तत्त्व होता तो मुहावरों का प्रयोग कविता की पक्तियों में जादू का प्रभाव उत्पन्न कर देता ।

हरिऔध जी के चौपदे किस भाषा में लिखे गए हैं, इस सम्बन्ध में उन्होंने बोल-चाल, की भूमिका में हिन्दी के एक विद्वान् के साथ हुई चर्चा का उल्लेख किया है; जो अपनी रोचकता के कारण आकर्षक है । उक्त सज्जन ने एक बार कहा कि चौपदों की भाषा हिन्दी नहीं कही जा सकती । हरिऔध जी ने उत्तर में कहा— अच्छी बात है उसे आप उर्दू कहिए । किन्तु आलोचक महाशय वहाँ भी न टिक सके । बोले—उर्दू भी नहीं मान सकता । यह हिन्दी और उर्दू की बीच की कोई भाषा है । हरिऔध जी ने कहा—इसे आप हिन्दुस्तानी कहिए । किन्तु आलोचक महोदय हिन्दुस्तानी भी नहीं मान सके । उन्होंने कहा कि हिन्दुस्तानी में उर्दू का रंग

अधिक होता है, इसमें हिन्दी रंग अधिक है। चारों ओर चक्कर काटकर भी जब वे निश्चिन्त ठौर ठिकाने पर न पहुँच सके तब हरिऔध जी ने उनसे फिर कहा कि—इसे आप हिन्दी भाषा ही क्यों न स्वीकार कर ले। इस पर उन्होंने कहा—चौपदों की बहल उर्दू, कहने का ढंग उर्दू, उसमें उर्दू की ही चासनी और उर्दू का ही रंग है उसकी भाषा चटपटी भी वैसी ही है, उसे हिन्दी कहूँ तो कैसे कहूँ ?

उक्त संवाद से स्पष्ट है कि हरिऔध जी अपने कृतियों की अनोखी विशेषताओं के द्वारा प्रायः लोगों को चकित कर दिया करते थे। अपने भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के लिए तो वे अपने समय के अद्वितीय साहित्यकार थे।

[ब्रजभाषा के अपूर्व अधिकार के साथ-साथ खड़ी बोली के विविध स्वरूप प्रस्तुत करना, कही 'प्रिय प्रवास' के संस्कृत के रंग में रगी हुई भाषा, कही चौपदों और 'प्रिय प्रवास' के बीच में 'वैदेही वनवास' की भाषा, कही इन सबके समानान्तर पर चलने वाली 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाट' की भाषा कही ठीक नामकरण के लिए विद्वानों को हैरानी में डालने वाली चौपदों की भाषा का चमत्कार उपस्थित कर देना यह सभी बातें हरिऔध जी के कवि-व्यक्तित्व को एक मनोमोहकता से रंजित करती थी।]

भाषा-सम्बन्धी प्रयोगों के अतिरिक्त हरिऔध जी ने अपने काल के माध्यमों में भी प्रायः परिवर्तन किए हैं। उन्होंने प्रबन्ध काव्य लिखे, स्फुट और मुक्तक काव्य भी लिखे। उपन्यास लिखे, नाटक लिखे। उपन्यासों की चर्चा की जा चुकी है, उनके नाटक 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' और 'रुक्मिणी-परिणय' हैं। जिस समय उनकी रचना हुई थी, उसकी दृष्टि से यह यथेष्ट रूप से सफल कृतियाँ हैं।

हरिऔध जी केवल कवि और रचनाकार नहीं ही थे, वे कवि-कर्म के अच्छे ज्ञाता और मार्मिक विद्वान् भी थे। 'प्रिय प्रवास' और 'रस कलस' की लम्बी भूमिकाय उनके पांडित्य को प्रकट करने के लिए यथेष्ट है, किन्तु इस क्षेत्र में उनका कार्य उक्त भूमिकाओं तक सीमित नहीं है। उन्होंने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखकर अपने भाषा-विज्ञान तथा हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत प्रवाहित विभिन्न विचार-धाराओं-सम्बन्धी ज्ञान का भी अच्छा परिचय दिया।

मैंने पहले ही कहा है कि 'रस कलस' में समाविष्ट कविताओं की रचना पिछली ईसवी शताब्दी के अन्त में अथवा बीसवी के आरम्भ में हुई थी। द्विवेदी-कालीन कृत्रिम साहित्यिक संयम के कारण ही उनका प्रकाशन लिखी जाने के बाद ही नहीं हो सका और हरिऔध जी को उनके सदुपयोग के लिए रीति-ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी। अनेक विद्वानों का मत है कि 'रस-कलस' में भी हरिऔध जी कवि पहले हैं और आचार्य बाद को। यह सर्वथा यथार्थ कथन है और इसकी सत्यता का

रहस्य यही है कि कविताएँ परिश्रम पूर्वक रीति-ग्रन्थ की सहायता के लिए नहीं लिखी गईं, वरन् रीति-ग्रन्थ समस्त स्वाभाविकता के साथ लिखित कविताओं की सहायता के लिए लिखा गया। 'रस-कलस' में हरिऔध जी ने परिपाटी-विहित शैली का अनुगमन करके निष्प्राण रचना और उसके पोषक सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किये हैं, उन्होंने उसमें वह सजीव काव्य-धारा प्रवाहित की है जिसमें मौलिकता की लहरो ने अनुपम शोभा उत्पन्न कर दी है तथा उसे अपनी विवेचना-द्वारा प्राप्त भी किया है। उसी उदाहरण के लिए उन्होंने परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, जन्म-भूमि-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि नायिकाओं की सृष्टि करके नायिका-भेद के विज्ञान को नवीन युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप कर दिया है। देश-प्रेमिका के नायिका के उदाहरण के रूप में हरिऔध जी का एक मुक्तक यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ :

गौरव का गान सुने गौरव गहति वाल,
पद-गुरुता ते गिरे गिरि ते गिरति है ।
देस की सजीवता से लहति सजीवता है,
जीवन-विहीनता से बढ़ति विरति है ॥
'हरिऔध' भूति देखे बनति विभूतिवती,
विपति के घेरे घोर दुख तु घिरति है ।
भारत के भूले गात-सुधि भूलि भूल जाति,
फूल फले फूली-फली ललना फिरति है ॥

'रस कलस' में हरिऔध जी की मौलिकता ने जिन अनेक नवीनताओं का समावेश करके ब्रजभाषा की शोभा बढ़ाई है उनमें से केवल एक की चर्चा मैं यहाँ और करूँगा। प्राचीन आचार्यों ने धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर और दयावीर ये चार प्रकार के वीर माने हैं। देश और समाज की सेवा के लिए काव्य-रचना करने वाले हरिऔध जी के लिए यह कब सम्भव था कि वे 'कर्मवीर' की उद्भावना करके उक्त वर्गीकरण को संप्राण और सार्थक न बनाते। 'रस कलस' की इन्हीं अगणित विशेषताओं को ध्यान में रखकर स्वर्गीय समीक्षक प्रवर श्री रामचन्द्र शुक्ल ने उसे स्वर्ण-कलस कहा है।

: ३ :

हमारे साहित्य में प्राचीन भारतीय समाज के आदर्शवाद को यथार्थ रूप में ग्रहण करने की जो चेष्टा हो रही है, उसका एक क्रियात्मक स्वरूप स्व० पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'वैदेही वनवास' नामक महाकाव्य में दिखाई पड़ता है। एक साधारण रजक के आरोप की सूचना पाकर श्री रामचन्द्र जी ने महारानी सीता का त्याग कर दिया, विशेष कर उस अवस्था में जब स्वयं उनकी

महारानी के सतीत्व पर पूर्ण विश्वास था और उनके वियोग में स्वयं उनका मर्माहत होना निश्चित था। यह एक ऐसी बात है जो वर्तमान युग के लिए अत्यन्त दुरूह और अग्राह्य है। हरिऔध जी ने इसी दुरूहता और अग्राह्यता को कम करके उक्त घटना को अधिक व्यवहारिक बनाने का प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने सीता-वनवास के लिए जिस वातावरण का निर्माण किया है, उसमें स्वाभाविकता का समावेश हो सका है।

हरिऔध जी के कवि-व्यक्तित्व की विवेचना में कही-कही कहा गया है कि वे गांधीवाद से प्रभावित थे। सत्य से अधिक दूर कोई अन्य बात नहीं हो सकती। व्यक्तिगत जीवन में एक हृद तक वे क्षमा, अहिंसा आदि भावों का आदर करते थे, किन्तु राजनीतिक समस्याओं को एक-मात्र अहिंसा द्वारा हल करने के प्रयत्नों के वे नितान्त विरोधी थे। सच बात तो यह है कि व्यक्तिगत जीवन हो अथवा सार्वजनिक राजनीतिक जीवन, सर्वमान्य स्तर पर वे सर्वत्र—‘शठं प्रति शाठ्यं समाचरेत्’ सिद्धान्त के मानने वाले थे। ‘प्रिय-प्रवास’ तथा ‘वैदेही-वनवास’ दोनों ही में हरिऔध जी ने अपनी इसी मान्यता को व्यक्त किया है।

हरिऔध जी ने राम के व्यक्तित्व को जिस रूप में ग्रहण किया है उसमें हिंसात्मक अथवा अहिंसात्मक साधनों के उपयोग-सम्बन्धी मीमांसा को कोई स्थान नहीं है। अकारण ही मानव के समान्य जीवन को आशंका और आतंक से अशान्त बनाने वाले दानव का वध करना ही वहाँ श्रेयस्कर है। ऐसी अवस्था में यदि राम ने लवणासुर के वध के लिए शत्रुघ्न को भेजा और वह हिंसात्मक संग्राम में उनके द्वारा मारा गया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सीता पर आरोप लगाने वाले रजक को लवण असुर की पक्ति में बिठाना उचित नहीं है। रजक राम-राज्य का साधारण प्रजाजन था। राम-राज्य का समस्त गौरव प्रजाजन की श्रद्धा पर ही अवलम्बित था और उसमें एक एक व्यक्ति की श्रद्धा का अपरिमित मूल्य था। राम इस श्रद्धा को न बलपूर्वक प्राप्त कर सकते थे और न करना चाहते थे। ऐसा करके वे रजक के सामने पराजित हो जाते। इस साधारण संघर्ष में असफल होकर अपने सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता और महत्ता की मिट्टी में मिलाने के लिए वे तैयार न थे। रजक के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करने का मार्ग उन्होंने निकाल लिया। यह मार्ग था महारानी सीता को अपने से पृथक् करके वेदना की आग में जलने का। इस प्रकार सीता और राम दोनों ही की साधना एक नवीन पथ पर अग्रसर हुई और समाज में वह प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकी जिसमें रजक की अश्रद्धा और शंका सामाजिक आत्मग्लानि और अनुताप के समुद्र में निमज्जित हो गई। आर्य राम फिर विजयी हुए, युग-युग के लिए उनकी महत्ता और सीता की

पवित्रता की घोषणा हुई। यह विचार-धारा है जिसे अपने सामने रखकर हरिऔध जी ने रजक के सम्बन्ध में राम के द्वारा सामनीति का पालन कराया है।

आज मानव हिमालय की ऊँची से ऊँची चोटी पर चढ़ने में प्रयत्नशील है और इसी कार्य की सफलता में अपने को कृतार्थ समझ रहा है। 'वैदेही वनवास' में राम का जो चित्र अंकित हुआ है उसमें हम देखते हैं कि वे गिरिराज के दुर्गम शिखरों से भी अधिक दुर्गम और दुरारोह मानव के वैयक्तिक चरित्र की उत्कण्ठा को अधिकृत करने में सचेष्ट है। जहाँ तक पहुँचने की कल्पना में साधारण मानवता के पैर डगमग हो जायें और हृदय का धैर्य जाता रहे वहाँ स्थिर और नियमित रूप से विचरण करने वाले श्री रामचन्द्र की साधना से बढ़कर अन्य कोई विषय महाकाव्य को शायद ही मिल सके इस दृष्टि से महाकाव्य की रचना के लिए इस विषय का निर्वाचन करके हरिऔध जी ने अपने गम्भीर व्यक्तित्व सुसंस्कार तथा आध्यात्मिक विचार-धारा के अनुरूप ही क्षेत्र प्राप्त किया। सत्रहवें सर्ग में राम वनदेवी से कहते हैं :

लोकाराधन राजनीति सर्वस्व है,

है परार्थ, परमार्थ पंथ भी अति गहन।

पर, यदि ये कर्तव्य और सद्धर्म्य है,

सहनशक्ति तो क्यों न करे सकट सहन।

नवें सर्ग में वे लक्ष्मण से अपनी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट करते हैं।

बात तुम्हें लोकापवाद की ज्ञान है

मुझे लोक-उत्पीड़न बांछित है नहीं।

अतः बन् में क्यों न लोक-हित पथ-पथिक ?

स्पष्ट है कि प्रचलित लोकापवाद के आधार पर राम को इस निष्कर्ष पर आना पड़ा कि लंका में सम्पन्न की गई अग्नि-परीक्षा सीता की शुद्धि के लिए यथेष्ट नहीं है, और अभी एक ऐसी अग्नि-परीक्षा की आवश्यकता है जिसमें सीता को ही नहीं स्वयं उनको भी प्रवेश करना पड़ेगा। उनका उच्च चरित्र और आदर्श ही वर भूमि है। जिसमें उनके और सीता के तप का विशाल वट-वृक्ष विकसित हो गया। आत्मदाह, ग्लानि, व्यथा के अगणित शाखा-पल्लवों को लेकर खड़ा होने वाला यह वृक्ष ही 'वैदेही-वनवास' की घटना है। किन्तु इस वृक्ष का बीज कहाँ है ?

हरिऔध जी ने उक्त घटना-वृक्ष के बीज का निरूपण करने के लिए उस सम्पूर्ण द्वेषमय वातावरण को हमारे सामने प्रस्तुत किया है, जो रावण के वध के उपरान्त उसके सम्बन्धी मथुरा-मण्डल में लवण नामक असुर द्वारा विषाक्त बनाया जा रहा था, उनका आशय यह जान पड़ता है कि इसी वातावरण में रजक के सन्देह को भी पोषण प्राप्त करने का अवसर मिला। यह पूर्ण सम्भव है कि राम इस

वातावरण से परिचित रहे हो और उनके चित्त में उसकी कुछ प्रतिक्रियाएँ भी होती रही हो और तथा रजक का आरोप एक विस्फोट के रूप में उनके सामने उपस्थित हुआ हो। ऐसी अवस्था में यदि रजक के आरोप को हम बीज के रूप में स्वीकार करें भी तो उसे लवण द्वारा विकृत किये जाने वाले वातावरण से असम्बद्ध करके लेना उचित न होगा। ऐसा करना निश्चित रूप से कवि के उद्देश्य के विरोध में चलना होगा।

किसी-किसी सज्जन का मत है कि लवण असुर के वध की कथा का मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरी समझ में ऐसा सोचना बहुत बड़ा भ्रम है। वैसे तो वाल्मीकि, भवभूति आदि की रचना से कही ऐसी ध्वनि नहीं आती कि रजक को राम अथवा सीता के प्रति किसी प्रकार का द्वेष था, किन्तु यदि उसके लिए कही तनिक भी अवकाश हो तो हरिऔध जी ने उसके निराकरण के लिए लवण-सम्बन्धी घटना का 'वैदेही वनवास' में समावेश किया है। यही नहीं, उसके सहारे 'वैदेही वनवास' में युद्ध का एक वातावरण भी आ सका है, लवण के वध का वृत्तान्त सुनने के लिए कुछ उत्कण्ठा रहने लगती है, और वाल्मीकि के मुख से उसका समाचार पाकर सीता को कुछ सन्तोष हुआ हो या न हुआ हो, किन्तु पाठक को तो आश्वासन मिल जाता है कि पाप और अनीति का एक अवशिष्ट अङ्ग भी समाप्त हो गया।

रजक के हृदय में राम और सीता के प्रति भले ही द्वेष न रहा हो, किन्तु एक प्रकार का असन्तोष तो था ही जो लवण-असुर के दूषित प्रचार से बल सग्रह करके उपयुक्त अवसर पर व्यक्त हो उठा। लवण का वध असन्तोष की मुखरता को रोक सकता था, किन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा नाश नहीं कर सकता था। इस कार्य की पूर्ति के लिए तो राम और सीता का तप ही आवश्यक था, जो पराकाष्ठा को पहुँच कर न केवल अपने युग के अविश्वासों का समाधान कर सका वरन् आगे के युगों की श्रद्धा का भी समाधान करने में समर्थ हुआ, यह श्रद्धा ही वह फल है जिसे प्राप्त करने के लिए बीज वृक्ष के रूप में विकसित हुआ था।

राम और सीता की तपस्या का परमोत्कर्ष उनके मिलन के रूप में प्रकट हुआ, किन्तु वह अत्यन्त अधिक दैवी विभूति से अलंकृत होने के कारण टिक न सका :

ज्यों ही पति-प्राणा ने पति-पद-पथ का

स्पर्श किया निजोव मूर्ति-सी बन गई।

और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास ला

विषय ज्योति में परिणत वे पल में हुई ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'वैदेही-वनवास' केवल दुःखान्त नहीं रह गया, क्षण-

भर के लिए वह सुख भी लेकर आया, तपस्विनी सीता के गौरव और सम्मान की एक झाँकी भी उसने प्रस्तुत की।

निस्सन्देह 'वैदेही-वनवास' में राम और सीता की प्रमुखता है, किन्तु साथ-ही-साथ उसमें अन्य पात्रों का व्यक्तित्व भी है। लक्ष्मण का क्रोध, भरत की नीति-सम्पन्न रण-प्रेरणा, सीता के प्रति वशिष्ठ की सहानुभूति, वाल्मीकि की उदारशयता, विज्ञानवती का तर्क-वितर्क आदि अपनी विशेषता रखते हैं। सीता की परम शुद्धि रूप कार्य की सिद्धि में इन समस्त तत्वों ने उचित योग प्रदान किया।

राम के महापुरुषत्व और सीता के महानारीत्व का विकास करके हरिऔधजी ने उन्हें स्वाभाविक गति से क्रमशः ब्रह्म और प्रकृति के निकट पहुँचा दिया है। 'प्रिय प्रवास' में भी उन्होंने इसी प्रकार प्रगति की थी, किन्तु वहाँ उचित निष्कर्ष पर पहुँचने का भार पाठक पर छोड़ दिया गया था। 'वैदेही-वनवास' में राम और सीता के द्वारा अलौकिक तपस्या कराने के अनन्तर कवि को मौन रह जाना शायद खलने लगा है। वह घोषणा करता है :

“यदि रघुकुल तिलक पुरुष है
श्रीमती शिवित है उनकी ।
जो प्रभुवर त्रिभुवनपति है
तो आप भक्ति है उनकी ॥”

'वैदेही-वनवास' में हरिऔध जी की एक प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है, जो 'प्रियप्रवास' में नहीं देखी गई थी; यहाँ व्यक्तिगत जीवन के आदर्शों में उन्होंने पग-पग पर आध्यात्मिकता के सन्निवेश का समर्थन किया है। चौदहवें सर्ग में विज्ञान-वती नामक नूतन नारी पात्र की अवतारणाकरके उन्होंने उसमें तथा सीता में भौतिक एवं आध्यात्मिक आदर्श के सम्बन्ध में विचार-विनिमय कराया है। सीता के उत्तर में हमें कवि ही के विचारों की प्रतिध्वनि मिलती है :

“सत्य है प्रकृति होती है अति बलवती
आत्मिक सत्ता किन्तु साथ ही है सबल ।

भौतिकता यदि करे भूतपन भूत बन
क्यों न उसे आध्यात्मिकता तो दे मसल ।”

आध्यात्मिक भावना का प्रसार 'प्रियप्रवास' में भी यथेष्ट मात्रा में है, किन्तु वहाँ उसने काव्य-तत्त्व पर विजय नहीं प्राप्त की है। इसके विपरीत 'वैदेही-वनवास' में उसने प्रथम स्थान ग्रहण कर लिया है तथा काव्य-तत्त्व का स्थान गौण ही रहने दिया है। वर्तमान भारतीय समाज में भौतिक भावनाओं के अतिशय प्रचार के कारण कवि का खिन्न होना ही इसका कारण समझ पड़ता है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं

कि राम और सीता के आलम्बन से करुण रस का जितना परिपाक सम्भव था उतना 'वैदेही-वनवास' में सम्पन्न नहीं हो सका। शबूक-वध के प्रसंग से जनस्थान में जाकर भी राम सीता की स्मृति से उस प्रकार विकल नहीं दिखाये जा सके जिस प्रकार वे भवभूति द्वारा 'उत्तर-रामचरित' में दिखाये गये हैं।

'वैदेही-वनवास' में राम के चित्र की अपेक्षा सीता के चित्र में अधिक मार्मिकता और कवित्व है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में विलीन कर दिया है, उन्हें व्यथा केवल इस बात की है कि वे पति की सेवा से वंचित हो गई है :

“सेवा उसकी करूँ साथ रह

जी से जिसकी दासी हूँ ।

हूँ न स्वार्थ-रत, मैं पति के

संयोग-मुधा की प्यासी हूँ ॥”

'वैदेही-वनवास' में प्रकृति-वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। प्रकृति के स्वतंत्र चित्रों की दृष्टि से यह काव्य 'प्रियप्रवास' से आगे आया, किन्तु प्रकृति के आध्यात्मिक उपयोग की दृष्टि से 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-वनवास' की अपेक्षा आगे रहता है। फिर भी प्रकृति के स्निग्ध चित्र भी कहीं-कहीं मिलते हैं :

“मृगशावक थे सिंह सुअन से खेलते ।

उछल कूद में रत कपि मोद-निमग्न थे ।

जहाँ तहाँ मृग बड़े स्वभोले नयन से

सभय मनोहर दृश्य रहे अवलोकते

अलस भाव से विलस तोड़ते श्रंग थे

भरते रहे छलाँग जब कभी चौंकते ॥”

'वैदेही-वनवास' में अठारह सर्ग हैं। अनेक मात्रिक छंदों का प्रयोग करके हरिऔध जी ने उसमें 'प्रियप्रवास' की संस्कृत-गर्भित भाषा की अपेक्षा सरल भाषा लिखने की चेष्टा की है। किन्तु भाषा बहुत अधिक सरल नहीं हो सकी है और न 'प्रियप्रवास' की भाषा का संगीत ही उसमें आ पाया है। फिर भी 'वैदेही-वनवास' को एक सफल महाकाव्य इस कारण मानना होगा कि उसने अत्यंत ऊँचे स्तर पर कार्यशील होने वाली विचार एवं भाव धारा को स्वाभाविक भूमि पर प्रवाहित किया है। भारतीय समाज में अनावश्यक और अनुचित रूप से वृद्धिशील भौतिकता के प्रति उसने अपना विद्रोही स्वर भी व्यक्त किया है।

भौतिकता के उग्र प्रवाह में बहा जाने वाला समाज यदि 'वैदेही-वनवास' के अध्ययन से क्षण-भर के लिए भी ठहरकर यह सोच सकेगा कि आध्यात्मिकता के बिना शांति, प्रगति, विकास संभव नहीं है तो 'वैदेही-वनवास' की रचना सार्थक और सफल

होगी और कवि की आत्मा को भी शान्ति प्राप्त होगी ।

: ४ :

‘प्रियप्रवास’ के कथानक में वैसी उलझने नहीं है जैसी ‘साकेत’ के कथानक में है । ‘प्रियप्रवास’ में श्रीकृष्ण नायक है, राधा नायिका है, राधा के हृदय में प्रणय का उदय होता है; परिस्थितियाँ श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाती हैं, राधा और कृष्ण का शारीरिक मिलन फिर कभी सम्भव नहीं होता, प्रकृति के सम्पर्क में राधा के स्वविवेक का विकास होता है और शारीरिक वियोग के कारण उसे जो व्यथा उठानी पड़ती है उसका बहुत-कुछ समाधान उक्त विकास को आध्यात्मिक परिणति में उपलब्ध हो जाता है । कथानक की केन्द्रिकता का निर्वाह उचित मात्रा में है; किसी उपनायक अथवा उपनायिका ने प्रधान पात्रों की प्रगति में कोई बाधा नहीं खड़ी की है ।

‘प्रियप्रवास’ और ‘साकेत’ दोनों ही को सहयोगी काव्य मानना उपयुक्त होगा । भारतीय इतिहास के सातवाहन और गुप्त युगों में इन्द्रादि वैदिक देवताओं के स्थान में विष्णु और शिव की आराधना बढ़ी । कृष्ण और राम विष्णु के अवतार के रूप में जनता की श्रद्धा के भाजन बने । इन्हीं दोनों के व्यक्तित्व का अवलम्ब लेकर हिन्दी-काव्य उन्नति की चोटी पर आरोहण हुआ । ‘प्रिय प्रवास’ और ‘साकेत’ के रूप में कृष्णावतार और रामावतार-काव्य की परम्परा का निर्वाह हमारे वर्तमान युग में भी हो रहा है ।

कृष्ण और राम-जैसे महच्चरित्र को प्राप्त करके ‘प्रियप्रवास’ और ‘साकेत’ में उदात्त नायक की सुलभता स्वयंसिद्ध थी; यह सुविधा ‘कामायनी’ को नहीं प्राप्त हुई । ‘कामायनी’ का नायक मनु अत्यन्त दुर्बल, चंचल, मोह-मग्न है । किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उदात्त नायक का संगठन जिन तत्त्वों से होता है, उनका भी ‘कामायनी’ में अभाव है । नहीं, ये सभी तत्त्व प्रचुर मात्रा में हमें ‘कामायनी’ में प्राप्त होते हैं । अस्त ।

एक मूल से चलकर ‘प्रियप्रवास’ और ‘साकेत’ ने अपनी प्रगति के लिए विभिन्न दिशाएँ ग्रहण कर ली हैं । ‘साकेत’ ने राम के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया, वैसा करने के लिए उसके सामने कोई कारण भी नहीं था । इसके विपरीत ‘प्रियप्रवास’ ने कृष्ण के स्वरूप में परिवर्तन किया, उसके सामने ऐसा करने के लिए उचित कारण थे । जाग्रत युग के बौद्धिक वातावरण में कृष्ण अपने अमर्यादित रूप में, परब्रह्म के अवतार-रूप में मान्य कृष्ण की तुलना में, असंगत प्रतीत हो रहे थे और लोकमत के साथ उनका विवेक के आधार पर समन्वय होना आवश्यक था ।

महाकाव्य में दो विरोधी संस्कृतियों का संघर्ष आवश्यक होता है । प्रिय-

प्रवास' में इसका अभाव है। कृष्ण के प्रतिपक्षी कंस को किसी विरोधी संस्कृति का अनुयायी नहीं कह सकते। कृष्ण का वह मामा था और वसुदेव तथा देवकी के साथ उसने चाहे जितना दुर्व्यवहार किया हो, यह नहीं कहा जा सकता कि उसके और कृष्ण के संघर्ष में जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का कोई बहुत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। इस कारण 'प्रिय प्रवास' में राधा के व्यक्तिगत विकास को छोड़कर महाकाव्य के अनुरूप कोई महती घटना नहीं आ पाई है। इसके अतिरिक्त प्रतिनायक के रूप में कंस अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य है; वह कृष्ण के उत्कर्ष को बढ़ाने में समर्थ नहीं है। कथावस्तु के लिए कृष्ण के जीवन का आधा भागविशेष ही लेने के कारण 'प्रियप्रवास' के सामने यह असुविधा उपस्थित हुई है। इसके विपरीत 'साकेत' में सांस्कृतिक संघर्ष केवल एक व्यक्तिगत घरे के भीतर ही संकुचित होकर नहीं रह गया है वरन् परस्पर मूलतः विरोधी आचार-विचार, स्कार एवं परम्परा पर आधारित दो मानव-समूहों के जीवन-मरण-संग्राम का प्रतिनिधि बन सका है। प्रतिनायक के रूप में पराक्रमी रावण राम के पराक्रम और उत्कर्ष को बढ़ाता तथा महाकाव्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

मैंने अभी कहा है कि 'प्रियप्रवास' की महती घटना राधा का व्यक्तिगत विकास है। प्रकृति के निरन्तर सम्पर्क ने प्रियतम की बार-बार याद दिलाकर पहले तो उसके हृदय-दाह को उत्तेजना प्रदान की, किन्तु बाद को अपनी अतिशयता को प्राप्त होकर वही हृदय-दाह शीतल शान्ति के रूप में परिणत हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप राधा एक नये सौँचे में ढल गई। राधा के इस नये रूप को हमारे सामने उपस्थित करके 'प्रियप्रवास' ने हिन्दी-साहित्य को एक अनुपम, मौलिक सौंदर्य-सृष्टि दी है।

राधा का यह विकास-कार्य कृष्ण-विरह की भूमि पर सम्पन्न हुआ है। यदि कृष्ण से उसका वियोग न होता तो शायद वह ज्यों-की-त्यों रह जाती। अतएव, अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए विरह-भावना को उद्दीप्त करने की ओर 'प्रियप्रवास' में बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। प्रथम सर्ग ही में हमें 'दिवस का अवसान' मिलता है, जो काव्य की प्रगति और उसके उद्देश्य की ओर बड़ी मार्मिकता के साथ संकेत करता है। उक्त सर्ग में गायों को चराने के बाद संध्या समय कृष्ण के घर लौटने का सुन्दर दृश्य चित्रित करने के अनन्तर कवि स्पष्ट रूप से हमें सूचना दे देता है :

“विशद चित्रपटी नजभूमि की,

रहित आज हुई घर चित्र से।

छवि यहाँ पर अंकित जो हुई,
अहह ! लोप हुई सब काल को ॥”

तीन सर्गों तक विरह के बातावरण को अच्छी तरह तैयार कर लेने के अनन्तर कवि ने चतुर्थ सर्ग में हमारे सामने राधा को प्रस्तुत किया है। अतः राधा के विकास-कार्य का ‘आरम्भ’ उक्त सर्ग के नवे छंद में उन्नीसवें छंद तक मानना चाहिए। आगे आठवें सर्ग तक मथुरा से नन्द के अकेले लौटने की परिस्थिति आ जाती है और यशोदा को कृष्ण के वापिस आने के सम्बन्ध में शंका होने लगती है। वे नन्द से कहती हैं :

“क्या देखूँगी न अब कढता इन्दु को आलसों में ।
क्या फूलेगा न अब गृह में पद्म सौंदर्यशाली ॥
मेरे छोटे दिवस अब क्या मुग्धकारी न होंगे ।
क्या प्यारे का अब न मुखड़ा मंवरों, मैं बिखेगा ॥”

यशोदा की यह आशंका राधा-विकास-कार्य के कारण को ‘प्रयत्न’ की ओर अग्रसर करती है। यहाँ प्रयत्न से तात्पर्य यह है कि राधा की वियोग-वेदना को बढ़ाने के लिए परिस्थिति और भी गम्भीरता धारण करने जा रही है। जिस कार्य की ओर कथानक प्रगति कर रहा है वह सिद्ध होकर रहेगा, इसकी आशा नवें सर्ग के छठे पद्य में उद्दिष्ट होती है, जब प्रवासी श्रीकृष्ण ऊधो को बुलाकर कहते हैं :

“पेचीले नव राजनीति पचड़े जो वृत्ति हैं पा रहे ।
यात्रा में ब्रजभूमि की अहह बे हें विघ्नकारी बड़े ॥
आते वासर हें नवीन जितने लाते नये प्रश्न हें ।
होता है उनका दुरुहपन भी व्याघातकारी महा ॥”

इस ‘प्राप्त्याशा’ के अनन्तर दसवें सर्ग के चौतीसवें पद्य में हमें जान पड़ने लगता है कि अब फल की प्राप्ति निश्चित है, अर्थात् कथावस्तु की प्रगति में अब हम ‘नियताप्ति’ की स्थिति तक पहुँच गये हैं। उक्त पद्य की पंक्तियाँ देखिये, यशोदा ऊधो से कहती हैं:—

“कैसे भूलीं सरस खनि सी प्रीति की गोपिकाएँ ।
कैसे भूले मुहुवपन के सेतु से ग्वाले ॥
शान्ता धीरा मधुरहृदया प्रेमरूपा रसज्ञा ।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा राधिका मोहमग्ना ॥”

विरह की स्थायिता में अब कोई सन्देह नहीं रह गया है, ऊधो के आने के पहले तो कृष्ण के लौटने की कुछ आशा भी थी, लेकिन योग और भक्ति के रूखे सन्देश लाने वाले ऊधो के आने के साथ ही अब सब आशा समाप्त हो गई। यहाँ

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब विरह की स्थिति में पूर्णता आ गई तब इस अवस्था को हम नियताप्ति क्यों कहें ? फलागम, फल-प्राप्ति की स्थिति क्यों न कहें ? इस सम्बन्ध में पाठकों को स्मरण होगा कि 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु के कार्य का जहाँ मैंने उल्लेख किया है वहाँ उसे विरहात्मक नहीं बताया है वरन् यह कहा है, कि वह राधा और कृष्ण के आध्यात्मिक मिलन के रूप में प्रस्फुटित हुआ। यह मिलन हमें सोलहवें सर्ग के ११० तथा ११२ संख्यक पद्यों में सम्पन्न होता दिखाई पड़ता है, जहाँ राधा ऊधो से कहती है :

“ताराओं में, तिमिरहर में, वल्लिविद्युल्लता में—
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसीकी ।
ध्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में—
पाती हूँ मैं प्रथितप्रभुता विश्व में व्याप्त की हो ॥
मैंने की है कथन जितनी शास्त्रविज्ञान बातें
वे बातें हैं प्रकट करतीं ब्रह्म है विश्वरूपी ।
व्यापी है विश्व प्रियतम मैं विश्व में प्राणप्यारा ।
यों ही मैंने जगतपति को प्रियाम में है विलोका ॥”

प्रकृति की सावकता के द्वारा सम्पन्न होने वाली राधा की इस अद्वैत सिद्धि में प्राकृतिक रहस्यवाद की झलक माननी चाहिए ।

मैंने कहा है कि हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण के सगुण ब्रह्म रूप के स्थान में उन्हें महापुरुष के रूप में अंकित किया है तथा ऐसा करने के लिए उचित कारण उनके सामने उपस्थित थे । बात यह है कि पौराणिक धर्म की उन्नति होने पर स्वामी रामानुजाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का खंडन करके ब्रह्म की चिद-चिद्विशिष्टता पर विशेष बल दिया तथा विशिष्टाद्वैतवाद का झंडा फहराकर निर्गुणता को स्वीकार करते हुए भी सगुणोपासना का प्रचार किया । उन्होंने विष्णु और लक्ष्मी की आराधना को प्रोत्साहन दिया । उनके अनुयायी स्वामी निम्बाकिचार्य ने विष्णु और लक्ष्मी के स्थान में कृष्ण और गोपी की उपासना प्रचलित की । गोपी के स्थान में 'राधा' का समावेश सबसे पहले 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में आया । हिन्दी के कृष्णकाव्यकारों की रचनाओं के आधार रूप स्वयं 'भागवत' में राधा का उल्लेख नहीं है । मुसलमानी राज्य स्थापित हो जाने के अनंतर सूफीवाद के प्रचार की बाढ़ को रोकने के लिए महाप्रभु स्वामी बल्लभाचार्य ने राधा-कृष्ण की मधुर उपासना का प्रचार किया । सूरदास-जैसे कवि की लेखनी का सहारा पाकर श्रीकृष्ण के गोपीवर्त्म और बालस्वरूप की आराधना-पद्धति चमक उठी । वैष्णव धर्म ने हिन्दुओं ही को नहीं, मुसलमानों को भी आकर्षित किया । किन्तु कालान्तर में

रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण-काव्य का स्तर बहुत नीचा कर दिया; उन्होंने राधा-कृष्ण का उपयोग नायिका-भेद-निरूपण के सिलसिले में नायक और नायिका के रूप में शुरू कर दिया। इस शोचनीय स्थिति को समाप्त करने के दो ही उपाय सम्भव थे—(१) श्रीकृष्ण का चित्रण सगुण ब्रह्म के रूप में किया जाय, जैसा कि सूरदास ने किया था, (२) वे महापुरुष में अंकित किये जायें। आर्यसमाज आन्दोलन ने जो बौद्धिक वातावरण निर्मित कर दिया था उसमें श्रीकृष्ण को सगुण ब्रह्म के स्तर पर पहुँचाना कठिन काम था। इस कारण अधिक ग्राह्यता और लोकप्रियता की आशा से कवि को महापुरुष के रूप में ही उन्हें ग्रहण करना उचित समझ पड़ा।

‘प्रियप्रवास’ में बौद्धिक समाधान का प्रयत्न तो किया गया, किन्तु फिर भी एक कसर रह गई। श्रीकृष्ण मथुरा से गोकुल क्यों नहीं जा सके?—बीसवीं शताब्दी का प्रबुद्ध पाठक यह प्रश्न कर सकता है। राजनैतिक पचड़े बढ़ गये हैं, अवकाश नहीं मिलता—उक्त प्रश्न के उत्तर में यह सब बहाने बेकार हैं। व्यस्त-से-व्यस्त राजनैतिक पदाधिकारी न केवल अपने मनोरंजन के क्षणों का बलिदान नहीं करता, वरन् उनका आवाहन करता है। कवि को राजनैतिक व्यवधान के अतिरिक्त अन्य किसी ठोस व्यवधान की भी कल्पना करनी चाहिए थी।

हिन्दी-काव्य-जगत् में ‘प्रियप्रवास’ की गणना सदैव एक क्रान्तिकारी काव्य के रूप में की जायगी। रीतिकालीन दलदल में से तो उसने कृष्ण-काव्य का उद्धार किया ही, साथ ही अन्य अनेक प्रकार से भी नवीनता और नवशक्ति का संचार उसके द्वारा हो सका। इनमें से जो विशेष उल्लेख-योग्य है उनकी ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है।

(१) ‘प्रियप्रवास’ के पहले हिन्दी में कोई महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य केवल संस्कृत छन्दों में नहीं लिखा गया था।

(२) ‘प्रियप्रवास’ के पहले किसी भी कवि ने इतने विस्तार के साथ किसी प्रबन्धकाव्य में अतुकान्त छन्दों का प्रयोग नहीं किया था।

(३) ‘प्रियप्रवास’ के पहले किसी काव्य में प्रकृति के सहयोग में मानव-व्यक्तित्व के विकास का चित्र अंकित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था।

(४) ‘प्रियप्रवास’ के पहले ‘रामचरितमानस’ को छोड़कर हिंदी का अन्य कोई काव्य समाज-सेवा के सिद्धान्त को लेकर अग्रसर नहीं हुआ था। भारतेन्दु के समय से प्रवाहित देश-भक्ति के तत्त्व को ‘प्रियप्रवास’ ही ने सर्वप्रथम काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की।

(५) सूरदास, तुलसीदास, मीरा की गीतिकाव्यात्मक रचनाओं के अनन्तर एक लम्बी अवधि तक हृदय-तत्त्व की विशेषताएँ लेकर कोई भी काव्य हिन्दी में

प्रस्तुत नहीं किया जा सका था। इस अभाव का निराकरण 'प्रियप्रवास' ने किया।

इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' की भाषा भी उसकी एक विशेषता है। किन्तु हिन्दी के कुछ विद्वानों का मत है कि वह विशेषता नहीं है, वरन् एक त्रुटि है। स्व० पं० श्रीधर पाठक ऐसे ही लोगो में थे। अतः यह प्रश्न भी विचारणीय हो जाता है।

'प्रियप्रवास' की भाषा संस्कृतगर्भित भले ही हो, जनता की भाषा से भी भले ही वह दूर बतलाई जाय, किन्तु जिन परिस्थितियों में उसके स्वरूप का संगठन हुआ है उनमें उसे अस्वाभाविक नहीं कह सकते। हमें यह न भुला देना चाहिए कि यदि संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में काव्य लिखा जायगा तो उसकी भाषा को संस्कृत पदावली से अनुराग बढ़ाना ही पड़ेगा। 'प्रियप्रवास' के किसी भी पद्य को लेकर हम देख सकते हैं कि उसमें से एक शब्द को भी डधर-से-उधर करना अथवा उसके स्थान में सरल शब्द की योजना करना संभव नहीं है। अधिकरण कारक-चित्तो के लोप-सम्बन्धी दोषारोपण से मुक्त होने के लिए स्वयं कवि ने जो परिवर्तन भाषा में किये हैं वे सर्वत्र सफल नहीं हुए हैं और कहीं-कहीं तो संगीत-मंचार में उनसे बाधा पड़ी है। अतएव, 'प्रियप्रवास' की भाषा पर होने वाले आक्रमण को हमें वास्तव में हिन्दी-काव्य में वर्णवृत्तों के प्रयोग पर होने वाला आक्रमण मानना चाहिए।

रही यह बात कि संस्कृत-वर्णवृत्तों का प्रयोग ही क्यों हो, सो इस प्रवृत्ति को रोकना कठिन है; भारतीय समाज स्वतंत्र हो और संस्कृत के काव्य, संस्कृत के छंद आदि के प्रति हमारी अभिरुचि न बढ़े यह संभव नहीं है। 'प्रियप्रवास' की रचना और उसके प्रकाशन के समय लोगो के विचार उसकी भाषा के सम्बन्ध में चाहे जैसे रहे हो, किन्तु अब उसकी भाषा को दुरुह और जटिल कहने वालों की संख्या उँगलियों पर गिनी जाने योग्य रह गई है।

हिन्दी महाकाव्यों में 'प्रियप्रवास' का क्या स्थान होगा? अन्त में इस प्रश्न पर भी हमें विचार कर लेना चाहिए। खड़ी बोली के सम्मानित महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' हैं; और 'प्रियप्रवास' इनमें सबसे पहले प्रकाशित हुआ है। नये युग को प्रवर्तित करने का ऐतिहासिक श्रेय तो उस मिलेगा ही, किन्तु उसकी सफलता की सीमा इससे और आगे तक है। निस्संदेह उसकी कथावस्तु बहुत छोटी है और महाकाव्य के अनुरूप तथा जीवन के विविध अंगों को स्पर्श करने वाले विराट्त्व का उसमें सीमित समावेश ही हो सका है, तथापि उसके पास एक ऐसी विभूति है जिसका स्वरूप उतनी शक्तिशाली मात्रा में न 'साकेत' में दिखाई पड़ता है और न 'कामायनी' में; यह विभूति है मानव-हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति। 'साकेत' में छमिला की व्यथा के चित्रण में, तत्कालीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में, अतिरंजना

की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार 'कामायनी' में 'श्रद्धा' साधारण मानवता के स्तर से बहुत ऊँची और बहुत पृथक् हो जाने के कारण हमारी पहुँच के परे हो गई है, उसका नारीत्व व्यापक रूप से सम्पूर्ण जीवन में प्रतिष्ठापित नारीत्व का प्रतिनिधित्व कर सकता है, किन्तु औसत श्रेणी का मानव उसके मनोभावों के जगत् में पूर्णतया प्रवेश नहीं कर पाता। इन दोनों ही के विपरीत 'प्रियप्रवास' की राधा का हृदय हमारे लिए पुस्तक का एक खुला हुआ अध्याय है, उसकी समस्त वृत्तियों से हमें परिचय प्राप्त है, उसका प्रत्येक व्यवहार हमारे दैनिक जीवन में लक्षित होता है। उसके साथ-साथ हम प्रेम करते हैं, वियोग-मग्न होकर अधीरता का अनुभव करते हैं और समय के प्रवाह में पड़कर धैर्य और संतोष से भी परिचय प्राप्त करते हैं। हमारा सम्पूर्ण विषाद-विष हमारे शारीरिक विधान में अन्तर्लीन होकर, पचकर हमारे नाश का नहीं, विकास का कारण बनता है। मैं यह नहीं कहता कि 'साकेत' और 'कामायनी' में इस तत्त्व का सर्वथा अभाव है, मेरा निवेदन इतना ही है कि 'प्रियप्रवास' में इसकी अपेक्षाकृत अधिकता है। इसमें संदेह नहीं कि अपनी इस विशेषता के कारण हिंदी-काव्यों की मंडली में 'प्रियप्रवास' सदैव एक श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी रहेगा।

छे ::

:: गुप्त जी का 'साकेत'

संस्कृत-वृत्तो का सहारा लेकर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रियप्रवास' में एक अनुपम संगीत का संचार कर दिया था। यही कार्य 'साकेत' में बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अधिकांश में हिंदी छन्दों ही का अवलम्बन लेकर कर दिखाया है। 'साकेत' में महाकाव्य के अनुरूप भाषा का गौरव, माधुर्य और प्रवाह मनोरम है। ये गुण नवे सर्ग में, जहाँ काव्य को विरहिणी उर्मिला की भावुकता का सहयोग प्राप्त होता है, सबसे अधिक प्रकट हुए हैं। विविध छंदों के प्रयोग का उतार-चढ़ाव, जो प्रवाह में बाधक नहीं, सहायक ही होता है, वियोग की चिंता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद आदि अवस्थाओं का भावपूर्ण चित्रण तथा वेदना-कथन में गीतिकाव्यात्मक तत्त्व का सन्निवेश— ये सब इस सर्ग को अनमोल विशेषताओं से सम्पन्न बनाकर सम्पूर्ण काव्य का हृदय होने का महत्त्व प्रदान करते हैं। किन्तु यदि एक ओर यह सर्ग इस काव्य का शृंगार है तो दूसरी ओर इसकी अनेक कठिनाइयों का सृजन भी इसी सर्ग ने किया है।

नवम सर्ग के विस्तार और उसके संबंध में कवि की विशेष अभिरुचि के कारण यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि उर्मिला इस काव्य की नायिका है। स्व-भावतः लक्ष्मण इसके नायक पद पर आरूढ़ हो जाते हैं। इसी ओर लक्ष्य करके 'साकेत एक अध्ययन' के लेखक डा० नगेन्द्र ने कहा है :

“साकेत का रंगस्थल है अयोध्या, और उर्मिला-विरह ही उसकी सबसे महत्वपूर्ण घटना है। अतः उसका कार्य उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन है और लक्ष्मण-शक्ति, मेघनाद-रावण-वध आदि घटनाएँ आनुषंगिक रूप में उसके सम्पादन में सहायक होती हैं।”

× × × ×

“अरस्तू के अनुसार वस्तु के तीन अंग हैं—आदि, मध्य और अवसान। तीन स्पष्ट होने चाहिए, तभी विन्यास संघटित होगा। 'साकेत' की मुख्य कथा उर्मिला-लक्ष्मण के संयोग-वियोग की कथा है, जिसके साथ राम और सीता की कथा भी लिपटी हुई है।”

डाक्टर नगेन्द्र ने उर्मिला-लक्ष्मण की संयोग-वियोगमयी कथा में उक्त तीनों

अंगों का निर्देश किया है :

“विनोद-वार्त्ता से लेकर चित्रकूट-मिलन तक आदि, समस्त विरह-निवेदन मध्य और एकादश सर्ग में शत्रुघ्न द्वारा राम के कार्यों की चर्चा से लेकर उनके मिलन तक अवसान है।”

×

×

×

“पहला वियोग चित्रकूट के मर्मस्पर्शी क्षणिक मिलन के उपरान्त ही पूर्ण होता है। नवम-दशम सर्ग विरहिणी का विरह निवेदन है, जो भरत-माडवी के वार्त्तालाप तक चलता है। शत्रुघ्न द्वारा राम के साहसिक कृत्यों का वर्णन कथा को अवसान की ओर उन्मुख करता है।”

यहाँ तक तो एक विचार-श्रृंखला चली आ रही थी और लक्ष्मण को साकेत के नायक के रूप में पाकर हम सरलता का अनुभव कर रहे थे, किन्तु डाक्टर नगेन्द्र अपने उक्त ग्रन्थ में ही इसके ठीक विरोध में खड़ी होने वाली एक दूसरी बात कह बैठते हैं :

“साकेत प्रबन्ध-काव्य है। उसमें जीवन को समग्र रूप में ग्रहण किया गया है। दूसरे उसके चरितनायक हैं आर्य संस्कृति के सबसे महान् प्रतिष्ठापक भगवान् राम……।”

साहित्य के विद्यार्थी के सामने एक बड़ी कठिन परिस्थिति है। वह लक्ष्मण को नायक माने अथवा राम को ? यदि राम नायक मान लिये जाते हैं तो सीता काव्य की नायिका के गौरवपूर्ण पद पर सहज ही आरूढ़ हो जाती है। किन्तु उस अवस्था में उर्मिला के लम्बे, विस्तृत नवम सर्ग-व्यापी रुदन का क्या होगा ? क्यों उपनायिका का इतना अधिक रोदन पाठक के लिए उद्वेगकर नहीं होगा ?

‘साकेत’ में यह कठिनाई क्यों खड़ी हुई है ? सच बात यह है कि उसके रचयिता की इच्छा एक ओर तो रामकाव्य लिखने की रही है, दूसरी ओर उपेक्षित उर्मिला को प्रमुख महत्व देने की अभिलाषा भी उसे प्रेरित करती रही है। किन्तु एक साथ दोनों का होना काव्य को क्षति पहुँचाये बिना संभव नहीं है। सीता और रामचन्द्र के महान् व्यक्तित्व के सामने उर्मिला और लक्ष्मण को संकुचित हो जाना पड़ा है।

‘गुप्त जी की काव्य-धारा’ में मेरे सामने यही कठिनाई रही है। गुप्त जी ने कथावस्तु को जैसा स्वरूप दिया है उसमें एक ओर तो वियोगिनी सीता शत्रु के कारावास में वन्दिनी है, दूसरी ओर उर्मिला राज-भवन में भी सीता से बढ़कर वियोगिनी कहलाने की परिस्थिति खड़ी कर रही है; कवि ने दोनों ही को अपने हृदय का रस प्रदान किया है, जिससे दोनों ही में जीवन आ गया है और महाकाव्य की नायिका

का पद ग्रहण करने के संबन्ध में स्वभावतः दोनों में होड़ हो गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस होड़ में उर्मिला ही को पराजित होना पड़ेगा।

उर्मिला का आँसू बहाना चिन्त्य नहीं है; उसे रोने का अधिकार है। एक सीमा तक हमें भी उसके आँसुओं में स्नान करके पवित्र होने की इच्छा होती है। किन्तु 'साकेत' में सीता की तुलनात्मक परिस्थितियों के खड़ी हो जाने के कारण हमें ऐसा जान पड़ने लगता है कि अपने अधिकार पर इतना अधिक आग्रह करके उसने उचित नहीं किया। इन्हीं तुलनात्मक परिस्थितियों के कारण हम उससे त्याग की उच्चतर भावना की अपेक्षा करने लगते हैं और स्वभावतः उस अवस्था में उसे उचित से अधिक आँसू बहाते हुए देखकर हमको विरक्ति-सी होने लगती है।

'प्रियप्रवास' में राधा की स्थिति 'साकेत' की उर्मिला की स्थिति से कम शोचनीय नहीं है। लक्ष्मण के लौटने की तो अवधि निर्धारित थी। किन्तु श्रीकृष्ण का प्रवास तो निरवधि था। उर्मिला की अपेक्षा अधिक अश्रु-प्रवाह और वेदना-तप्त निश्वास-निक्षेप के लिए सर्वथा उचित कारण होने पर भी राधा ने अपना समय नष्ट नहीं किया; साधना द्वारा व्यथा पर विजय प्राप्त करके उसने अपने व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाया और उसकी सहायता से समाज की समस्याओं को हल किया। क्या उर्मिला इस उच्च स्तर पर पहुँचाई जाने के योग्य नहीं थी?

भाप के निकलने से यह सूचना तो मिलती है कि रेल के इंजन में गरमी है, किन्तु यदि सारी भाप निकाल दी जाय तो इंजन स्वयं न चल सकेगा, गाड़ी खींचने की तो बात ही अलग। इसी प्रकार क्या यह अधिक उचित न होता कि उर्मिला के आँसुओं पर नियंत्रण स्थापित करके उसकी आत्म-शक्ति का विकास किया जाता, जिससे नाना प्रकार की शोचनीय परिस्थितियों में पड़े हुए अन्य लोगों का भी उद्धार हो सकता। यह स्मरण रहे कि ये बातें उक्त तुलनात्मक परिस्थिति के उत्पन्न होने के कारण ही कही जा रही हैं। इसी विचित्र बाधा के कारण उर्मिला के विरह-वर्णन का रसास्वादन करने में मुझे असमर्थ हो जाना पड़ा है।

'साकेत' का जैसा स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हुआ है, उसमें उसका कार्य उर्मिला-लक्ष्मण मिलन वस्तुतः उतने अंशों में नहीं रह जाता जितने अंशों में सीता और रामचन्द्र का मिलन उस रूप में प्रमुख हो उठता है। यह सीता कोई साधारण वस्तु नहीं है, सम्पूर्ण भारत की लक्ष्मी होने का गौरव उसे प्राप्त है, भारत का प्रतिनिधि-स्वरूप रामचन्द्र जैसा महान् व्यक्तित्व उसे उतना ही रक्षणीय समझता है जितना स्वयं अपनी संस्कृति को। इसका यह अर्थ है कि मात्र एक दम्पति-मिलन अथवा एक नारी का उद्धार 'साकेत' की कथावस्तु का कार्य नहीं है, वरन् उसमें एक सांस्कृतिक संघर्ष भी है, जिसकी अग्नि-परीक्षा में खरे उतरकर रामचन्द्र ने उसे उस

विजयोल्लास और उद्दीप्ति से सम्पन्न कर दिया है जो वास्तव में महाकाव्य का प्राण है। सीता और रामचन्द्र का सहारा लिये बिना गुप्त जी इस तथ्य का उपयोग नहीं कर सकते थे और इसके अभाव में उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन अधिक-से-अधिक एक खण्डकाव्य की सामग्री प्रस्तुत कर सकता था।

'साकेत' की रचना में लगकर गुप्त जी जिस बेढव परिस्थिति में पड़ गये उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। एक ओर तो वे उपेक्षिता उर्मिला की शिकायत दूर करना चाहते थे, दूसरी ओर अपने काव्य को खण्डकाव्य-मात्र रखने के लिए तैयार नहीं थे। लक्ष्मण को एक विराट् चरित्र के रूप में परिणत करके भी सफल महाकाव्य के प्रणयन का प्रयोग किया जा सकता है, इस सबध में उन्होंने विचार न किया हो, यह संभव नहीं है। किन्तु तनिक-सी उत्तेजना मिलने पर भी सर्प की तरह फुफकार उठने वाले लक्ष्मण को विराट् चरित्र के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उन्हें कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

इसके अतिरिक्त एक उल्लेख योग्य बात तो यह है कि गुप्त जी का कविव्यक्तित्व राम-तत्त्व की ओर सतत उन्मुख होने के कारण उसके अभाव में उसी प्रकार अतृप्त रह जाता जिस प्रकार आमंत्रित व्यक्ति राम-रस से शून्य सुन्दर व्यंजनो को भी सामने थाली में परोसा हुआ देखकर असंतुष्ट ही रहता है।

इसकी अपेक्षा यह कारण कम महत्वपूर्ण नहीं है कि उर्मिला की उपेक्षा वाली शिकायत को दूर करने के लिए भी सीता और राम का समावेश 'साकेत' में आवश्यक था, क्योंकि जिन परिस्थितियों में वाल्मीकि और तुलसीदास ने उर्मिला की उपेक्षा की थी उनको ज्यों-की-त्यों बनाए रखकर ही तो उसको उभाड़ने में सार्थकता थी? यह एक प्रकार का विद्रोही भाव था जिसे लेकर गुप्त जी काव्य के क्षेत्र में अग्रसर हुए थे। यदि वे सफल हो जाते तो निस्संदेह उनकी विजय विश्व-साहित्य की एक गौरवमयी विभूति होती और यदि वे सफल नहीं हुए तो यह भी मानना पड़ेगा कि उनकी एतद्विषयक असफलता महान् है और उनके स्थान में अन्य किसी कवि का भाग्य भी इससे विपरीत न होता।

प्रियप्रवास' और 'कामायनी' में कथावस्तु-सम्बन्धी इस प्रकार की उलझनें नहीं हैं। वहाँ दो नायकों और नायिकाओं के सामने पड़कर पाठक इस दुविधा और असमंजस में नहीं पड़ते कि किसे अपनी श्रद्धा भक्ति-दे और किसे न दे। वहाँ महाकाव्य की घटना के मर्मस्थल पर एक नायक और एक नायिका का असंदिग्ध अधिकार है, जिससे वस्तु की प्रभावमयी केन्द्रिकता को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती।

'साकेत' के नवम सर्ग ने जो समस्याएँ हमारे सामने खड़ी कर दी हैं, उनकी

और पाठक का ध्यान आकर्षित किया जा चुका। अब वह इस काव्य का शृङ्गार क्यों है, इसके सम्बन्ध में कुछ कथन किया जायगा।

यह सर्ग कलात्मकता की दृष्टि से हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में एक बेजोड़ कृति है। आरम्भ की अड़तीस पक्तियों में करुण-रस-प्रवाह की सुन्दर पृष्ठभूमि तैयार करके कवि ने उर्मिला के मानसिक उतार-चढ़ाव की अभिव्यक्ति को गीतिकाव्यात्मक स्वरूप दिया है। विरह की अनेक परिस्थितियाँ दिखाई गई हैं जिनमें विशेष उल्लेख योग्य है उन्माद की वह अवस्था, जिसमें उर्मिला को आस-पास इधर-उधर प्रियतम का स्वरूप देख पड़ता है। वह सोचती है कि अवधि बीत गई और उसके हृदय-धन आ गए, किन्तु उन्माद में भी वह सजगता का परिचय देती है और लक्ष्मण के साथ अन्य किसी को न देखकर यह समझती है कि वे या तो भाग आये हैं अथवा किसी कारणवश क्रोध के पात्र होकर अग्रज और भाभी का साथ छोड़ने के लिए विवश हुए हैं। इस संभव घटना को एक मान्य तथ्य के रूप में ग्रहण करके वह अपने हृदय के शोकोद्गार प्रकट करती है, जिनसे पता लगता है कि विरह की आग में जलती रहने पर भी उस प्रकार के मिलन के लिए वह तैयार नहीं है। वह लक्ष्मण की जिस प्रकार भर्त्सना करती है, उससे उसकी उच्च संस्कृति का परिचय मिलता है। किन्तु वह इसी रूप में स्थित नहीं रहती; उन्माद उसे और आगे ले चलता है और प्रियतममयी होकर वह लक्ष्मण के व्यक्तित्व को अपने ऊपर आरोपित करती तथा अपने द्वारा की गई भर्त्सना का ऐसा उत्तर देने लगती है जैसा शायद लक्ष्मण उस कल्पित परिस्थिति में पड़कर देते। कतिपय पक्तियाँ देखिए :

(१) “अब नहीं रही दोन में कभी, तुम मुझे मिले तो मिला सभी।

प्रभु कहां ? कहां किंतु अग्रजा ? कि जिनके लिए था मुझे तजा।

वह नहीं फिरे ? क्या तुम्हीं फिरे ? हम गिरे अग्रो ! तो गिरे, गिरे।

घर फिरे तुम्हीं मोह से कहीं। तब हुए तपोभ्रष्ट क्या नहीं ?

च्युत हुए अग्रो नाथ जो यथा, धिक ! हुई क्या उर्मिला वयथा।”

(२) “वचन ये पुरस्कार में मिले, अहह उमिले ! हाय उमिले !

कठिन कार्य का क्षेत्र था तहाँ, पर क्यो देवि क्या रहा यहाँ ?

उलहना कभी देव को दिया, बहुत जो किया नेक रो दिया।

प्रियतमे तपोभ्रष्ट में ? भला ! मत छुओ मुझे लौट में चला।”

उर्मिला का यह उन्मत्त प्रलाप रीतिकालीन कवियों की राधिका के प्रलाप की याद दिलाता है। देव की पंक्तियाँ हैं :

“कान्हू भई वृषभानुमुता, भई प्रीति नयो उनई जिय जंसी।

जाने को देव बिकानि सी डोलै लगै गुरु लोगन देख अरंसी ॥

ज्यों ज्यों सखी बहुरावतिबात न त्यों त्यों बकें वह बावरी ऐसी ।

राधिका प्यारी हमारी सी तू कहि, काहि की बेनुबजाई मैं कैसी ।”

किन्तु दोनों प्रलापों में जो अन्तर है वह यह है कि उर्मिला का व्यक्तित्व देव का राधिका के व्यक्तित्व से ऊँचा है ।

‘साकेत में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य, जो चंचल निश्वर के लावण्य की तरह मनोहर है, सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । किन्तु नवम सर्ग में वह विशेष रूप में प्रस्तुत हुआ है । पदों में शब्द-प्रयोग की वक्रता और अलंकरणशीलता, कही रूपक के द्वारा विलक्षण सजावट उपस्थित की गई है । इन अलंकारों के कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :

श्लेष—

(१) “सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस ग्रहो तरता तरता ।

(२) गड़ जाय न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता डरता ।”

इस सम्पूर्ण पद्य में हंस (सूर्य) में हंस (पक्षी) का आरोप है, इसी आधार पर नभ में सरोवर का, तारागण में मोतियों का, और कर (किरणों) में कर (हाथ) का आरोप किया गया है । इस कारण यहाँ परम्परित रूपक है ।

शुद्धापन्हति—

(१) “जन प्राची जननी ने शशि शिशु को जो दिया डिठौना है ।

उसको कलंक कहना यह भी मानो कठोर टौना है ।”

(२) “सजनी मेरा मत यही, मजुल मुकुर मयंक ।

हमें दीखता है वहाँ, अपना राज्ज कलंक ।।”

उत्प्रेक्षा और संदेह—

“प्राँख बता दे तू ही तू हँसनी या यथार्थ रोती है ।

तेरे अधर दशन ये या तू भर अभुँबिडु ढोती है ।”

रूपकातिशयोक्ति—

सखि में भव कानन में निकली बन के इसकी वह एक कली ।

खिलते खिलते जिससे मिनने उड़ आ पहुँचा हिम हेम अनी ।”

विस्तार-भय से अधिक उदाहरण देना संभव नहीं है ।

नवम सर्ग में छंदो का परिवर्तन आकस्मिकता के साथ होता चला है । इस आकस्मिकता से भी मनोरम प्रवाह की सृष्टि हुई है । उर्मिला के मनोभावों के उत्थान-पतन के साथ उसका अपूर्व सहयोग सम्पन्न हुआ है । प्रत्येक पद्य उत्तरोत्तर नवीन संकृति उत्पन्न करता चला है और जहाँ वह यथेष्ट नहीं प्रमाणित हुआ है,

वहाँ उसका स्थान गीत ने ले लिया है । इस सर्ग में इकतीस गीत हैं; जिनमें एक ओर तो उमिला की मानसिक वृत्तियाँ झलकती हैं, दूसरी ओर 'बाह्य' प्रकृति की मनोहर झाँकी मिलती है ।

'साकेत' में यदि फूल और काँटा दोनों कहीं एकत्र दिखाई पड़ते हैं तो वह उसका नवम सर्ग ही है ।

सात ::

:: श्री सुमित्रानन्दन पंत

: १ :

हिन्दी साहित्य अधिकांश में प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर अपना विकास पाता रहा है। सगुणोपासना की मिथ्या और आडबगपूर्ण वृद्धि की प्रतिक्रिया के रूप में निर्गुणवाद आया और भक्त कवियों की अतिशय भक्ति और प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में ही रीतिकालीन काव्य-धारा ने लौकिक प्रेम-तरंगिणी की आकृति में स्वयं को परिणत किया। आधुनिक काल में भी प्रतिक्रियाओं का वेग शिथिल नहीं हो सका है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दी साहित्य ने पूर्ण सत्य की झलक पाई ही नहीं है; तुलसीदास और सूरदास ने एकान्त निर्गुणवाद के प्रचार को अनुचित ठहराकर निर्गुण और सगुण के समन्वय की जो स्थापना की, उसमें हमारे काव्य ने वास्तव में पूर्ण सत्य के दर्शन प्राप्त किये हैं। परोक्ष सत्ता के विभिन्न स्वरूपों का सामंजस्य प्रस्तुत करने के साथ ही उक्त दोनों महाकवियों ने भारतीय मानव-जीवन के अन्य अनेक पादों को भी शक्ति और आनन्द के स्पर्शों से पुलकित करने का प्रयत्न किया है।

वर्तमान काल में विभिन्न विरोधी विचार-धाराओं को अग्रसर करने वाले काव्य-प्रयास को समन्वित, स्फूर्तिमय और सफल स्वरूप प्रदान करने का कार्य कोमल तथा कात को ही नहीं उग्र और कठोर को भी अपनाने वाले श्री सुमित्रानन्दन पंत द्वारा संपन्न हो रहा है। विचित्र बात तो यह है कि वे जितनी ही उच्चकोटि की सेवा कर रहे हैं उतनी ही अधिक भ्रातियाँ उनकी काव्य-साधना के संबन्ध में प्रचलित हैं। मेरी समझ में ये भ्रातियाँ हृदय की संकीर्णता से प्रसूत नहीं हैं, सर्वथा अस्वाभाविक नहीं हैं, पन्त जी का जटिल कवि-व्यक्तित्व सहज ही उनकी उत्पत्ति में सहायक हो रहा है।

पन्त जी अपने कवि-जीवन के प्रारम्भ काल ही से हाथी के उस पैर की खोज में रहे हैं, जिसमें समस्त जन्तुओं के पैर समा जाते हैं। उसकी खोज करते हुए पहले वे प्राकृतिक दर्शन के पास पहुँचे। भारतीय चिन्तकों ने प्रकृति के दो विभाग किये हैं—परा और अपरा। समस्त प्राणियों को परा और जड़ पदार्थों को अपरा के अन्तर्गत माना गया है। चेतन व्यक्ति का शेष परा और

अपरा प्रकृति के प्रति आत्म समर्पण, विलय, अभिन्नता स्थापन आदि का भाव प्रकृति के दर्शन की ओर ले चलता है। यह अद्वैत भावना का एक रूप है जिसके विकास से भी शांति प्राप्त हो सकती है। मानव के प्रति मानव के उत्पीड़न से व्याकुल प्रसिद्ध अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने प्राकृतिक दर्शन के द्वारा ही अपने चित्त का समाधान किया था। किन्तु पंत जी को एकान्त बाह्य प्रकृति का अनुराग अधिक दिन तक बाँधे नहीं रह सका। उससे उनके व्यक्तित्व के विकास की समस्या हल होती नहीं दिखाई पड़ी, इसके परिणामस्वरूप वे बाह्य जगत् की ओर से दृष्टि हटाकर अन्तः-जगत् के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। यहाँ भारतीय वाङ्मय से प्राप्त आलोक ने उनकी बड़ी सहायता की, किन्तु असतोष उन्हें यहाँ भी रहा। हाथी का पैर, जिसकी खोज में वे थे, यहाँ भी नहीं मिल सका। कारण यह कि वहाँ व्यक्ति की परमोन्नति के साधन मिलने पर भी उसकी इहलौकिक प्रगति के उपाय नहीं दिखाई पड़े, क्योंकि यहाँ तो मूल आधारभूत सिद्धान्त ही यह मान लिया गया कि आँखों से दिखाई पड़ने वाला ससार मिथ्या है, जिससे अभावों के निराकरण के स्थान में उनके साथ समझौता कर लेने वाली प्रवृत्ति को ही प्रोत्साहन मिल सकता था। आध्यात्मिक अन्तर्मुखी अद्वैतवाद की यह अपूर्णता पन्त जी को उससे सर्वथा विपरीत आदर्शों और विचारों का प्रचार करने वाले उस भौतिक अद्वैतवाद की ओर ले गई, जिसका प्रचलन गत उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स और उनके सहयोगी एंगेल्स ने किया और आज जिसकी सफलता की घोषणा रूस की सोवियत राज्य-पद्धति के द्वारा हो रही है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस नवीन सिद्धान्त के अध्ययन में लगने पर भी पन्त जी ने अध्यात्मवाद पर से अपनी आस्था हटाई नहीं। वास्तव में प्राकृतिक दर्शन और अध्यात्मवाद का जितना प्रकृत मूल्य हमारे जीवन में है, उसे उन्होंने कभी अस्वीकार नहीं किया। उनका कहना तो यही था कि उन्हें वह पूर्ण सत्य नहीं मिल रहा है, जिसमें समस्त खण्ड-सत्यों का समावेश हो जाता है। और, खण्ड-सत्यों से अधिक मूल्य वे इन्हें देने के लिए तैयार नहीं थे।

कार्ल मार्क्स और उनके सहयोगी एंगेल्स द्वारा प्रचारित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में पन्त जी को अनेक आकर्षक विशेषताएँ मिली, रचनात्मक श्रम-सिद्धान्त की मान्यता इनमें सबसे प्रधान थी। इस सिद्धान्त के आधार पर वर्गहीन समाज की स्थापना तथा श्रमिकों की सरकार बनाने की व्यवस्था, लोक-प्रगति की दृष्टि से अनिवार्य महत्त्व के तत्त्व माने गए। श्रम-सिद्धान्त की स्वीकृति ने सहज ही समाज के शोषक और शोषित तत्त्वों को झलका दिया और शोषक तत्त्वों की निन्दा, उपहास, अवमानना आदि के साथ-साथ शोषित तत्त्वों को प्रोत्साहन देने, उनको गौरवान्वित

करने और प्रगति देने का भी श्रीगणेश हुआ। पन्त जी के काव्य की धारा इस नूतन प्रयास की ओर अग्रसर हुई।

किन्तु जिन लोगो को विश्वास हो गया था कि पन्त जी पूर्णतः प्रगतिवादी हो गये, उन्हें शीघ्र ही निराश होना पड़ा। पन्त जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि उन्हें प्रगतिवाद का वर्ग-सघर्ष और उसकी रक्त-कान्ति प्रिय नहीं है। आत्मानुभूति पर आधारित गांधीवाद और महात्मा अरविंद के सिद्धान्तों का, अविरत जीवन-संघर्ष एवं जडवाद से अनुप्राणित प्रगतिवाद से, कोई सादृश्य अथवा समानता प्रकट रूप में नहीं दीख पड़ती, फिर भी जब पन्त जी एक ही साँस में तीनों गीत गाते हैं तो प्रत्येक विचार-धारा के प्रति आसक्ति रखने वालों को सतर्क तो हो ही जाना चाहिए। उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि वे स्वल्पप्राण, सीमित सत्त्यों की खोज में नहीं हैं, महाप्राण, असीम सौंदर्य-मंडित महासत्य के अनुसंधान में रत हैं, चीटी के पैर की तलाश में नहीं हैं, हाथी का पैर ढूँढ निकालना चाहते हैं।

पन्त जी के कवि-व्यक्तित्व को अभी मैंने जटिल कहा है। वाद-विशेष के प्रति प्रीति रखने वालों के लिए, जो आकाशविहारी विहग और कवि, दोनोंको पिजरे में बन्द करके रखना चाहते हैं, उसमें निस्संदेह जटिलता है। किस मार्ग पर कितनी दूर चल कर पन्त जी एक नया मोड़ ले लेंगे, इसका अनुमान लगाना उनके लिए प्रायः कठिन हो जाता है। इससे यदि वे उनकी काव्य-प्रवृत्तियों में कुछ दुरुहता का अनुभव करने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु जिनकी काव्य-रुचि स्वतन्त्र है और जो काव्य को उसके प्रकृत रूप में देखने के अभ्यासी हैं, उनके लिए उक्त जटिलता सहज ही अपने-आपको सरलता के रूप में परिणत कर लेती है।

सच बात तो यह है कि एक अज्ञात, अनिर्वचनीय, अलौकिक सत्ता की अनुभूति से पन्त जी का कवि-व्यक्तित्व सतत प्रभावित है। वह सत्ता सौंदर्य-विधान है, दिव्य प्रकाशमय है और कभी-न-कभी व्यक्त जगत् के कुरूप-से-कुरूप, क्षुद्र-से-क्षुद्र पदार्थ और प्राणी को लेकर अपनी अनुपम छवि और आभा से मंडित कर देगी—इसी दृढ़ विश्वास को लेकर कवि स्वयं आशावान, शक्तिमान बनकर अपने हृदय का अंधकार दूर कर रहा है तथा औरो के हृदय के अंधकार को भी दूर करना चाहता है। उस सत्ता के प्रति अपने जीवन को समर्पित करके उसने सहज ही अपने अनुराग का विकास कर लिया है, पुष्प, 'लता, द्रुम, विहग, मधुकर, तितली, निर्झर, पर्वत, चन्द्रिका, उषा, इन्द्रधनुष, बादल आदि के माध्यम से उसे परम अज्ञेय की झांकी मिलती रहती है और वे उसे उतने ही स्निग्ध और सरस लगने लगते हैं, जितना स्वयं अनन्त विभूति-सम्पन्न, आनन्द-निकेतन। अज्ञात जड़ पदार्थ में, जो अपने रमणीय रूप को प्रगट कर रहा है, वह मानव में अपने-आपको क्यों न व्यक्त

करेगा ? उस मानव मे, जो सम्पूर्ण प्रकृति का सिरमौर है । इस सूत्र से मानव की आराधना से निरत रहकर कवि अपनी साधना को आगे नहीं बढ़ा सकता था । इसी आराधना के प्रसंग स वह कार्ल मार्क्स के द्वार पर भी पहुँचा और उनसे मिलने वाली ज्ञान-ज्योति का भी उसने उपयोग किया । किन्तु यह उपयोग अपनी सीमा इतनी अधिक नहीं बढ़ा सकता था कि शाखा के स्थान मे स्वयं मूल का पद उसे प्राप्त हो जाय ।

पन्त जी मूलतः प्राकृतिक रहस्यवाद की ओर निरन्तर अग्रसर हो रहे हैं । किन्तु जैसे कच्छप इच्छानुसार अपना सिर बाहर भी निकाल लेता है, वैसे ही अन्तर्जगत् से थोड़ी देर के लिए छुट्टी लेकर वे मानव-समाज की ओर भी दृष्टिपात कर लेते हैं । आन्तरिक प्रेरणा ही से वे जड़ पदार्थों के प्रति भी स्नेह बढ़ाते हैं और मानव-सेवा की ओर भी आकर्षित होते हैं । उनका अनुराग कही एक जगह केन्द्रित है, उसी सम्बन्ध मे जहाँ-जहाँ उस एक का विकास दिखाई पड़ता है, वहाँ-वहाँ उन्हें अपने हृदय को समर्पित करने के लिए पहुँचना पड़ता है । प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों मे निरन्तर संघर्ष छिड़ा रहता है, आग-पानी को पी जाना चाहती है, पानी आग को दबा ले जाना चाहता है, पृथ्वी अपनी ही उद्भूत सृष्टि को आत्मसात् कर लिया करती है, वायु सुकुमार लताओं और पौधों को छिन्न-मूल कर डालती है, आकाश वज्रपात, उल्कापात आदि के द्वारा सर्वनाश के दृश्य उपस्थित किया करता है, इसी प्रकार मन, बुद्धि और अहंकार भिन्न-भिन्न तत्त्वों मे अगणित रूप से कार्यशील होकर भेद-भाव और जीवन-संघर्ष की सृष्टि किया करते हैं । यह सग्नान निरन्तर घोषित करता चलता है कि जो सबसे अधिक शक्तिशाली है उसे ही जीवन मिलेगा । इन सबके अतिरिक्त जीव-समूह मे ही कितना वैमनस्य, कितना विरोधी भाव है । सभी एक-दूसरे को खा जाना चाहते हैं ।

अन्य अबोध, अज्ञानी, जीवों को जाने दीजिए, स्वयं मनुष्य को देखिए; उसके भिन्न-भिन्न समूहों मे एक-दूसरे के प्रति कितना मनोमालिन्य है, कितना द्रोह है । न जाने किस अज्ञात उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रकृति ने यह अखाड़ा बना रखा है, जिसमे एक ओर किसी का पददलित सिर मुकुट से मंडित हो रहा है दूसरी ओर किसी के अभिमानी मस्तक का गर्व चूर्ण-विचूर्ण किया जा रहा है । इस विराट् बिभेद के वातावरण को चीरकर जिस कवि की प्रतिभा चारों ओर स्नेह, सद्भाव, सौजन्य का विकास कर सके, अनेकता मे एकता का संचार कर पाये, वह उस अनादि अनन्त, अनिवर्चनीय तत्त्व का प्रतिनिधि होगा, जिसके प्रति एकत्व भाव की स्थापना के निमित्त स्वयं प्रकृति अपने विशाल उद्योग के साथ प्रगतिशील है । पन्त जी की यही स्थिति है, प्रकृति की आराधना के द्वारा वे वास्तव मे उसकी आराधना कर रहे

है, जो प्रकृति से भी परे है, जो प्रकृति का भी आराध्य है। प्राकृतिक अद्वैतवाद की साधना द्वारा परम तत्त्व की ओर प्रगति करने के कारण वे प्रकृति के रहस्यवादी कवि कहे जायेंगे।

प्रायः कहा जाता है कि पन्त जी छायावाद को छोड़कर प्रगतिवाद में आये। किसी हद तक यह कथन सही माना जा सकता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि उनके मूल व्यक्तित्व में कोई ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया जिससे कि उनके वर्तमान स्वरूप में पूर्व स्वरूप का कोई चिह्न ही शेष नहीं रहा। हाँ, यदि प्रगतिवादी होकर उन्होंने प्रगतिवाद के वर्ग-सघर्ष और रक्त-क्रांति का अनियंत्रित समर्थन किया होता, तो उनका सम्बन्ध निस्संदेह प्रकृति के रहस्यवाद से छूट जाता; क्योंकि तब तो वे प्राकृतिक अद्वैतवाद के स्थान में प्राकृतिक द्वैतवाद के प्रचारक हो जाते।

प्राकृतिक रहस्यवाद ही वह पूर्ण सत्य है जिसकी खोज में पन्त जी अपने कवि-जीवन के आरम्भ से हैं और अब भी निरन्तर सलग्न हैं। विभिन्न विरोधी सत्यों में समन्वय स्थापित करने की उनमें जो प्रवृत्ति है, उसका कारण यही प्राकृतिक रहस्यवाद है। यही हाथी का वह पैर है जिसमें अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, छायावाद, प्रगतिवाद आदि खण्ड-सत्यों के पैर अपने-आप समाविष्ट हो जाते हैं। उनकी यह खोज कब समाप्त होगी और कब वे मूल रहस्यवाद के क्षेत्र में पहुँच कर परम विश्राम के अधिकारी होंगे, कहा नहीं जा सकता।

प्राकृतिक रहस्यवाद का क्षेत्र कितना विस्तृत होगा, उसे पार करने में कवि को कितना समय लगेगा, यह अधिकांश में इस युग की प्रवृत्तियों पर निर्भर है, जिसमें कवि ने जन्म ग्रहण किया है। कबीर और मलिक मुहम्मद जायसी के युग में भारतीय सामाजिक सम्पर्क का विस्तार हिंदू-मुस्लिम समूहों तक सीमित था और थोड़ी-सी निर्लिप्तता, उदारता, सद्भाव के प्रदर्शन से ही उन्हें उस आत्मसंतोष की प्राप्ति हो सकती थी जो उनको मूल रहस्यवाद की अनुभूतियों में निमग्न बनाने के लिए आवश्यक होती। किन्तु अब परिस्थिति में परिवर्तन हो गया है। आज पन्तजी ने जिस युग में जन्म ग्रहण किया है उसमें प्राकृतिक रहस्यवाद की आवश्यकताओं से सहज ही मुक्ति पाना सम्भव नहीं है। आवागमन के साधनों की वृद्धि के कारण व्यापक विश्व-भावना का विकास हो गया है और भिन्न-भिन्न देशों में चलने वाले आंदोलन अब अपने से बहुत दूर स्थित देशों पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल में हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से ही नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का जन्म हो रहा है। स्पष्टतः मूल रहस्यवाद की परिस्थिति में प्रवेश करने के पहले कवि-प्रतिभा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह मानव-समाज की हलचलों से अपनी मानसिक मुक्ति प्राप्त कर ले। पन्त जी

की साधना इस ओर विशेष रूप से अग्रसर रही है ।

जिस समय पन्त जी ने हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय प्रकृति, मनुष्य और व्यापक परोक्ष सत्ता के प्रति एक स्वस्थ समन्वित दृष्टिकोण के विकास की अनिवार्य आवश्यकता थी । प्रकृति के सम्पर्क में राधा के व्यक्तित्व का विकास करके तथा मानव और परोक्ष सत्ता की दूरी को यथासंभव कम करके अपने काव्य 'प्रियप्रवास' के द्वारा पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इस ओर कुछ प्रयास किया था, किन्तु पूर्ति आवश्यकता की तुलना में पर्याप्त नहीं थी । प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों के प्रति साहचर्य के भाव के साथ-साथ व्यापक परोक्ष सत्ता के प्रति एक मधुर संकेत देते हुए पन्त जी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किये, उनका अपूर्व स्वागत हुआ । छाया-जैसी निर्जीव, निःसत्व वस्तु को भी ग्रहण से मडित करके जब उन्होंने मानव-हृदय की सहानुभूति का पात्र बनाया, तब साहित्य-प्रेमियों को उनकी सहृदयतामयी लेखनी द्वारा भविष्य में अमूल्य सेवा होने के सम्बन्ध में दृढ़ विश्वास हो गया । उस विश्वास का आधार कितना ठोस था, इसे आज हम लगभग पैंतीस वर्षों के बीत जाने के बाद देख रहे हैं ।

किन्तु पन्त जी द्वारा प्रस्तुत तत्कालीन समन्वय में एक कसर थी । उसमें मानव की महत्वपूर्ण समस्याओं की सर्वथा उपेक्षा हो गई थी । अध्यात्मवाद का योग देकर उन्होंने इस समन्वय को पूर्ण करना चाहा । आगे चलकर उन्होंने फिर देखा कि समन्वय अभी अपूर्ण ही रह गया । अध्यात्मवाद ने वैयक्तिक क्षेत्र की पारलौकिक समस्या ही हल की, लौकिक अभावों के रूप में प्रकट होने वाली समस्या उसके द्वारा न वैयक्तिक स्तर पर हल की जा सकी और न सामाजिक स्तर पर । किन्तु उक्त अध्यात्मवाद को जब उन्होंने भौतिकवाद, विशेषकर कार्ल मार्क्स द्वारा प्रवर्तित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ रखकर देखा तब उन्हें अपना समन्वय पूर्ण होता जान पड़ा । कहना नहीं होगा कि समन्वयवादी कवि के रूप में आज वे हिन्दी-काव्य-जगत् में बेजोड़ हैं ।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग पुनः प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर ही चल रहा है । समन्वित सत्य के स्वरूप को हृदयगम करके साहित्य का निर्माण करने के लिए बहुत बड़ी साधना और परिश्रम अपेक्षित है, जिनके अभाव में यह स्वीकार करना पड़ता है कि आजकल का अधिकांश साहित्य-निर्माण सार्वभौम और सर्वकालीन सेवा तथा उपयोग को लक्ष्य में रखकर नहीं चल रहा है, उसका उत्पादन वर्तमान युग की छोटी-सी सीमा के लिए भी यदि मानव की रचनात्मक प्रगति के उद्देश्य से होता तो संतोष की बात होती । खेद है, हमारी रचना-प्रवृत्ति अधिकांश में विकृतियों से प्रेरणा ले रही है, जिसका अर्थ यह है कि हम न केवल

निर्माण में नहीं लगे है, वरन् क्रियात्मक रूप से अपना संहार भी कर रहे हैं। ऐसा हिन्दी-साहित्य के किसी पिछले युग में सम्भव नहीं हो सका।

पन्त जी ने अपनी समन्वय-प्रवृत्ति के द्वारा हमें मार्ग दिखा दिया है। उनका पथ-प्रदर्शन स्वीकार करके हमें सहज ही किसी वाद-विशेष अथवा विचार-धारा के प्रति आत्म-समर्पण न कर देना चाहिए, वरन् अपने देश और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होने वाली विचार-धाराओं के साथ उसका समन्वय करना चाहिए; आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन और संशोधन कर लेना चाहिए।

मेरी कामना है कि पन्त जी का समन्वयवाद अधिकाधिक मात्रा में फूले फले, अधिकाधिक सरया में उसके अनुयायी बढ़ें, जिससे वर्तमान काल में हिन्दी साहित्य की वंसी ही उन्नति हो जैसी भक्तिकाल में सम्भव हो सकी।

: २ :

व्यक्ति और शेष विश्व में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध न होने के सम्बन्ध में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों ही सहमत हैं। वेदान्तियों की घोषणा है—‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ अर्थात् सम्पूर्ण समार ब्रह्म ही का प्रसार है। जड़वादी जगत् को जड़ तत्त्व की राशि के रूप में ग्रहण करते हैं। इन दोनों ही मतों के माध्यम से हम समस्त विश्व की अन्तर्निहित एकता ही का दर्शन करते हैं। प्रायः वैषम्य प्रतीत होता है; काव्य का लक्ष्य यही है कि वह वैषम्य को क्षणिक और अवैषम्य को चरम-सत्य के रूप में उपस्थित करे तथा आत्म-विस्मृत मानव को कल्याण का मार्ग दिखाये। विश्व के समस्त श्रेष्ठ कवियों ने काव्य को साधन बनाकर इसी साध्य की सिद्धि का प्रयास किया है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने, जिनका प्रकृति के प्रति अनन्य अनुराग रहा है, उसकी प्रेरणा से कुछ ऐसी रचनाएँ की हैं जो हिन्दी काव्य की शृंगार-स्वरूपा हैं। उनकी अनेक कविताओं में परोक्ष सत्ता के प्रति मधुर सन्त भी मिलते हैं। उन्हें अमरत्व प्रदान करने के लिए उनके ये प्रयत्न ही पर्याप्त हैं, किन्तु अतिशय संवेदनशील होने के कारण वे मानव की दुर्दशा की ओर से आँखें मूँद न रह सके। मानव-समाज के भीतर धँस आये हुए वैषम्य के निवारण के लिए उन्हें अपनी मार्मिक लेखनी का संचालन करना ही पड़ा। विशेष करके भारतीय मानव की, पशु के स्तर पर पहुँची हुई, जड़ता को देखकर वे अपने हृदय की काव्य-वक्तियों को प्रवाहित करने के लिए विवश हुए। इस क्षेत्र में वे कार्ल मार्क्स के साम्यवादी तत्त्वों से प्रभावित होकर भी चले। ये तत्त्व उनके काव्य में किस सीमा तक स्थान पा सके हैं, यहाँ हम यही समझने की चेष्टा करेंगे।

प्राकृतिक दर्शन से असन्तुष्ट होकर जब पन्त जी भारतीय अद्वैत दर्शन की

और झुके तब उन्हें व्यग्र और चिंतित बनाने वाली मानव की बहुत-सी समस्याएँ हल होती दिखाई पड़ी, किन्तु उनके सामने एक नवीन प्रश्न खड़ा हुआ—इस उच्च दर्शन के होते हुए भी ससार में इतना वैषम्य क्यों है ? इतने उत्कृष्ट दर्शन की जन्मभूमि में भी सम भावना का संचार क्यों न हो सका ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने कार्लमार्क्स के विचारों का अध्ययन किया, जिससे उन्हें यह आश्वासन मिला कि श्रमिकों और किसानों के शासन-सूत्र-संचालक एवं उत्पादन पद्धति-नियामक होने से जन-साधारण के क्लेश का अंत हो सकेगा । कवि को इससे अधिक और क्या चाहिए था ? उसे मानव का जटिल जीवन सुलझता हुआ तथा पृथ्वी स्वर्ग के रूप में परिणत होती हुई दिखाई पड़ने लगी, उसने हर्ष से उत्तम होकर गाया :

“आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा-तृषा के क्रन्दन

भागी स्वप्नों के तट पर युग-जीवन करता नर्तन

जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ण की तोड़ भित्तियाँ ध्वस्त ।

युग-युग के बन्दीगृह से मानवता निकली बाहर ॥”

औरो के परिश्रम से अनुचित लाभ उठाने वाले संसार में सदैव रहे हैं और असंगठित, दुर्बल श्रमिकों का किभी-न-किसी रूप में शोषण अनन्त काल से होता आया है, किन्तु जब से तरह-तरह के यंत्रों के आविष्कार ने एक ओर तो श्रमिकों के हाथ से कार्य छीन लिया, दूसरी ओर कार्य-सलग्न श्रमिकों को अधपेट और अधनंगा रखकर आलस्य-भोगी पूँजीपति को धन से लाद दिया तभी से समाज का आर्थिक असन्तुलन हमारी आँखों के सामने स्पष्ट हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस महान् रोग की कोई दवा वेदान्त के पास नहीं थी। वहाँ तो जो कुछ समीकरण था वह मानसिक परिधि ही के भीतर था। मानसिक दृष्टिकोण को अत्यन्त उदार बनाकर वह तो भूख, प्यास, रोग, मृत्यु सभी के साथ एक निष्क्रिय समझौता कर लेने का मार्ग ही दिखा सकता था। लेकिन यह समझौता भले ही किसी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति को सतोष दे सकता हो, जन-साधारण के लिए तो वह अग्राह्य ही बना रहा। ऐसी अवस्था में श्रम की महत्ता का गौरव-हुंकार करने वाले काल्माक्स और उनके सहकर्मी एंगेल्स को मानव समाज के सामने एक आशा और उत्साह से पूर्ण कार्यक्रम प्रस्तुत करने का श्रेय मिलना चाहिए। जो श्रमिक नहीं है, जो अपने कार्य के लिए पसीना नहीं बहाता, अपना रक्त नहीं सुखाता, उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है—इस सिद्धान्त-गर्जना के द्वारा उक्त दोनों चिन्तकों ने शोषण-प्रवीण व्यक्तियों और दलों के हृदय काँपा दिये। कार्ल मार्क्स को पत जी ने शंकर का तृतीयनेत्र कहा है, जो सर्वथा उचित जान पड़ता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ

अवलोकनीय है :

‘साक्षी है इतिहास,—आज होने को पुनः युगान्तर ।
 श्रमिकों का शासन होगा अब उत्पादन-यंत्रों पर ॥
 वर्गहीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन ।
 पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन ॥
 धन्य मार्क्स ! चिर तमाचञ्चल पृथ्वी के उदय शिखर पर ।
 तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर ॥”

स्वयं पंत जी की लेखनी ने, शंकर की तरह, धनपतियों के प्रति अपना तृतीय नेत्र स्वयं खोलकर अग्नि-वर्षा कर दी है

“वे नृशंस हैं, वे जन के श्रमशूल से पोषित,
 दुहरे धनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषि ।
 नहीं जिन्हे करनी श्रम से जीविता उपार्जित,
 नैतिकता से भी रहते जो श्रत अपरिवित ।
 बर्षी, हठी, निरंकुश, निर्मम, कलूषित, कुत्सित,
 गत सस्कृति के गरल लोक-जीवन जिनसे मृत ।
 जग-जीवन का दुरुपयोग है उनका जीवन ।
 अब न प्रयोजन उनका, श्रतिम है उनके क्षण ।”

पूँजीपतियों के अतिरिक्त अन्य अनेक तत्त्व हैं जो कार्लमार्क्स की दार्शनिक विचार-धारा के अनिवार्य अंग हैं। पंत जी ने अपने काव्य में इन सभी तत्त्वों को वाणी देने का प्रयास किया है—मानव के पशु के प्रति उदार व्यवहार, बंधन-स्वरूप नैतिक मूल्यों से नारी की मुक्ति, ग्राम-जीवन में मनुष्य का गत्यवरोध आदि सभी विषयों पर अपने विचार और भाव व्यक्त करते समय कवि का ध्यान कार्लमार्क्स के दर्शन की ओर रहा है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि पंत जी ने कही भी ऐसे चित्र उपस्थित किये हैं जिनमें रचनात्मकता नहीं है, जिनमें काव्य-सुलभ सरलता का अभाव है, जिन्हे उन्होंने अपनी कवि-प्रतिभा से मनोहर नहीं कर दिया। वास्तव में यह मानने की आवश्यकता नहीं है कि जैसे निर्माणात्मक रूप ‘ग्राम्या’ में अंकित हुए हैं वे कार्ल मार्क्स के विचारों से परिचित हुए बिना अंकित ही नहीं किए जा सकते। कवि की उद्भाविनी लेखनी मृतक-तुल्य ग्रामीण समाज को जभी प्राणान्वित रूप में कल्पित करेगी तब उसके सम्बन्ध के वे चित्र प्रायः वैसे ही होंगे जस उक्त काव्य-संग्रह में प्रस्तुत किये गए हैं।

पंत जी के काव्य का प्रत्येक अध्येता इस बात को जानता है कि उनका

कवि-व्यवित्तव साधना के एक उच्च स्तर पर अपने को पहुँचाकर ही रचना में प्रवृत्त होता है। यह विशेषता उनकी आरम्भिक से लेकर नवीनतम रचनाओं में भी देखी जा सकती है। 'पल्लव', 'गु जन', 'युगवाणी' आदि विविध कृतियों में उनके साधना-सम्पन्न कवि-कौशल की छाप है। 'युगवाणी' में वे कहते हैं :

“इस अमर लेखनी से प्रतिक्षण
मैं करता मधुर अमृत वर्णण
जिससे मिट्टी के पुतलों में
भर जाते प्राण अमर जीवन ।”

इस सूत्र के सहारे हम यह भी समझ सकते हैं कि 'ग्राम्या' में ग्रामीणों के प्रति पाठकों को कवि की केवल बौद्धिक सहानुभूति क्यों मिल सकती है। 'ग्राम्या' की रचनाओं के सम्बन्ध में विचार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि पंत जी ग्राम-जीवन में मिलकर, उसके भीतर से सन्तुष्ट नहीं हैं। ग्रामवासियों को वे 'घोर अविद्या में मोहित, चित्रित दाम-मूर्तियाँ' समझते हैं वे उन्हें 'मनुष्यता से हीन, शापित, चेतना-विहीन, आत्मविस्मृत जीव' मानते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उनके वर्तमान रूप के प्रति सहानुभूति रखकर कवि-कर्म-सम्पादन किया जाता तो इस काव्य की स्थिति क्या होती? रचनात्मक सस्पर्श से शून्य और क्रियात्मक शक्ति से वंचित होकर क्या वह उस ग्राम-कवि की कविता से किसी रूप में भिन्न होती, जिसका चित्रण करते हुए 'ग्राम्या' में कहा गया है :

“यहाँ न ही शब्दों में बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुन्दरता को करना सच्चि ।”

निस्सन्देह, सौन्दर्य-चयन एवं आदर्शों की जीवित प्रतिमा का शब्दों में सगठन करने वाला कवि उक्त 'ग्राम कवि' की दयनीय परिस्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता था; साधनाशील कवि तो सदैव निष्प्राण समाज को बौद्धिक उद्बोधन द्वारा, आलोचना द्वारा जगाता रहा है। इस बौद्धिक प्रयास में साम्यवाद का प्रभाव खोजना व्यर्थ है, यह तो प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में अमर कवियों का काव्य-व्यापार रहा है।

यदि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' से यह पता लगता है कि पंत जी के काव्य-दिशानिर्देश पर कार्ल मार्क्स का प्रभाव पड़ा है तो इनमें समाविष्ट कविताएँ इस बात की भी सूचना देती हैं कि कार्ल मार्क्स के विचार उन्हें पूर्ण तृप्ति प्रदान करने में

असमर्थ रहे हैं। यदि यह बात न होती तो पंत जी ने 'बापू' शीर्षक कविता में इस प्रकार न लिखा होता :

“बापू तुमसे मुन आत्मा का तेजराशि आह्वान,
हूँस उठते हैं रोम हर्ष से पुलकित होते प्राण।”

निस्सन्देह 'मार्क्स के प्रति' शीर्षक कविता में उन्होंने मार्क्स की तेजस्विता अंगीकार की है, किन्तु उनके हृदय का अभिलषित तत्त्व उन्हें महात्मा गांधी के व्यक्तित्व ही में मिला है। इसका कारण यह कि जिस 'मैथुन आहार-यत्र' को लेकर मार्क्स का साम्यवाद खड़ा हुआ है उसे वे बालू की भीत के तुल्य समझते हैं और प्रश्न करते हैं :

“क्या इन्हीं बालुका-भीतों पर
रचने जाते हो भव्य, अम
तुम जन-समाज का नव्य तंत्र ?”

और अन्त में स्वयं ही घोषणा करते हैं :

“मानव को आदर्श चाहिए,
सस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए,
× × ×
पूर्ण तत्र मानव, वह ईश्वर,
मानव का विधि उसके भीतर।”

किन्तु एक ओर आत्मवाद में विश्वास रखना तथा दूसरी ओर जडवाद की भी मान्यताओं को ग्रहण करना कठिनाइयों से शून्य नहीं है। जो हो, पंत जी ने दोनों ही विचार-धाराओं के मध्य में ऐसे सरस मार्ग का आविष्कार किया है जो जीवन के प्रवाह को पूर्ण अनुकूलता प्रदान करता है। वे कहते हैं :

मनुष्यत्व का तत्त्व मिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य योजना है अविवाद।

इससे कवि का आशय यह समझ पड़ता है कि एक ओर तो साम्यवाद में मनुष्यत्व के समावेश की आवश्यकता है, दूसरी ओर मनुष्यत्व को भी सामूहिक जीवन-विकास के उपयुक्त बाह्यार्थवादी दृष्टिकोण अङ्गीकार करना पड़ेगा।

अन्त में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पंत जी विभिन्न विचार-धाराओं की उपयोगिता को स्वीकार करके भी किसी एक के दास नहीं हैं, वास्तव में वे जीवन को पल्लवित, पुष्पित तथा सफल बनाने वाले समस्त साधनों के अनुरागी हैं।

उनकी इसी स्वतन्त्रता ने उनके कवि-व्यक्तित्व को विचित्र सौन्दर्य का निवास-स्थान बना दिया है और वे अपने सम्बन्ध में कह सके हैं :

“ज्यों झरते हर सिंगार झर झर,
ज्यों हिम फुहार शुचि फहर फहर,
मेरे मानस से सुन्दरता
निःसृत होती त्यों निखर-निखर ।”

आठ ::

:: 'निराला' जी का 'तुलसीदास'

रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय स्थिति की अभिव्यक्ति का काव्यात्मक साधन है जो अद्वैत और अद्वैत के खोजी मानव के मध्य में, उक्त मानव के विकास की सर्वोच्च अवस्थाएँ उत्पन्न होने पर तब प्रस्तुत होती है जब अद्वैत अपने ही परम सगे सम्बन्धी और स्वजन की तरह प्रिय लगने लगता है। लौकिक दृष्टि से लोक के दैनिक व्यापार-व्यवहार के वातावरण में रहस्यवादी सन्तों की जिन अटपटी वानियों का कोई अर्थ लक्षित नहीं होता वे भी अलौकिक प्रकाश में सहज और सरल हो उठती हैं। द्वैत हमारे सामने पग-पग पर स्पष्ट और प्रकट है, समुद्र की गहराई में मोती की तरह वास्तव में अद्वैत ही रहस्य में मग्न रहता है और बड़े सौभाग्यशालियों ही की पहुँच वहाँ तक होती है।

हिन्दी के अनेक कवियों ने लौकिक कथाओं के माध्यम से अथवा लौकिक सम्बन्ध-निर्देशक पदों की आड़ लेकर अद्वैत के प्रति वेदना और तडप से भरी हुई अनेक प्रबन्धात्मक रचनाएँ की हैं, जिनकी मार्मिकता आज भी हमारे हृदय पर चोट करती है। उक्त कवियों की इस परम्परा का निर्वाह हमारे आज के युग में कवि-वर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने किया है। 'तुलसीदास' नामक खण्डकाव्य लिखकर उन्होंने हमें एक नवीन विभूति के दर्शन कराये हैं।

भारतीय संस्कृति पर विदेशी मुस्लिम संस्कृति के लड़ जाने और उसके परिणाम स्वरूप भारतीय व्यक्तित्व के संकुचित और सकीर्णस्वरूप होने से, अद्वैतानुभूति के प्रकाश से दीप्त कवि का हृदय पीड़ा से भर जाता है। तत्काल ही उसका ध्यान तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरित मानस' की ओर जाता है, जिसके द्वारा उन्होंने उक्त पद दलित भारतीय संस्कृति को जीवित और सुरक्षित रखा। तुलसीदास जी के प्रति श्रद्धामग्न होकर कवि उनका एक मनोहर चित्र अंकित करने की ओर बढ़ता है।

आरम्भ में कवि ने तुलसीदास को चित्रकूट के प्राकृतिक दृश्यों के बीच पहुँचा कर जड़ प्रकृति द्वारा यह अनुरोध कराया है कि वे उसे अपना चेतन स्पर्श प्रदान करके उसी प्रकार संजीवित कर दें जिस प्रकार श्री रामचन्द्र ने अपने चरण-स्पर्श से, जड़ीभूत अहल्या को चेतन नारी का रूप प्रदान कर दिया था। प्रकृति कहती है कि यदि आपका यह चेतन स्पर्श नहीं प्राप्त होता, यदि आप हमें पाषाणत्व

की स्थिति से निकालकर गले में धारण की जाने के योग्य माला के रूप में सुसंस्कृत नहीं करते तो उस अवस्था में हमारा स्वरूप ही क्या रह जाता है ! फिर तो अनन्त अन्धकार, कीच से भरी नदी, दुर्गम मार्ग, झरने, काँटे आदि के सिवा यहाँ और कुछ भी तो नहीं है :

“लो चढ़ा तार, लो चढ़ा तार,
पाषाण-खण्ड ये, करो हार,
दे स्पर्श ग्रहणोद्धार-सार उस जग का ।
अन्यथा यहाँ क्या ? अन्धकार,
बन्धुर पथ, पकिल सरि, कगार,
भरनें, भाड़ी, कटक, विहार
पशु-खग का ।”

प्रकृति के आह्वान का क्या अर्थ है ? तुलसीदास के हृदय में नवीन संस्कार का उदय हो रहा है । प्रकृति का एक रूप बाहर है और दूसरा स्वयं तुलसीदास जी के भीतर । बहिर्जगत् में तो उक्त आह्वान चल ही रहा है, किन्तु उतना ही नहीं, वास्तव में तुलसीदास के अन्तर्जगत् में भी एक विचित्र विकास का आवाहन हो रहा है — आपने भीतर के जड़त्व का परित्याग करो, अपनी प्रत्येक भावना, प्रत्येक प्रकृति को अद्वैत की आराधना अद्वैत की सिद्धि में नियोजित कर दो । इस आवाहन के परिणामस्वरूप एक विलक्षण परिवर्तन तुलसीदास जी में उपस्थित होता है, नारी-मोह से आक्रान्त होकर वे पहले जड़त्व-भावना के जाल में ग्रस्त थे, किन्तु अब उनकी पत्नी रत्नावली ही उन्हें प्रकृति के उस विराट् रूप में दिखाई पड़ी जो बाह्य और अन्तर दोनों ही क्षेत्रों को अपने भीतर समाविष्ट करता है । अपने इस स्वरूप-दर्शन द्वारा रत्नावली तुलसीदास की आंतरिक जड़त्व भावना की समस्या को हल करती दीख पड़ी । कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी हल में प्रकृति के बाह्य स्थूल रूप की विकास-समस्या का हल भी निहित था । इस काव्य के भीतर रहस्यवाद का प्रथम संस्कार तुलसीदास जी के हृदय में यही प्राप्त होता है ।

तुलसीदास जी घर आये और गृहस्थी की माया में फिर लिप्त हो गये । रत्नावली का विराट् रूप क्रमशः फिर धूमिल हो चला, वे पुनः मोह में लीन हो गये । विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे अपने मोह को मोह नहीं मानते उसे भी मुक्ति ही समझते हैं । यह मोह विचित्र तर्कों के कंधों पर चढ़कर आकर्षक स्वरूप ग्रहण करता चलता है :

“बध के बिना कह कहाँ प्रगति ?
गतिहीन जीव को कहाँ सुरति ?

रति रहित कहाँ सुख ? केवल क्षति
केवल क्षति

यह क्रम विनाश; इससे चल कर
आता सत्वर मन निम्न उतर
छूटता अंत में चेतन स्तर, जाती मति ।”

तुलसीदास जी की ओक्षा रत्नावली ही अधिक जागरूक थी। उसके सम्बन्ध में कवि कहता है :

“लखती ऊषारुण मौन राग
सोते पति से वह रही जाग
प्रेम के फाग में आग त्याग की तरुणा;
प्रिय के जड़ युग कूलों को भर
बहती जो स्वर्गगा सस्वर;
नश्वरता पर आलोक—सुघर
दृक्करुणा ।”

तुलसीदास जी का यह मोह नष्ट होने में स्वयं रत्नावली का कितना भाग होता है, इसका वर्णन कवि ने ही स्वाभाविक ढंग से करके प्रचलित कथा के कंकाल को रक्त-मांस में सम्पन्न तथा सजीव बना दिया है। रत्नावली के भाई ने आकर देखा कि तुलसीदास जी घर पर नहीं हैं। अच्छा अवसर देख उनकी अनुपस्थिति ही में दुखी माता-पिता के अनुरोध-पालन के निमित्त उसने रत्नावली से घर चलने को कहा, क्योंकि कई बार अने पर भी विदा कराने में असफल होने के कारण उसे आशा नहीं थी कि उनके आ जाने पर उसकी विदाई हो सकेगी। रत्नावली ने भाई के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। भाई उसे सहर्ष लिवाकर चला गया।

बाजार से लौटने पर जब तुलसीदास ने अपना गृह गृहिणी-विहीन पाया तो उन्हें वह 'नत-नयन' और गृह का आँगन 'विषण्ण' दिखाई पड़ा। वे अपनी ससुराल को चल पड़े। वहाँ आवश्यक स्वागत-सत्कार होने के अनंतर जब रत्नावली से उनकी भेंट हुई तो उसने कहा :

“धिक ! धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल धर्म दूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाये ।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ, हाड़-चाम ।
कैसे शिक्षा, कैसे विराम पर आये ।”

नौ ::

:: यदि मैं 'कामायनी' लिखता

'प्रसाद जी' के 'कामायनी' नामक काव्य ने हिन्दी-काव्य-प्रेमियों को जितना प्रभावित किया है, उतना कोई आधुनिक काव्य नहीं कर सका है। उसने हिन्दी को गौरव प्रदान किया है तथा उसकी क्षमता के प्रति अविश्वासियों में विश्वास का संचार किया है। छायावादी शैली में प्रबंध काव्य के रूप में वह उतना ही आदृत है जितना गीति-काव्य-मणियों की माला के रूप में 'पल्लव'। फिर भी गुलाब के फूल में काँटे भी होते ही हैं और आधुनिक महाकाव्यों में प्रमुख स्थान ग्रहण करने पर भी 'कामायनी' काव्य महाकाव्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम माना जायेगा, इसमें सन्देह है। इस निबंध के उक्त शीर्षक के लिए मैं पंडित सुमित्रानंदन पंत का ऋणी हूँ। पंत जी और 'प्रसाद' जी एक ही डाली के दो पल्लव हैं, दोनों की क्षमताओं में दिशागत भिन्नता होने पर भी, अभिन्नता कम नहीं है, साथ ही यह कहना कठिन है कि दोनों में से श्रेष्ठ कौन है। अतएव उक्त शीर्षक लेकर भाषण प्रसारित करना अथवा लेख लिखना पंत जी के लिए जितना ही उचित हो सकता है, उतना ही मेरे लिए अनुचित, क्योंकि मुझसे तो यह प्रश्न किया जा सकता है..... क्या आर 'कामायनी'-जैसा महाकाव्य लिखने का स्वप्न भी देख सकते हैं ? किन्तु पाठकों को इस बात की जानकारी भी होगी कि पंत जी के उक्त निबंध-शीर्षक पर साहित्य के परीक्षकों और परीक्षार्थियों तक ने अधिकार कर लिया है, ऐसी अवस्था में मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे द्वारा उक्त शीर्षक के उपयोग का प्रयास साहित्य-प्रेमियों की दृष्टि में नितान्त अक्षम्य नहीं माना जायेगा।

आरम्भ ही में यह कह देना आवश्यक है कि शृंगार रस को प्रसाद जी ने जिस रूप में 'कामायनी' में प्रस्तुत किया है, वह हिन्दी-साहित्य में अपूर्व है। जहाँ तक प्राचीन हिन्दी-काव्य का सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में केवल सूरदास से उन्हे होड़ लेनी पड़ती है और जहाँ तक आधुनिक हिन्दी-काव्य का संबंध है, केवल पंत जी से। उस होड़ में भले ही वे विजेता न कहे जा सकें, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि विलक्षण रमणीयता ने उनके शृंगार रस को एक ऐसी वैयक्तिक विशेषता से सम्पन्न कर दिया है, जो उन्हींकी विभूति मानी जायेगी। सम्पूर्ण विश्व के अणु-अणु किस प्रकार अन्योन्य आकर्षण के सूत्र में बँधकर तल्लीन

होने के लिए आवेग-प्रेरित हो रहे है, इसकी अनुभूति से कवि आनन्द-सागर में निमग्न होकर आत्म-विस्मृत हो जाता है तथा अपने पाठक को भी भावना के एक ऐसे लोक में पहुँचा देता है जहाँ वह अपनी क्षुद्र मानसिक विक्षतियों से मुक्त होकर त्रिचित्र स्वर्गीय सुख का अनुभव करने लगता है। प्रसाद जी ने जो प्रधान भाव हृदयंगम कराने का प्रयत्न किया है, वह यह है कि अपने ज्ञान, इच्छा और क्रिया को पारस्परिक सहयोग से सम्पन्न बनाकर ही मनुष्य सम रस जीवन के उस स्तर को प्राप्त कर सकता है, जहाँ उसे सच्चे आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, जहाँ वह उस अलौकिक, सरस संगीत और नृत्य का रसास्वादन कर सकता है जो रसपूर्ण विश्व जीवन को निरंतर सजीव, उत्फुल्ल और सशक्त बना रहा है। बुद्धि-व्यवसाय का प्रसाद रागात्मक तत्त्व से सम्पन्न हो, 'कामायनी' का यही संदेश है।

'कामायनी' ने आकर्षण और संगीत की कल्पना विराट् समष्टिगत तथा वैयक्तिक दोनों ही स्तरों पर की है, किन्तु विकर्षण और जीवन के विवादी स्वर के भयकर, सगठित स्वरूप की कल्पना विराट् समष्टिगत रूप में न करके केवल वैयक्तिक स्वरूप में ही की है। नायक तत्त्व का समावेश श्रद्धा में किया गया है और आत्म-समर्पण तथा सेवा-भाव के द्वारा मनु के अन्तर में घँसकर बैठे हुए दानवत्व का बध करना, अस्थिरकारी विकार का शमन करना ही उसका लक्ष्य निर्धारित हुआ है। सारस्वत प्रदेश की प्रजा के साथ संघर्ष में जहाँ मनु घायल हुआ है, वहाँ वह उस बुद्धि-विशिष्ट दानवत्व ही का प्रतीक है, जिसके प्रति श्रद्धा को सम्राग करना है और प्रजा के विद्रोह ने प्रकारान्तर से श्रद्धा के सहायक तत्त्व के रूप में कार्य किया है। मनु के आन्तरिक दानवत्व के विकास में, उद्दीपन में इड़ा कार्यकारी हुई है, किन्तु उसने मनु के रोग को बढ़ाकर उसके स्थायी उपचार को अनिवार्य बनाया तथा इस प्रकार श्रद्धा की जीवनोद्देश्य-सिद्धि को संभव भी किया है। आकुलि और किलात असुर भले ही हो किन्तु मनु के आसुरी भाव रूप समुद्र में उनकी असुरता एक बूँद की तरह विलीन हो गई है। इस प्रकार 'कामायनी' का सम्पूर्ण कथानक मनु और श्रद्धा के निषेधात्मक तथा विधेयात्मक तत्त्वों के पारस्परिक घात-प्रतिघात को अग्रसर करता हुआ ही चला है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वित तत्त्व को प्रस्फुटित कर के श्रद्धा मनु को अपनी ओर पूर्णतया आकर्षित कर लेती है। इसी आधार पर मैंने कहा है कि मानव-जीवन की समस्या के संबंध में 'कामायनी' का उपचार मूलतः वैयक्तिक धरातल पर ही है। रही यह बात कि उसमें श्रद्धा के पुत्र मानव का जीवन इड़ा के साथ सम्बद्ध कराकर मनुष्य-समाज-मात्र को अपने समस्त बुद्धि-प्रयासों में रागात्मक तत्त्व को भी लिए चलने का संकेत किया गया है, सो इसके महत्त्व को स्वीकार न करने पर भी यह मानना ही होया कि

यह अपेक्षाकृत गौण है ।

नायक तत्त्व से सम्पन्न श्रद्धा ही कामायनी के उक्त उपचार के वैयक्तिक धरातल को विराट् समष्टिगत धरातल में परिवर्तित कर सकती थी, उसने अपनी दया, ममता, प्रीति आदि के क्षेत्र का प्रसार करके ऐसा प्रयास किया भी । किन्तु कवि ने उसे माता का हृदय देकर भी वह आतुरता और सकल्प-शक्ति नहीं दी जिसके द्वारा अपने आश्रित को पीड़ित होते देखकर वह उसकी रक्षा के लिए दौड़ सकती । जिस पशु का उसने प्यार से पाला-पोसा उसके लिए रोने के सिवाय और क्या किया ? वह रोना मन में कौन-सा परिवर्तन ला सका है ? परिवर्तन की बात तो दूर, क्या अपनी मीठी बातों से प्रभावित करके मनु ने अपनी वासना की पूर्ति में एक कदम और आगे बढ़ने के लिए उसको सहमत नहीं कर लिया ? मानव को गर्भ में प्राप्त करने के पहले भी पशु का पालन-पोषण करने के नाते श्रद्धा मातृत्व पर आरुढ़ हो चली थी, अपने उक्त मातृ-पद के उत्तरदायित्व को केवल अशु-प्रवाह तक सीमित रखकर उसने दम्पति-धर्म का निर्वाह करने में सकोच नहीं किया । यही श्रद्धा की दुर्बलता हमारे सामने स्पष्ट होने लगती है और हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि कवि ने उसका निर्माण पारिवारिक स्तर पर ही किया है, केवल मनु के सुख-साधन तक उसके समस्त प्रयत्न सीमित हैं, सम्पूर्ण जगत् की, एक देश की अथवा एक छोटे-से समाज की सेवा में भी लगने का उसमें सामर्थ्य नहीं । ऐसी परिस्थिति में कैसे कहा जाय कि 'कामायनी' महाकाव्य के उपयुक्त नायक-तत्त्व धारण करने के उपयुक्त हो सकी है ?

'कामायनी' को एक महाकाव्य के रूप में लेकर जब हम विचार करने लगते हैं तो हमारे सामने यही कठिनाई खड़ी होती है कि उसमें जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं है; कोमलता और माधुर्य की उसमें जितनी अधिकता है उतनी कठोरता और तिक्तता की नहीं, आकर्षण और संगीत की ओर जितनी अभिरुचि है उतनी विकर्षण और विवादी स्वर की ओर नहीं । और यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के अप्रिय, अरुचिकर तत्वों को बहिष्कृत करके नहीं, उन्हें आत्मसात् करके ही महाकाव्य अपनी शक्ति का निर्माण करता है ।

यदि कोई यह कहे कि कामायनी में मनु ही नायक है, श्रद्धा नायक-तत्त्व से सम्पन्न नहीं है तो उससे बहस छेड़ने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि यह स्पष्ट है कि ऐसे सज्जन ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का केवल शुक-पाठ किया है उसके मर्म को हृदयंगम करने की चेष्टा नहीं की है ।

यदि मैं 'कामायनी' लिखता तो श्रद्धा को शक्तिहीन दया और सहानुभूति देकर केवल पारिवारिक सीमा के भीतर संकुचित न रखता, वरन् उसे तेजोमय,

संजीवनप्रद मातृत्व-भावना से सम्पन्न बनाकर भागे हुए मनु के सामने सारस्वत प्रदेश के विद्रोही जन-आन्दोलन की नेत्री के रूप में प्रस्तुत करता, उससे श्रद्धा का स्वरूप तो निखरता ही प्रबंध को भी चमत्कार और विशालता प्राप्त हो जाती। वस्तुतः श्रद्धा जिस रूप में अपने छोटे बच्चे को लेकर मनु को खोजती हुई दीन-हीन दशा में सारस्वत प्रदेश में पहुँची है, वह अत्यन्त शोचनीय हो गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रद्धा की उपस्थिति में सारस्वत प्रदेश की प्रजा का संघर्ष इतना रक्तपातमय न होगा जितना अन्यथा वह हुआ। मनु भी श्रद्धा को सामने पाकर इतने उग्र न होते और इतने घायल भी न होते। वस्तु की दृष्टि से उनके घायल होने से कोई बात बनी नहीं है, क्योंकि सहृदय पाठक को उनकी हिंसात्मक वृत्तियों के कारण उनके प्रति सहानुभूति नहीं रह गई है।

यह तो पाठक ने देख ही लिया है कि प्रसाद जी ने श्रद्धा के व्यक्तित्व में गति का संचार नहीं किया है। इस कारण उसकी प्रवृत्ति में बड़ी सहनशीलता का विकास हुआ है, मनु चाहे जितना बड़ा अनाचार कर डाले, किन्तु उसकी आलोचना में वह एक शब्द भी नहीं बोल सकती। सारस्वत प्रदेश की प्रजा का पक्ष सर्वथा न्याय पर आधारित था, किन्तु उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के लिए उसके पास थोड़ा भी समय नहीं है, उसका सारा ध्यान मनु ही पर केन्द्रित है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि श्रद्धा सर्वथा संकुचित नहीं है और मनु को ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वित केन्द्र पर पहुँचाने की अधिकारिणी है ?

कर्म का जो स्वरूप श्रद्धा ने निर्दिष्ट किया है, वह आकुल वासना-प्रेरित कर्म-मात्र है। जीवन की प्रहृल्ला से प्रभूत होने वाली निष्क्रिय कर्षणा को तो उसने जाना, किन्तु सक्रिय कर्षणा का स्वरूप वह केवल मनु के लिए व्यक्त कर सकी। यह श्रद्धा के जीवन की सही गूँता है जो वह घायल मनु के उपचार के लिए तो दौड़ सकी, किन्तु जिन्हें मनु ने अपने क्रूर-क्रोध की अग्नि में भस्म कर दिया था, उन्हें सक्रिय कर्षणा प्रदान करने की बात तो दूर रही, उसने निष्क्रिय कर्षणा का एक अंश भी देना उचित नहीं समझा। मनु तो धनुष-बाण चलाने वाला वासना-मग्न शिकारी है ही, श्रद्धा भी अनेक स्थलों में मनुष्यता के साधारण मानदंड से ऊपर नहीं उठ सकी है। इस प्रकार 'कामायनी' के भीतर कर्म कहीं भी व्यक्तिगत अथवा कौटुम्बिक सीमा को पार करके सामाजिक धर्म का स्वरूप नहीं धारण कर सका है। एक ओर उपस्थित सामाजिक धर्म की अवहेलना हो और दूसरी ओर इच्छा, कर्म और ज्ञान का तथाकथित सामंजस्य प्राप्त करके दिव्य आहत-अनाहत निनाद श्रवण करने की तैयारी हो—ये दोनों विरोधी बातें हैं और इनका समाधान न होने से काव्य के कलात्मक प्रभाव की केन्द्रिकता में बाधा पड़ा है।

जब श्रद्धा सामाजिक धर्म-पालन की प्रगतिशीलता से सम्पन्न नहीं है और मनु के प्रति प्रगाढ़ प्रणय ही में अपने जीवन की पूर्णता को केन्द्रित कर रही है, तब इड़ा के प्रति उसमें सपत्नी भाव न जागृत होते देखकर आश्चर्य होता है। थोड़ी देर के लिए श्रद्धा को एक मानसिक वृत्ति के रूप में न देखकर नारी के ही रूप में देखिए, क्या यह संभव है कि इड़ा का पूर्व परिचय पाने पर उसके प्रति असंतोष और द्वेष का भाव श्रद्धा के हृदय में न उमड़े ? ऐसी परिस्थितियों की कल्पना भी की जा सकती है जब अत्यन्त उदार भावना उक्त सपत्नीभाव का दमन कर दे और यह भी माना जा सकता है कि श्रद्धा उदारता की चरम स्थिति को पहुँच चुकी थी, किन्तु निम्न मानसिक वृत्तियों को उच्च वृत्तियों से संघर्ष में पराजित कराने में जितनी कलात्मकता का विकास संभव है, उतनी कलात्मकता उन वृत्तियों का सर्वथा अभाव कर देने से प्रकट नहीं हो सकती, यह पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रस्तुत परिस्थिति में श्रद्धा का जीवन इतना ऐकान्तिक हो गया है कि नारी के सामान्य जीवन के प्रतिनिधित्व से भी उसे कही-कही वंचित होना पड़ता है।

श्रद्धा को मानसिक वृत्ति के रूप में न ग्रहण करके सामान्य नारी ही के रूप में जब हम पुनः विचार के लिए लेते हैं तब उसकी वह उदारता समझ में नहीं आती जो उसने अपने पुत्र को इड़ा के पास छोड़ देने में दिखाई है। उसे शायद इस बात का भरोसा है कि उसने इड़ा की श्रद्धा कर दी है और श्रद्धा-विरहित मनु के स्थान में श्रद्धा-तत्त्व-युक्त, मनु-श्रद्धा के पुत्र मानव को पाकर वह अपनी योजनाओं को अधिक मात्रा में लोककल्याणकारक बना सकेगी, इसका उसे पूर्ण विश्वास है। युवित के रूप में इस नियोजना की उपयोगिता स्वीकार की जा सकती है, किन्तु यह विधान श्रद्धा के साधारण नारी-चरित्र को सगत रूप में नहीं उपस्थित करता। जिस नारी का पति मिलकर खो गया है—पति भी ऐसा जिसके सम्बन्ध में एक गर्त से निकलकर दूसरे गर्त में गिरने की शका की जा सकती है वह अपने पुत्र को उस स्त्री के हवाले कर दे, जिसकी वदौलत पति की सब प्रकार की दुर्दशा हो चुकी है, यह एक ऐसी बात है जो साधारण मानव-चरित्र के विरुद्ध पड़ती है और यह समझ में नहीं आता कि श्रद्धा सामान्य होकर भी इतनी अस्वाभाविक क्यों हो जायगी।

मानव-इड़ा की सबध-नियोजना भी काव्य-प्रबन्ध की सहायता के लिए युक्ति के रूप में भले ही उपयोगिनी हो, किन्तु उसमें स्वाभाविकता नहीं है। कवि उसे स्त्रीचिंतन करके हमारे सामने उपस्थित करता है। मनु जब श्रद्धा को छोड़कर अपनी अतृप्ति का अन्त करने के लिए बाहर निकले थे तब मानव शिशु-मात्र था। इसके

विपरीत जब उसकी भेट इडा से हुई तब वह एक सुन्दरी बाला के रूप में प्रस्फुटित हो चुकी थी। इडा और श्रद्धा की भेट होने के समय भी यह शिशु अधिक-से-अधिक एक बालक ही था। तरुणी इडा का बालक मानव के साथ सम्बन्ध व्यवहार रूप में उचित नहीं जान पड़ता।

यह कहा जा सकता है कि नवयुवती इडा ज्यो-ज्यों तारुण्य की ओर बढ़ती चली त्यों-त्यों श्रद्धा-सम्पर्क के प्रभाव से उसका उन्माद घटता चला, जिससे वह अधिकाधिक मात्रा में मानव की पत्नी होने के योग्य हो गई। यह मान लेने से हमारी कठिनाई हल हो सकती है, किन्तु उस अवस्था में यह मानना भी आवश्यक हो जायगा कि कामायनी के पात्र किसी कथा के पात्र नहीं हैं, वरन् भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के प्रतीक-मात्र हैं, जिनका संघटन कथा के सूत्र को भी चालित कर सकता है। किन्तु स्वयं प्रसाद जी ने उक्त प्रतीक-भावना को विशेष महत्त्व नहीं दिया है और यही कहा है कि 'मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है'। इससे समझ पड़ता है कि इडा और मानव की वय-विषयक विषमता के निवारण की ओर उन्होंने जान-बूझकर कोई ध्यान नहीं दिया।

यह भी कहा जा सकता है कि इडा और मानव का सम्बन्ध पत्नी और पति का सम्बन्ध न माना जाय। इसके उत्तर में मुझे केवल यही कहना है कि क्या कवि को यही अभीष्ट था? क्या उसकी उच्च कला इडा और मानव के बहन-भाई-संबन्ध के प्रतिष्ठापन में अपनी पूर्ण सरसता प्राप्त कर सकती थी?

कथानक की प्रगति के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो देखते हैं कि वह बहुत अव्यवस्थित है। प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—गति के इन पाँच पड़ावों को कथानक के भीतर खोजने का प्रयत्न करने पर हमें प्रारम्भ लगभग आठ सर्गों तक फैला हुआ मिलता है। १५ सर्गों में से आठ सर्ग केवल एक पड़ाव के लिए और शेष ७ सर्ग ४ पड़ावों के लिए दिये जाने के कारण काव्य के अवयव-संगठन में आनुपातिकता-गत सौन्दर्य का ह्रास हुआ है। इन चार पड़ावों में से अकेले द्वितीय पड़ाव अर्थात् प्रयत्न ने लगभग १२वें सर्ग तक पाँव पसार दिये हैं। १२वें सर्ग के अन्तिम भाग में जहाँ मनु की आत्मग्लानि व्यक्त होती है, प्राप्त्याशा की झलक मिल जाती है और १३वें सर्ग में पुनः भागे हुए मनु के मिलने के कुछ पहले अथवा उसके मिल जाने पर नियताप्ति का स्थल प्राप्त हो जाता है। रहा फलागम अर्थात् कार्य की पूर्ति, सो १४वें और १५वें सर्ग में वह सम्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में यह कथन आवश्यक है कि स्वप्न देखने के बाद श्रद्धा ने जिस आसानी से प्रयत्न की मंजिल पार करके सारस्वत प्रदेश में

मनु को प्राप्त कर लिया वह महाकाव्य के कथानक के उपयुक्त नहीं, क्योंकि महाकाव्य में कवित्व-प्रवाह की सहायता के लिए कथानक को अनिश्चय, आशंका, अममजस आदि तत्त्वों का सहयोग भी मिलना ही चाहिए। प्राप्याशा और नियताप्ति के बीच में तो जैसे कोई दूरी ही नहीं रखी गई, मानव को इडा के हवाले करने के अवसर पर श्रद्धा विश्वासपूर्वक कहती है कि मनु कही-न-कही पहाड़ों, कुंजों आदि में मिल ही जायेंगे और हुआ भी यही। सरस्वती के किनारे लताओं से घिरी हुई एक गुफा में वे साँस ले रहे थे और आहट पाकर श्रद्धा ने देखा तो मनु की चमकती हुई आँखें देख पड़ी।

संक्षेप में मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि यदि मुझे 'कामायनी' का कथानक लेकर काव्य लिखना हो तो मैं सबसे पहले उसे लाक्षणिक विधान और मानव-भावरोप की अतिशय प्रवृत्ति से मुक्त करूँ। क्योंकि इनके कारण उसमें जगह-जगह पर बहुत अधिक जटिलता और अस्वाभाविकता भी आ गई है। इसके बाद श्रद्धा के व्यक्तित्व को विराट् तत्वों से मंडित करके आकर्षण और संगीत की प्रचुरता के उपयुक्त ही विकर्षण और विवादी स्वरों के समावेश तथा कथानक की प्रगति में संतलन-विकास की ओर भी मेरा ध्यान अवश्य ही जाय। इस कथन के पूर्वाद्ध से सम्बन्धित काव्यांश की असाधारण सरसता और चमत्कृत अभिव्यंजना को दृष्टिगत रखकर उसे कार्यान्वित करते समय मैं, संभवतः स्वयं ही सकल्प-विकल्प में पड़ जाऊँ और काव्य-रसिकों की एक बहुत बड़ी संख्या को असंतुष्ट करने का उत्तरदायित्व न भूल सकूँ, किन्तु उत्तराद्ध में उल्लिखित रचनात्मक तत्वों का 'कामायनी' से बहिष्कार तो मैं किसी प्रकार भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उनके अभाव में 'कामायनी' के महाकाव्यत्व को निःसंदेह क्षति पहुँची है।

दस :

:: हमारे रचनाकार और आलोचक^१—१

रचनाकार रचना करने के अनन्तर यह आशा करता है कि उसकी कृति का उचित मूल्यांकन होगा। सत्समालोचको की मण्डली में यथायोग्य आदर पाकर वह उत्साहित होगा और अन्य मनोरम कृतियों की उत्पत्ति में लगता है। यदि हमारे यहाँ कलात्मक तथा वैज्ञानिक आलोचना का विकास होता और सत्यशोध-भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण की सहायता से यदि हम प्रस्तुत कृतियों के सम्बंध में विवेचना करने के लिए आगे बढ़ते तो रचनाओं का यथार्थप्राय मूल्यांकन असंभव न हो जाता। रुचि-वैचित्र्य के कारण विद्वानों में भी मतभेद स्वाभाविक है, किन्तु वर्तमानकालीन पारितोषिकों के निर्माण में हम जिस मतभेद का परिचय देते हैं उसका आधार साहित्य का सिद्धान्त नहीं, व्यक्ति की आसक्ति है। हिन्दी साहित्य के इतिहासों में प्रत्येक के वर्तमानकालीन विवरणों पर दृष्टिपात कीजिए, आप उनमें व्यक्त होने वाले मत-वैषम्य को देखकर दाँतों-तले उँगली दाव लेंगे। साधारण और असाधारण रचनाकार की भी पहचान करने के लिए वहाँ न कोई साहित्यिक कसौटी है, न कोई सिद्धान्त है, परिणाम यह है कि एक इतिहासकार रचनाकार विशेष को महत्त्व देता है और दूसरा किसी अन्य को अपनी प्रशंसा का पात्र समझता है और दोनों ही स्वच्छन्दतापूर्वक कितने ही ऐसे रचनाकारों के नामों का लोप कर देते हैं जिनकी उपेक्षा से स्वयं उन्हींके इतिहास की अपरिमित हानि होती है, क्योंकि उन्हें लोक-मत के न्यायालय में आराधी बनकर तो उपस्थित होना ही पड़ता है।

वर्तमानकालीन रचनाकार की अपेक्षा प्राचीन रचनाकार के सम्बन्ध में राग-द्वेष से प्रभावित होने की कम आशंका रहती है, किन्तु यदि हमें हिन्दी-साहित्य को विश्व के साहित्य-सेवियों की दृष्टि में ऊँचा उठाना है तो अपनी प्रशंसा, अपनी उपेक्षा और निन्दा के वितरण में सर्वत्र अधिक सजग और सावधान होना पड़ेगा। साथ ही अपने अनुसंधान के क्षेत्र में गौण और प्रधान अंशों को पृथक्-पृथक् करके उनका निर्वाचन करना होगा और इस बात को दृष्टि में रखना होगा कि प्रधान की ओर हमारा ध्यान और परिश्रम पहले लगे तथा अधिक मात्रा में लगे। सत्य-शोध की भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण की सहायता से एक बार हम सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करें और देखें कि किस रचनाकार की कला में कितना सत्य

१. हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मेरठ अधिवेशन में साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से हुए गये भाषण का एक अंश।

है और रचनात्मक प्रेम का कितना विकास है। हनुमान ने अमूल्य मणियों को तोड़-तोड़कर ईंटों और पत्थरों के ढेर में फेंक दिया था, कारण यह कि वे राम-नाम के खोजी थे और उनमें रामनाम नहीं मिलता था। रचनाकार ने साहित्य-रचना के माध्यम द्वारा किस युगसत्य की अभिव्यक्ति की है, वह युगसत्य चिरंतन सत्य से कितनी मात्रा में सम्बद्ध और सुसंगत है, इसका अनुसंधान हम अब हनुमान् की निस्संग, निर्लिप्त, असंगत भावना के साथ करेंगे। तुलसीदास जी राजापुर के रहने वाले थे या सोरो के, वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे या कनौजिया थे, यह सब भी रोचक विवाद है, और साहित्य-सेवियों की जीवनी के सम्बन्ध में भी हमारी जिज्ञासा की पूर्ति होनी ही चाहिए, किन्तु अन्ततोगत्वा यह सब गौण है, मूलतः आवश्यक है तुलसीदास की कला के उन रहस्यों का उद्घाटन, उन गूढ़ तत्त्वों का विवेचन, जिनके कारण साढ़े तीन सौ वर्षों से हमारे हृदयों पर राज्य करके 'रामचरितमानस' निकट भविष्य में विदेशियों और विधर्मियों की भी श्रद्धा का पात्र होने जा रहा है। सूर ने विवाह किया था या नहीं, उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थी या वे जन्म से अंधे थे, यह जान लेने से भी हमारे कौतूहल की तृप्ति होती है और जिसके उद्योग और श्रम से इसका साधन हमें सुलभ होता है वह भी हमारे धन्यवाद का पात्र है, किन्तु हमारे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है यह जानना कि सूर की काव्य-कला के वे कौन-से उपकरण हैं, जिनके द्वारा समय की इतनी दूरी होने पर भी हमारा हृदय उनके हृदय के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर भूकृत हो उठता है। इस ज्ञान-सामग्री को उपलब्ध करना साधारण जिज्ञासा अथवा कौतूहल-समाधान-मात्र के लिए नहीं है, यह अनुसंधान अपने राष्ट्रीय जीवन के सूक्ष्म स्तरों के उस अध्ययन के निमित्त है जिसके आधार पर ही हम भविष्य में तुलसी और सूर-जैसे महान् कलाकारों की पुनरुत्पत्ति का स्वप्न देखने के योग्य बनेंगे।

यहाँ तक आपके सामने मैंने जो निवेदन किया है उसका सारांश इस प्रकार है—(१) हमें ऐसे प्रकृत विवेचक की आवश्यकता है जिसकी विवेचना कलात्मक अथवा वैज्ञानिक हो, (२) प्रकृत विवेचक की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रचलित राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति अपने प्रकृत स्वरूप को न प्राप्त करे; (३) हमारे शिक्षालयों में केवल कौतूहल की तृप्ति करने वाले अनुसंधान-कार्य की तुलना में आनन्दवद्धक रचनात्मक तत्त्वों के प्रकाश में सलग्न अनुसंधान-कार्य को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। वास्तव में इन तीनों में से प्रत्येक की प्रगति शेष दोनों के सहयोग पर निर्भर है और तीनों ही की प्रगति हमारे प्रकृत रचनाकार की उत्पत्ति तथा प्रगति के लिए आवश्यक है।

अब विचारणीय यह है कि विवेचनागत समसिद्धात की प्रतिष्ठापना के अनन्तर क्या रचनागत समसिद्धान्त की पृथक् रूप से खोज की आवश्यकता रह

जायगी। दोनों ही को युगसत्य की आराधना करनी है तथा उसे चिरन्तन सत्य के साथ सम्बद्ध रखना है। यदि दोनों में कही भिन्नता हो सकती है तो वह है अभिव्यक्ति के क्षेत्र में; विवेचन अपने-आपको तर्क और प्रमाण पर आधारित करता है, इसके विपरीत रचनाकार मानव-हृदय की भावनाओं और उसके उद्गारों पर अवलम्बित होता है। इस साधारण अन्तर को छोड़कर विवेचनागत और रचनागत समसिद्धान्त अभिन्न ही रहेगा, अन्यथा हमारी मानसिक शक्तियों का कोई संगठन नहीं हो सकेगा। संक्षेप में मेरा निवेदन यह है कि सत्यशोध की भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण द्वारा चिरन्तन सत्य-सम्मत अपने युगसत्य को हृदयंगम करके हमारे रचनाकार को उसे साहित्य-कला के विविध रूपों में उतारना होगा। हमारा वर्तमान रचनाकार यदि इस मौलिक सिद्धान्त को स्वीकार कर ले, यदि वह अपनी प्रत्येक कृति में सत्य और प्रेम अथवा अहिंसा की मूर्ति ही प्रतिष्ठापित किया करे तो मनोरंजन की असीम शक्ति से सम्पन्न होने के कारण उसका उपदेश सहज ही हमारे समाज के रचनात्मक आदर्शों का प्रचलन कर दे। निस्सन्देह हमारा वर्तमान रचनाकार उक्त सिद्धान्त को ग्रहण करने में असमर्थ दिखाई पड़ रहा है। इसका उत्तरदायित्व उस पर तो है ही, किन्तु जितना उस पर है, उससे अधिक उस समाज पर है जिसने उसके जीवन को एक विशेष स्वरूप दिया है, उसकी परिस्थितियों को एक विशेष साँचे में ढाला है। आज वह उस एजिन की तरह है जो अपनी प्रकृत अवस्था में हमें देशान्तर-यात्रा का आनन्द दिलाने की सामर्थ्य रखकर भी विषयगामी अथवा निष्क्रिय हो जाने के कारण लाभ कराने के स्थान में या तो हमारी क्षति कर रहा है या हम जहाँ थे वही हमें रोककर खड़ा है।

जो हो रचनाकार को अपने पैरों पर खड़ा होना है। उचित कार्य को उचित ढंग से करने की क्षमता उसे अपने में स्वयं विकसित करनी है। उसकी असमर्थता का चाह जो भी कारण हो, आगे आने वाली पीढ़ियाँ उसकी आलोचना करने में नहीं चूकेगी। अतएव उसे अपने मार्ग के काँटों को स्वयं ही एक ओर फेंककर प्रगति करनी चाहिए। उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी है कि उच्च कलात्मक कृतियों का निर्माण बगलो और अट्टालिकाओं में सदैव नहीं होता और न मोटरों में सैर के लिए लालायित रहने वालों के द्वारा ही वह सदा होता रहा है। विश्व की महान् कृतियाँ उन महाप्राण रचनाकारों की लेखनी से भी प्रसृत हुई हैं जिनके पास आज भोजन है तो कल के लिए कोई प्रबन्ध नहीं है जिन्होंने अनुचित उपायों से मिलने वाले धन के लिए हाथ नहीं फैलाये, जिन्होंने पूँजीपतियों और राजकीय अधिकारियों की दरबारदारी करके उनकी कृपा अर्जित करने के स्थान में भूखों मर जाना अधिक पसंद किया।

यदि विवेचक को निस्संगता, निरपेक्षता, अनासक्ति की शिक्षा ग्रहण करनी है तो रचनाकार को भी इसी पथ पर चलना है; उसे समाज के सभी वर्गों के प्रति अपने हृदय की सच्ची सहानुभूति देनी है, सच्चा स्नेह देना है और फिर भी अपने निस्संग भाव को बनाये रखना है। लम्पट, पतित, चरित्रहीन, उत्पीड़क सभी रचनाकार के प्रेम की अपेक्षा करते हैं, उसकी कृपा-दृष्टि के भिखारी हैं; और सबको अपनी दया, अपनी कृपा का वितरण करना उसका महान् धर्म है, जिसका पालन न करके वह स्वयं ही पतित हो जायगा। सत्य, प्रेम और अहिंसा ही एक-मात्र पक्ष हैं जिसके लिए रचनाकार पक्षपात कर सकता है, प्रगति ही एक-मात्र दल है जिसका वह सदस्य हो सकता है, केवल इतने के लिए उसे छूट है। इस मर्यादा का अतिक्रमण करके वह अपने उच्च आसन से नीचे गिरता है, उसकी वाणी में बल नहीं रह जाता, उसकी कला अनुप्राणित नहीं होती।

जिस कलाकार, रचनाकार के जीवन में निस्संगता नहीं है, उसकी कला में भी सग-जात दूषण आ ही जाते हैं, जिससे साहित्य की मर्यादा नष्ट होती है। अपनी मूल शक्ति से रहित होकर ऐसे साहित्य-स्रष्टा की कला बाह्य उपकरणों और अलंकारों में अपनी हानि-पूर्ति के साधन ढूँढती है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों की यही स्थिति थी, उनमें तपस्या नहीं थी, साधना नहीं थी, निस्संगता का, अनासक्ति का अभाव था। इसी कारण वे सूर और तुलसी ही के विषय को हाथ में लेकर भी मानव-हृदय को अनुभूति की उस चोटी पर नहीं चढ़ा सके जिस पर ये महाकवि उसे निरन्तर अनेक शताब्दियों से आसीन करने आ रहे हैं। मुझे भय है, कहीं रीतिकाल ही की स्थिति में हमारे वर्तमान युग के रचनाकार न पड़ जायें। यदि ऐसा हो गया तो यह हमारे लिए बड़ी शोचनीय बात होगी, क्योंकि रीतिकाल के रचनाकारों के सामने सामाजिक निर्माण के वैसे सुअवसर नहीं प्राप्त थे जैसे वर्तमान युग के रचनाकारों को उपलब्ध है और न उन पर वैसा उत्तरदायित्व ही था जैसा आज के रचनाकारों पर है।

मैं वर्तमान युग के हिन्दी-रचनाकार का महत्त्व घटाने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ। उसने अनेक दिशाओं में सराहनीय प्रगति की है। उसकी आज की प्रगति सामान्यतः भारत की किसी भी भाषा के रचनाकार की प्रगति से निम्न श्रेणी की नहीं है। महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि सभी क्षेत्रों में वह कार्यशील हो रहा है। किन्तु मेरा निवेदन यह है कि एक समय था जब हमने सूर और तुलसी की रचनाओं के द्वारा भारतीय साहित्य का नेतृत्व किया था और एक समय आज है जब वह नेतृत्व हमारे हाथ में नहीं रह गया है। भारत की अन्य भाषाओं के आधुनिक साहित्य में ऐसे रचनाकार हुए हैं और हो रहे

है जिनका यश भारत की सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में प्रवेश कर गया है। ऐसे रचनाकार हमारे यहाँ कहाँ हैं ? देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बोली जाने वाली हिन्दी के सफल आधुनिक रचनाकारों की नामावली माँगी जाय तो शायद एक दर्जन से अधिक नाम नहीं मिल सकेंगे और इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई हो। ऐसी अवस्थामें यह तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे आगे अनन्त, विस्तृत कार्य-क्षेत्र हमारी शक्तियों के उपयोग का आह्वान कर रहा है। क्या हम उसका उचित उत्तर देंगे ?

हमारे यहाँ जिस तेजी से रचनाकारों का लोप हो रहा है उस तेजी से उनकी संख्या में वृद्धि नहीं हो रही है, थोड़े ही समय के भीतर महाकवि हरिऔध, सिद्धहस्त उपन्यासकार श्रीप्रेमचन्द, यशस्वी नाटककार श्री जयशंकरप्रसाद चले गये। विवेचकों में स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल नहीं रहे। ये चारों ही अपने-अपने क्षेत्र में पथ-प्रदशक थे। इनका अभाव हो जाने से हमारे साहित्य की जो क्षति हुई है, उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जो हो, जितने दिन वे हमारे साथ रहे, उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया, अब हमारे कंधों पर जो भार आया है हम उसको साहसपूर्वक, त्यागभावपूर्वक सँभालें, उससे बचने के लिए बहाने न निकालें, साहित्य-निर्माण को अल्पप्राण वासनाओं की तृप्ति के साधन के रूप में ग्रहण करके अपने समाज और राष्ट्र का भविष्य अंधकारमय न बनायें।

हमारे रचनाकारों को यह स्मरण रखना चाहिए कि अमृतवर्षिणी और जीवनदायिनी पवित्रियाँ लिखने की अपेक्षा विष मिलाकर जीवन का नाश करने वाली पवित्रियाँ लिखना अधिक आसान है, अच्छे बने हुए महल को एक दियासलाई एक दिन में नष्ट कर सकती है, किन्तु उसीकी रचना करनी हो तो उसके लिए बहुत-से श्रमिकों को बरसों परिश्रम करना होगा। इस बात को ध्यान में रखकर हमारे रचनाकार भावी भारतीय समाज का निर्माण करें। जो लोग यह सोचते हैं कि कांग्रेस के सभापति, अथवा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मंत्रिगण इस कार्य को कर लेंगे, वे भ्रम में हैं, वे केवल उस तैयार खड़ी खेती को काटने वाले मजदूर हैं जिसे किसान रचनाकार ने बड़े परिश्रम और बहुत अधिक सावधानी के साथ बोया था, सीचा था, अकुरित, पल्लवित किया था, चर जाने वाले जानवरों से बचाया था और जिसकी रक्षा के लिए उसने खेत की मेड़ पर घुटने टेककर आँधों, पानी, ओले-पाले के रूप में अपने कोप को प्रदर्शित करने वाले इन्द्रदेव से प्रार्थना की थी।

समाज में रचनाकार का स्थान बहुत ऊँचा है, वह पृथ्वी पर का ब्रह्मा है, भूसुर है। अपने प्रकृत रूप में वह विवेचक से भी महान् है, चित्तक से भी श्रेष्ठतर

ह । प्रत्येक प्रकृत विवेचक प्रकृत रचनाकार नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्येक प्रकृत रचनाकार में विवेचक की विशेषता स्वभावतः सन्निविष्ट रहती है । विवेचक की सार्थकता तो इसीमें है कि वह रचनाकार को सचेत करे, सावधान और जागृत बनाये, जैसे मीठा-खोज की तैयारी के अवसर पर जाम्बवन्त ने हनुमान को उद्बोधित किया था । वह उसके महत्व को कम करने के लिए नहीं है, उसके चमत्कारों की घोषणा करने के लिए है । क्या ऐसे महान् रचनाकार के उच्च सिंहासन पर आसोन होना हमारे वर्तमान युग के साहित्य-स्रष्टा अपने जीवन का लक्ष्य बनाएँगे ?

जब हमारे सामाजिक जीवन का प्रवाह अवरुद्ध होकर, अपनी मूल धारा से पृथक् एक गंदे सोते के रूप में परिणत होता है तब उसके अस्वास्थ्यकर, अहितकर होने की प्रथम अनुभूति प्रकृत रचनाकार ही को होती है । इस सम्बन्ध में वह उसी प्रकार उपयोगी है, जैसे ज्वर की नाप करने के लिए थर्मामीटर आवश्यक होता है । जैसे हम थर्मामीटर को बहुत सँभालकर रखते हैं, वैसे ही हमारे समाज का भी कर्तव्य है कि वह अपने रचनाकार को सँभालकर रखे । प्रकृत रचनाकार के अभाव में प्रकृत विवेचक उसकी उत्पत्ति के लिए मार्ग परिष्कृत करता है और अंतर काल में सामाजिक सुधारक के रूप में कार्य करता है । किन्तु प्रकृत रचनाकार की आवश्यकता अनिवार्य बनी ही रहती है, क्योंकि उसीके हाथ में वह साँचा है जिसमें ढलकर समाज पुनर्जीवन प्राप्त कर सकता है । विश्व में जिस समाज को उचित अवसर पर प्रकृत रचनाकार की प्राप्ति नहीं हुई वह सीमित, संकीर्ण पथावलम्बी होकर शीघ्र ही काल के गाल में समा गया । हमारा भारतीय समाज प्रागैतिहासिक काल से लेकर अब तक अपने उचित अवसर पर प्रकृत विवेचक और प्रकृत रचनाकार से सहारा पाकर ही जीवित है और नये साँचे में ढलकर आगे भी जीवित रहने की आशा करता है । क्या उसकी यह आशा पूर्ण होगी ? क्या हमें प्रकृत विवेचक और प्रकृत रचनाकार की प्राप्ति होगी ?

प्रकृत विवेचक और प्रकृत रचनाकार का यदि हमें स्वागत करना है तो पहले उनको पहचानना होगा, जिससे कहीं धोखे में पड़कर हम अपना अभिवादन विकृत विवेचक और विकृत रचनाकार को न दे दें । मैंने पहले ही यह निवेदन किया है कि सत्यशोध भावना तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण इन दोनों ही का कृति में होना अनिवार्यतः आवश्यक है । इस गुण का जिस विवेचक में अभाव हो उसे विकृत विवेचक और जिस रचनाकार में यह विशेषता न हो उसे विकृत रचनाकार कहने के लिए हम विवश हैं ।

प्रकृत विवेचना और प्रकृत रचना फलित ज्योतिष की कुण्डली की तरह काल्पनिक वस्तुएँ हैं, इनमें पूर्णता प्राप्त करना असम्भव है । हम पूर्ण के निकट पहुँचने

ही का प्रयास कर सकते हैं। संसार का कोई भी रचनाकार ऐसा नहीं है जिसकी कृति में विकृति की खोज न की जा सके। कालिदास, तुलसीदास, सूरदास की भी रचनाओं में हम अपूर्णता का, विकृति का अन्वेषण कर सकते हैं। इस अपूर्णता, विकृति के होते हुए भावें महान् हैं। उनकी इस महत्ता का रहस्य यह है कि उन्होंने अधिक-से-अधिक पूर्ण, अधिक-से-अधिक प्रकृत होने के लिए प्रखर साधना की है, गहरी तपस्या की है, जिसका परिणाम यह हुआ कि विकृति के होते हुए भी उनकी कृति का कलात्मक स्तर युगसत्य के स्तर से ऊँचा रहा है और उनकी थोड़ी-बहुत विकृति अत्यन्त प्रगतिशील प्रकृति के समुद्र में निमग्न हो गई है। हमारे वर्तमान रचनाकार में भी यदि इसी प्रकार की विकृति हो तो कोई चिन्ता की बात नहीं। शोचनीय बात तब होगी जब उसकी विकृति उस युगसत्य के स्तर से निम्न हो जायगी, जिसे हमने अपने वर्तमान सामाजिक जीवन के सुव्यवस्थित विकास के लिए, अपने अज्ञान, प्रमाद आदि से उत्पन्न होने वाले बन्धनों को तोड़ने के लिए निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया है। यह युगसत्य वही है जिसके द्वारा हमने उत्पीड़क विदेशी शासन से मुक्ति पाई है और जो उस मुक्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए हमारी सम्पूर्ण शक्तियों को आवाहित कर रहा है। क्या उस युगसत्य का नाम हिमालय की चोटी पर बैठकर घोषित करने की आवश्यकता है? क्या 'अहिंसात्मक सत्याग्रह' से हम चिरपरिचित नहीं हैं?

हाँ, यह अहिंसात्मक सत्याग्रह ही हमारा युगसत्य है। अपनी समस्त विकृति के रहते हुए भी यदि हमारी रचना में निहित, समाविष्ट सत्य का स्तर अहिंसात्मक सत्याग्रह के सत्य से उच्चतर अथवा उसके समकक्ष होगा तो उससे समाज का उपकार हो सकेगा और वह उपादेय हो जायगा। किन्तु यदि हमारी कृति में प्राण रूप में विद्यमान सत्य का स्तर अहिंसात्मक सत्याग्रह के स्तर से नीचा होगा तो हमें समाज के सामने उत्तरदायी हो जाना पड़ेगा। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि चिरतन सत्य के सेवियों को भी युगसत्य का कर देना पड़ता है, फिर जो युगसत्य के विरोधी आचरण में लगकर उसको अपदस्थ करने में लगेंगे उन्हें तो दंडनीय होना ही पड़ेगा।

हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि हमारा प्रस्तुत युगसत्य अनिश्चित, अपरिमित समय तक हमारे जीवन में कार्यशील होने के लिए आया है। जो लोग यह समझते हैं कि वह अपने प्रचारक महात्मा गाँधी के साथ सदा के लिए चला गया व धोखा खा रहे हैं। भारतीय व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित और शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए वह अवतीर्ण हुआ है और उसकी प्रगति, उसकी कार्य-प्रेरणा की तब समाप्ति होगी जब हमारे समाज का पतित से पातित,

दलित-से-दलित व्यक्ति मानवता की श्रेष्ठता से सम्पन्न ही होगा। राजनीति से हटकर वह साहित्य में प्रवेश करेगा और साहित्य में अभिव्यक्ति पाकर फिर साधारण जन-जीवन में, समाज के दैनिक आचरण में कार्य शैली में व्यक्त होगा। जितनी ही जल्दी हम इस यथार्थता को हृदयगम कर ले उतना ही अच्छा हमारे लिए होगा, क्योंकि तब हम उसका अनावश्यक विरोध करके अपयश-भागी होने से बच जायेंगे।

जब यह निर्विवाद है कि अहिंसात्मक सत्याग्रह हमारे रचनात्मक साहित्य को प्रभावित करने के लिए आ रहा है, तब यह विचारणीय हो जाता है कि वह अपने राजनैतिक प्रचारात्मक मूल्यों द्वारा हिन्दी साहित्य कला को नीरस बनावेगा अथवा उसे किसी हद तक बन्धन-मुक्त करके सरसता विकास के लिए अधिक परिष्कृत और योग्य बना डालेगा। मुझे पिछली बात की असदिग्ध सम्भावना में पूर्ण विश्वास है, अतएव उसके सम्बन्ध में दो शब्द कहने का सहस्र करता हूँ।

अहिंसात्मक दृष्टिकोण का तिरस्कार करके जब से अभारतीय संस्कृति के अनुगामी अथवा भारतीय संस्कृति का नाम लेकर भी अभारतीय संस्कृति ही का, अधिकांश में पोषण करने वाले हमारे कुछ रचनाकारों ने हिंसात्मक दृष्टिकोण को अपनाया है, तब से उन मूलों पर भी प्रहार करने की उनकी प्रवृत्ति दिखायी पड़ रही जो हमारे भारतीय जीवन द्रुम को धारण करते हैं। परिणाम यह हो रहा है कि हिंसा की कामना उत्तरोत्तर अनिवारित प्रगति प्राप्त कर उन्हें मानसिक वासनाओं और उत्तेजनाओं की उलझनों ही में प्रायः अपनी साहित्य सृजन-शक्ति का अपव्यय कर देने के लिए विवश कर रही है। इस प्रकार उन्हें कला की मध्यम श्रेणी की स्थितियों ही से संतोष कर लेना पड़ रहा है—उन स्थितियों से जिनमें सरल, त्याग भाव के लेबेल वाले स्वर्णपात्रों के भीतर अवारित भोग-लालसा की मदिरा छलकती मिलती है। उच्च कलात्मक कृतियों में जिन परिस्थितियों का उपयोग साधन के रूप में होता है, उन्हीं को ये कलाकार साध्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की संगति में चलने वाले रचनात्मक सिद्धान्तों का चिर-अम्यस्त भारतीय पाठक इन अभारतीय शैली के रचनाकारों के साथ सच्चा सौहार्द-पूर्ण सम्पर्क नहीं स्थापित कर पाता, और यदि किसी प्रकार यह संभव भी हुआ तो पाठक स्वयं ही अव्याजनीय पथ का पथिक हो जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में देश और समाज के रचनात्मक विकास में जिस शक्ति की प्रयोजना अधिक श्रेयस्करी होती वह व्यर्थ के कार्यों में नष्ट हो जाती है।

एक उदाहरण देने से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायगी। 'क' और 'ख' नामक दो यात्रियों की कल्पना कीजिए। 'क' को दिल्ली की यात्रा करनी है और

‘ख’ को कानपुर की। कानपुर तक पहुँच जाना ‘क’ का अन्तिम उद्देश्य नहीं है, किन्तु साधन-स्वरूप अवश्य है, क्योंकि वहाँ तक गये बिना वह दिल्ली तक यात्रा करने की अपनी इच्छा की पूर्ति कर ही नहीं सकता। इसके विपरीत ‘ख’ के लिए कानपुर पहुँचना साधन-स्वरूप नहीं है, साध्य स्वरूप है। ‘क’ की तरह ही अहिंसात्मक दृष्टिकोण वाला रचनाकार निर्विकार सत्य को निर्विकार कला के रूप में व्यक्त करना चाहता है; मानसिक वासनाओं और उत्तेजनाओं को अपने मार्ग के किसी पड़ाव पर छोड़कर उनमें अपने मन को रमण करने के लिए अवकाश न देकर वह पूर्ण, प्रकृत तृप्ति की खोज में आगे बढ़ता है। कालिदास का ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ नामक नाटक ऐसा ही है, नाटककार ने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय-यापार को, जिसने अपनी प्रगति के पूर्व कण्व मुनि की स्वीकृति की कोई अपेक्षा नहीं की थी, अपनी कला का साध्य, अंतिम लक्ष्य नहीं माना है, उसे उन्होंने साधन के रूप में ग्रहण करके आगे बढ़ने की चेष्टा की है और उनकी इसी मानसिक मूर्ति में ‘शाकुन्तला नाटक’ की महत्ता का रहस्य छिपा है। हिंसात्मक दृष्टिकोण के दृष्टान्त स्वरूप मैं यहाँ ‘रसखान’ का एक कवित्त दे रहा हूँ, आप देखेंगे कि कालिदास की रचना में जो कला का साधन है वही रसखान की कृति में कला का साध्य हो गया है :

छूटी लोक लाज गृहकाज मन मोहनी को
मोहन को भूलि गयो मुरली बजायबो ।
अब रसखानि दिन द्रु मे बात फैलि जंहे
सजनी कहाँ लौँ चंद हृदयन दुरायबो ॥
काल्हि ही कलिदी तीर वितयो अचानक ही
दुहुन की ओर दोऊ मुरि मुसिकायबो ।
दोऊ परे पैयाँ दोऊ लेत है बलैयाँ
उन्हें भूलि गई गैयाँ इन्हें गागरि उठायबो ॥

इस कवित्त में से ‘मनमोहनी’, ‘मोहन’ और ‘कलिदी’ इन शब्दों को निकाल दीजिए; इन शब्दों के द्वारा हमारी सहानुभूति की एक पृष्ठभूमि इस रचना को मिल जाती है और उसीके आधार पर वह खड़ी हो लेती है; उनसे रहित होकर यह कवित्त आसक्ति का एक चित्र-मात्र रह जाता है।

अनेक विषमताओं के कारण, संभव है, कालिदास के ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ से इस कवित्त की तुलना करने में कुछ असुविधा प्रतीत हो, इस कारण हिन्दी-काव्य में अहिंसात्मक दृष्टिकोण के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदास के ‘रामचरित-मानस’ की कतिपय पंक्तियाँ, जिनमें स्वयंवर के पूर्व सीता और रामचन्द्र के एक-

दूसरे के प्रति आकर्षित होने का चित्रण किया गया है, यहाँ प्रस्तुत करता हूँ :

“कंकण किकिरि नूपुर धुनि सुनि ।
 कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
 मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हों ।
 मनसा विश्व विजय कहूँ दीन्हों ।
 तात जनक-तनया यह सोई ।
 धनुष-यज्ञ जेहि कारण होई ॥
 पूजन गौरि सखी ले आई ।
 करति प्रकाश फिरति फुलवाई ॥
 तामु बिलोकि अलौकिक शोभा ।
 सहज पुनीत सोर मन क्षोभा ॥
 सो सब वारण जान विधाता ।
 फरकाहि सुभग अंग सुनु आता ॥
 अस कहि पुनि चितये तंहि ओरा ।
 सिय मुख शशि भये नयन चकोरा ॥
 भये बिलोचन चारु अवचल ।
 मनहुँ सकुचि जिमि तजेउ दृगचल ॥”

स्मरण रहे कि ये पक्तियाँ ‘रामचरित मानस’ में तुलसीदास की कला के साध्य अंश की नहीं, साधन अंश की प्रतिनिधि हैं, और फिर भी अहिंसात्मक दृष्टिकोण की इन पर कितनी गहरी छाप है !

हमारे वर्तमानकालीन रचनाकारों की एक श्रेणी अधिकांश रीतिकालीन कवियों की तरह कला की निम्न कोटियों को प्रस्तुत करने ही में तृप्ति का अनुभव कर रही है; भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में उसके चित्रण, उसकी चरित्र-सृष्टियाँ उद्देगजनक और नैतिक स्वर को नीचे गिराने वाली सिद्ध हो रही हैं । यह श्रेणी अपरिपक्व वय और अनुभव वाले विद्यार्थियों का सीहार्द प्राप्त करके अपने को सफल और कृतार्थ समझ रही है । राधा-कृष्ण की आड लेकर जैसे रीतिकालीन कवियों ने अपनी निम्न कोटि की रचनाओं को भी लोकप्रिय बनाने का रास्ता पा लिया था वैसे ही इस वर्ग के कलाकार कहीं तो राधा-कृष्ण ही की परिपाटी पर चलकर अभी तक उस परम्परा को चलाये चल रहे हैं और कही प्रगति का नाम लेकर ऐसी कृतियाँ उपस्थित कर रहे हैं जिन्हें प्रगति से कोई लगाव नहीं, जिनमें कला के सुन्दर स्वरूप का कहीं दर्शन नहीं । अहिंसात्मक सत्य-शोध अथवा सत्याग्रह-भावना की प्रभाव-वृद्धि से, आशा है, ऐसे कलाकार सावधान होंगे, तथा युग-सत्य

के कठोर संकेत को हृदयगम करके ऐसी रचनाएँ करने में प्रवृत्त होंगे जिनसे या तो उसकी तृप्ति हो या उसके आराध्य चिरंतन सत्य का संतोष-साधन हो । और, यदि वे समय रहते सचेत न होंगे तो काल उनकी यश-लालसा की पूर्ति होने के पहले ही उनके नाम और उनकी कृति दोनों ही को विस्मृति के अतल समुद्र में निमज्जित कर देगा ।

हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत सच्ची वैज्ञानिक आलोचना को स्थापित करने के सम्बन्ध में हमारा कार्यक्षेत्र कितना विस्तृत है, इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि हम साहित्य-सिद्धान्तों को कठस्थ कर लेने में ही प्रायः सत्समालोचन-साधना की इतिश्री समझने लगे हैं । कहना नहीं होगा कि जो ऐसा समझते हैं वे भ्रम में हैं । अग्नि में जलाने की शक्ति होनी चाहिए, हिम में शीतल करने की, इसी प्रकार वैज्ञानिक समालोचक में जिस गुण की अनिवार्य आवश्यकता है वह है निस्संगता, निर्लिप्तता का भाव, जो सत्य-शोध-भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण के अभाव में सर्वथा असम्भव है । पुस्तक-पांडित्य इस गुण के विकास का सहायक हो सकता है, किन्तु उसका बहिष्कार करके स्वयं उसके स्थान का अधिकारी नहीं हो सकता । इस दृष्टि से हमारी दिनों-दिन अवनति ही होती जा रही है और द्विवेदी काल में हम जहाँ थे वहाँ से भी अब बहुत दूर नीचे खिसक आये हैं । अब हम सफेद को सफेद और काले को काला कहने से हिचकने लगे हैं, हम साहित्यिक कृतियों के सम्बन्ध में अपनी सच्ची राय नहीं देते, अपना 'मत' देते हैं, जो हमारे द्वेष, ममत्व से प्रभावित होता है अथवा हमारे किसी मित्र या हितैषी के अनुरोध का फल होता है । इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि लोक-मत का सर्वथा अभाव हो गया है और सकीर्ण दलबदियों की बदला ने साहित्याकाश को इतने घने रूप में घेर लिया है कि सत्य-सूर्य कभी प्रकट होंगे या नहीं, उनका अस्तित्व है भी या नहीं, इस सम्बन्ध में भी सन्देह होने लगता है । इन दलबदियों के साथ किसी प्रकार की सहानुभूति रखना साहित्य के भविष्य को अंधकारमय बनाना है, किन्तु तथ्य बात तो यह है कि हम से अधिकांश साहित्य-सेवक उस दलदल में फँसे हैं । आइये, सच्चे हृदय से अपनी इस दुर्बलता का अन्त करने के उद्देश्य से, उसकी वृद्धि करने वाले कारणों का एक सक्षिप्त अध्ययन हम कर लें ।

ग्यारह ::

:: हमारे रचनाकार और आलोचक—२

वर्तमान समय में हमारी हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी विवेचना के क्षेत्र में पौराणिक और पाश्चात्य दोनों ही शैलियों से काम लिया जा रहा है। निस्सन्देह हमारा प्राचीन आलोचना-विज्ञान अद्वितीय है। हमारे आचार्यों ने मानव-जीवन की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रवृत्तियों और स्थितियों का अध्ययन करके साहित्य की परीक्षा के लिए जो मापदंड स्थिर किये हैं वे मूल्यांकन की अचूक क्षमता रखते हैं। किन्तु हमें पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित मापदंडों की उपयोगिता और महत्ता भी स्वीकार करके ऐसी वैज्ञानिक समालोचना का विकास करना चाहिए, जिसमें दोनों ही का सामंजस्य हो और जो द्विगुणित शक्ति से कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर मानव-मस्तिष्क की चिन्ताओं और मानव हृदय की भावनाओं तथा उसके उद्गारों के प्रति सच्चा सम्पर्क, सच्ची सहानुभूति स्थापित कर सके। हमारी वर्तमान रचनात्मक प्रवृत्तियों का वांछित रूपेण परिफलन तभी सम्भव है जब किसी सीमा तक 'नेति-नेति' कह कर निरपेक्ष भाव से अग्रसर होने वाली उक्त प्रकार की वैज्ञानिक समालोचना के वातावरण में उन्हें प्रगतिशील होने का अवसर प्राप्त हो।

वैज्ञानिक समालोचना के विकास के लिए प्रगतिशील साहित्यिकों का एक सुसंगठित दल हम लोगों के बीच में होना चाहिए। शक्तिशाली हो जाने पर यह दल सहज ही उन जीवन-केन्द्रापसारी प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर सकेगा जो असाहित्यिक हृदयों ही में नहीं, साहित्यिक हृदयों में भी अनायास ही उत्पन्न हो जाया करती हैं। इस दल को किसी के प्रति न द्वेष होगा, न ममत्व होगा। कहने में तो यह बड़ी आसान बात समझ पड़ती है, किन्तु द्वेष और ममत्व से रहित वही व्यक्ति हो सकता है जो तपस्वी है, जिसका जीवन सरल है और जो सासारिक स्वार्थों के दलदल में नहीं फँसा है। जो हो, प्रगतिशील दल में निरपेक्ष, तटस्थ साहित्य-परीक्षक ही रह सकेंगे जिनका सबसे बड़ा पारिश्रमिक और पारितोषिक होगा सत्य का दर्शन और आराधन तथा जो मूर्खी रोटियाँ खा लेंगे, किंतु मक्खन के पैसों के लिए किसी की चाटुकारी करना पसंद न करेंगे, किसी अनाचारी के अनाचार पर अपनी मुहर नहीं लगायेंगे।

हमारे प्रगतिशील साहित्यिक हमारी विवेचनागत विषमता का अंत किस

प्रकार करेंगे ? विषम तत्त्वों के अंतर में व्याप्त समता की प्रतिष्ठापना एवं वैज्ञानिक आलोचना की स्वरूप-निर्धारणा करते समय, भारतीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले किस अंश पर वे अनिवार्य रूप से अड़ेगे ?

यह निर्विवाद है कि अहिंसा हमारे जीवन में सम तत्त्व का तथा हिंसा विषम तत्त्व का प्रतिनिधित्व करती है । अहिंसा में विश्राम है, शान्ति है : इसके विपरीत हिंसा में ज्वाला है, अशांति है । अनएव, हमारे सामने प्रश्न यह है कि हमारे प्रगति-शील साहित्यिक अपनी वैज्ञानिक आलोचना में विश्राम और शान्ति का विकास करने वाली अहिंसा को स्थान देगे अथवा ज्वाला और अशांति का प्रसार करने वाली हिंसा को । यदि हमें सम तत्त्व की खोज अभीष्ट है तो अहिंसा के रूप में ही वह हमें प्राप्त हो सकेगा । और, यह केवल भारत के लिए ही सत्य नहीं है ; सम्पूर्ण विश्व की वैज्ञानिक आलोचना में हिंसात्मक दृष्टिकोण को त्यागकर अहिंसात्मक दृष्टिकोण को स्थान देना आवश्यक है, नहीं तो विषम तत्त्वों की वृद्धि होती चलेगी ।

भारत तो सदैव अहिंसावादी रहा है । मैंने पहले कहा है कि अपने युगसत्य को चिरन्तन सत्य की संगति में रखने की कला का ही दूसरा नाम भारतीय संस्कृति, भारतीय परम्परा, भारतीय परिपाटी है । इस सिद्धांत के विकास ने अहिंसा को, आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, हमारे सामाजिक जीवन का आधारभूत नियम बना दिया था, जिसका प्रभाव आज भी हमारे व्यक्तित्व के भीतर अनेक संस्कारों के रूप में विद्यमान है । आपका ध्यान गौतम बुद्ध और महावीर की ओर जायगा, किंतु आप वही रुक न जायँ, और आगे बढ़ें । गौतम बुद्ध और महावीर ने अहिंसा को जन्म नहीं दिया था, वे हिंसा की प्रतिक्रियाओं को लेकर चले थे, वह हिंसा जो स्वयं किसी पूर्व अमर्यादित अहिंसा की अमर्यादित प्रतिक्रिया थी; अहिंसा को सामाजिक जीवन में नियामक महत्त्व देने का श्रेय वणं और आश्रम-व्यवस्था के आविष्कारक उन प्राचीन महर्षियों को है जिन्होंने आध्यात्मिक तत्त्व की श्रेष्ठता स्वीकार करके मानव की उग्र हिंसक वृत्ति को उसकी अधीनता में स्थापित किया । प्रतिक्रियाएँ होती चली, कभी वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप में व्यक्त होने वाली अहिंसा का बल बढ़ा और कभी उसके विरोध में खड़ी होने वाली हिंसा का । किन्तु समन्वय होता चला है और आज भी अहिंसावादी होकर ही भारत अपनी पराधीनता का बन्धन तोड़कर सिर ऊँचा कर सकने योग्य हो सका है । ऐसी स्थिति में अहिंसा को भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता मान लेने में, आशा है, किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी ।

पौराण्य और पाश्चात्य आलोचन-दृष्टिकोणों का सामंजस्य स्थापित करते समय हमें इसी अहिंसा-तत्त्व पर विशेष बलपूर्वक आग्रह करना पड़ेगा, उसे ही

हमारे राष्ट्रीय व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। उसे गँवाकर हम उस अमूल्य सुरक्षित पूँजी को क्षति पहुँचाने के अपराधी होंगे जो हमारी राष्ट्रीय निधि है और जिसे हमने अपने प्राचीन पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया है।

भारतीय संस्कृति के समर्थक 'विवेचकों' से मेरा एक अनुरोध है। उनका पक्ष अत्यन्त प्रबल है, किंतु यदि वे उसका ठीक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते तो उनके सहयोगियों की संख्या घटती चली जायगी। उनका कर्तव्य है कि वे नाम-मात्र के लिए नहीं, वरन् हृदय से, दैनिक आचरण के द्वारा यह स्पष्ट कर दें कि वे परिवर्तनशील रूप के उपासक नहीं हैं, अपरिवर्तनशील तत्त्व के अन्वेषक और प्रेमिक हैं। पतझड़ के समय निश्चित रूप से जीर्ण पत्तों गिर जायेंगे, इन जीर्ण पत्तों के प्रति आसक्ति का भाव दिखाकर, उन्हें डालियो और पत्तों ही में रोक रखने की चेष्टा करके वे अपनी ऐसी दुर्बलता का परिचय देंगे जिसकी कोई भी दवा इस ब्रह्मांड में नहीं है। वर्तमान युग में कई बातें स्पष्ट हो गई हैं, उनमें एक यह है कि श्रमिक को ही जीवित रहने का अधिकार है, दूसरी यह है कि उच्चता और नीचता की भावना चाहे वह वर्णगत हो, चाहे आर्थिक स्थितिगत हो, चाहे राजनैतिक अधिकार-मूलक हो, अब अधिक समय तक टिक नहीं सकती। वर्तमान समय मानव व्यक्तित्व के उत्थान का है, प्रत्येक प्रकार के मानव श्रम की उत्तरोत्तर गौरव-वृद्धि का है। काल की प्रेरणा धूल को आकाश में उड़ा रही है और आकाश के नक्षत्रों को धूल में मिला रही है, बड़े-बड़े साम्राज्यों के समूह भी उसकी हुंकार के सामने खड़े होने का साहस नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में भारतीय संस्कृति का पृष्ठपोषक वैज्ञानिक विवेचक पीड़ित, उपेक्षित, पद-दलित के प्रति सहानुभूति रखेगा, जहाँ असत्य का घना अन्धकार छाया है वहाँ सत्य का प्रकाश लेकर अग्रसर होगा, उन रुढ़ियों और स्वार्थों का वह कभी समर्थन नहीं करेगा जिनका ससार ही मानव-व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सेवा, सबसे बड़ी मुक्ति है। यदि उसने इस तत्त्व को हृदयगमन किया तो उसकी विवेचना में शक्ति नहीं आयेगी और निश्चित होकर वह भारतीय समाज के निर्माण-कार्य में कोई भाग नहीं ले सकेगा। स्वभावतः अभारतीय संस्कृति से पोषण प्राप्त करने वाले विवेचकों का प्रभाव बढ़ेगा और भारतीय समाज क्रमशः उनकी ओर आकर्षित हो जायगा। क्या भारतीय संस्कृति के शुभचिंतक हमारे साहित्य-विवेचकों ने सकट के वास्तविक स्वरूप को कभी समझने की चेष्टा की है ?

अभारतीय संस्कृति के पक्षपाती साहित्यालोचकों से भी मेरा एक निवेदन है। आपने कार्ल मार्क्स और फ्रायड का अध्ययन किया है और भारतीय समाज में उन्हीं के सिद्धांतों का प्रयोग आप करना चाहते हैं। आप शौक से इस रोगी का इलाज कीजिए, किंतु एक कुशल चिकित्सक की तरह इसके रोग का पूर्व इतिहास

तो समझ लीजिए। क्या आपकी चिकित्सा-कला में यह विधान है कि दो दिन के रोगी को दो जाने वाली दवा ही बीस वर्ष के रोगी को भी दी जाय ? दूसरे शब्दों में, जिस पद्धति से रूस का उपकार हुआ और वह बलशाली बना, उसे भारतीय संस्कृति से समझौता किये बिना ही, उसकी प्राचीन परिपाटी, प्राचीन परम्परा का समन्वय पाये बिना ही, भारतीय समाज में कार्यान्वित करके आप सत्परिणाम की आशा किस प्रकार कर सकते हैं ? मानव-व्यक्तित्व के विकासपथ में खड़ी होने वाली कठिनाइयों की जो तालिका पश्चिमी चित्तों ने बनाई है, उसे भारतवर्ष के लिए भी स्वीकार कर लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती, केवल इतनी व्यवस्था कर दें कि उस तालिका में भारतवर्ष की एक प्रधान कठिनाई का उल्लेख बढ़ा दिया जाय और वह अडचन यह है कि अहिंसात्मक दृष्टिकोणमूलक भारतीय संस्कृति का त्याग-न करके ही समस्त समस्याओं को हल करने की उपादेय प्रणालियों पर यहाँ विचार किया जा सकता है। निस्सन्देह भारतीय समाज के शरीर में आसक्ति रोग ने भयंकर फोड़ो का रूप धारण कर लिया है, पूँजीवादी, ईश्वरवादी, जमींदारीवादी, वर्णव्यवस्थावादी आदि न जाने कितने वादियों के साथ-साथ अन्य ऐसे 'वादी' भी उत्पन्न होते जा रहे हैं जिनका प्रवेश औषधि के रूप में होने पर भी परिणाम रोगी के शरीर में विष की वृद्धि ही के रूप में दिखाई पड़ रहा है। इन सब 'वादियों' के लिए हिंसात्मक क्रांति ही आपके पास एक-मात्र उपाय है। तो क्या भारत-भरमें हिंसा की भयंकर आग सुलगाकर ही आप भारतीय समाज का कल्याण साधन कर सकेंगे। नहीं, किसान-जमींदार में, मजूर और कारखाने के मालिक में अस्पृश्य और सवर्ण हिन्दू में, अब्राह्मण और ब्राह्मण में, नास्तिक और ईश्वर-भक्त में, विवाहित पति और पत्नी में, प्राचीन सत्कारों वाले पिता और नव प्रकाश-सम्पन्न पुत्र में जो विद्वेष पहले ही से विद्यमान है उसे अपनी उदार, किन्तु वैमनस्य को बढ़ाने वाली सेवा-भावना की तृप्ति के लिए और भी बढ़ाकर, हिंसात्मक क्रांति के विषाक्त बीज बोकर इस अभाग्य देश को पुनः दासता के बन्धन में मत डालिए। क्या अमरातीय संस्कृति के अनुगामी हमारे उत्साही एवं विशिष्ट शक्तिशाली साहित्यालोचक बन्धु इस ओर ध्यान देंगे।

भारतीय और अमरातीय दोनों ही संस्कृतियों के अनुयायियों से मैं पूछता हूँ कि सत्य-शोध की भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण की भी स्वीकृति के रूप में क्या वे कोई समन्वय प्रस्तुत नहीं करेंगे। यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि एकांगी होकर कोई भी पक्ष जीवित नहीं रह सकता। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक बनकर समभाव की प्रतिष्ठापना, पूर्ण की सृष्टि करेंगे, तभी वे काल के आशीर्वाद-भाजन बनेंगे, अन्यथा वह दोनों ही को ठोकर मारकर धराशायी कर

देगा और पूर्ण की रचना के लिए, सम तत्त्व की आराधना के लिए अन्य शक्तियों में जीवन-संचार करेगा।

मैं निराशावादी नहीं हूँ, विशेषकर उस अवस्था में जब कि भारतीय समाज को नवीन युग-सत्य के आगमन से अपने उज्ज्वल भविष्य की पूर्ण आशा हो गई है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अज्ञान तथा आलस्य से मुक्ति पाकर रचनात्मक कार्य में लगने के प्रयत्न का श्रीगणेश हो गया है, निराशावादी होने का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। यहाँ जो कुछ निर्देश करने की चेष्टा की गई है, उसका उद्देश्य यही है कि हम अपने लक्ष्य और साधनों के में पूर्ण सावधान हो जायें। यदि हमें अपने कार्यकर्त्ताओं की सेना को लेकर उत्तर की ओर जाना है तो इस बात पर निरन्तर दृष्टि रखनी चाहिए कि किसी का भी पैर दक्षिण की ओर न पड़े। जनता की चेतना-शक्ति पर, सुकुमार मन और मस्तिष्क वाले बालकों और बालिकाओं के हृदय पर अल्पप्राण किन्तु मोहक रचनाएँ अमिट प्रभाव डालकर उन्हें अभारतीय संस्कारों के गर्त में गिराती रहे और हम निष्क्रिय होकर यह सब देखते रहे यह उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में हमें यह नियम बना लेना है कि जिस रचना में अहिंसात्मक सत्य का चित्रण नहीं है, उसे प्रोत्साहन देना हम अस्वीकार कर दें। हमारे इस निषेध-मात्र से हमारे साहित्य में बड़ी स्वच्छता और शक्ति आ जायगी। हमारी राष्ट्रीय सरकार राष्ट्र-निर्माण के लिए सजीव सत्य-शोध-प्रधान तथा अहिंसात्मक दृष्टिकोण विकासमूलक साहित्य की रचना प्रेरित करने की ओर कब ध्यान दे सकेगी, यह कहा नहीं जा सकता। उसका बोझिल छकड़ा बड़ी मंथर गति से चल रहा है, ऐसी दशा में जब हम निरन्तर आन्दोलन द्वारा उसे प्रेरणाएँ देते रहेंगे तभी उसमें आवश्यक जागरूकता आ सकेगी। साथ ही उसका जागरूक किया जाना आवश्यक है, क्योंकि जब तक सरकार इस सम्बन्ध में नहीं चलेगी तब तक लक्ष्य की ओर कार्यशील होने वाली समस्त शक्तियों का संगठन नहीं हो सकेगा। अतएव, तब तक हिन्दी-साहित्य को प्रगतिशील बनाने के कार्य में लगी हुई संस्थाओं को उसे जगाने का यह आन्दोलन अपने हाथ में लेना चाहिए।

संक्षेप में हम देखेंगे कि हमारे कार्य की अनेक दिशाएँ स्पष्ट हैं हमें वैज्ञानिक आलोचना का विकास करना है। हमें अपने रचनाकार को ऐसे सुव्यवस्थित रूप में लाना है कि वह हमारी वर्त्तमान आवश्यकताओं की यथोचित पूर्ति कर सके, आलोचक और रचनाकार दोनों ही को प्रकृत स्वरूप देने के लिए हमें अपने शिक्षा-विभाग एवं साहित्य-हितैषिणी-संस्थाओं के संचालकों को यह समझाना है कि भारतीय शिक्षा की कोई भी व्यवस्था तब तक पूर्ण और राष्ट्रीय दृष्टि से

उपादेय नहीं समझी जा सकती जब तक उसमें सत्य-शोध-भावना और अहिंसात्मक दृष्टिकोण का विकास करने वाले पाठ्यक्रम की नियोजना न हो। सच बात तो यह है कि हमें अपने जीवन के प्रचलित मूल्यों में बहुत बड़ी क्रांति करनी है, सच्चे अर्थ में प्रगतिशील होना है।

किंतु हम अभी शीघ्रता न करें, हमारी समस्याओं का यही अंत नहीं है। अहिंसात्मक दृष्टिकोण को, साहित्य के क्षेत्र में, नियामक सिद्धान्त के रूप में ग्रहण करने पर एक कठिनाई साहित्य-निर्माताओं के सामने उपस्थित होगी और वह यह कि जीवन के विविध क्षेत्रों में अहिंसा-विषयक आग्रह का अनिरेक जब कार्यरत की अकर्मण्यता का एक आवरण प्रस्तुत करने लगेगा, तब कला के मूल किस प्रकार हरे-भरे रह सकेंगे? क्या तब भी जनता की ग्रहण, शक्ति की कोई भी परवा न करके उसकी प्रकृत भूमि से बहुत दूर आकाश-विहारिणी होकर वह अपने उच्च किंतु अप्रकृत, काल्पनिक रूपों में ही उसे आकर्षित करने का प्रयत्न जारी रखेगी? यह अध्यावहारिक जीवन प्रगति-विरोध प्राप्त करके क्या वह अपने अस्तित्व की निष्फलता में भी सतोष प्राप्त कर सकेगी। इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तविक तथ्य यह है कि अहिंसा और हिंसा की मर्यादा निश्चित करने की शक्ति प्रकृत रचनाकार ही में है, वही अपनी सूक्ष्म प्रतिभा के द्वारा यह समझ सकता है कि कब अनिवार्य परिस्थिति उत्पन्न होने पर हिंसात्मक संग्राम में प्रवृत्त होना भी अहिंसा ही का पोषण करना है, वही इस बात का भी निर्णय कर सकता है कि किस सीमा का अतिक्रमण होने पर हिंसात्मक अहिंसा, अपने नग्न रूप में, जीवन-शोषिणी, एक-मात्र सहारकारिणी बनकर उपस्थित होती है। चंचल जीवन-स्रोत अहिंसा और हिंसा दोनों ही की भूमि में से होकर संचरित होता है; वह दोनों को पृथक् अस्तित्व देकर पक्षपात की सम्भावना नहीं उपस्थित करता। उसे दोनों ही कूओं के मध्य में से प्रवाहित होकर सत्य के अतल, गम्भीर, समुद्र की ओर प्रगतिशील होना है। प्रकृत रचनाकार ही इस तत्त्व का प्रकृत ज्ञाता है; अपने इसी ज्ञान की विभूति से सम्पन्न होकर वह न समाज की उपेक्षा की परवाह करता है और न राजकीय अधिकारियों की बंक भृकुटि से भयभीत होता है। जीवन-प्रवाह जब-जब अहिंसा और हिंसा की ओर मोड़ लेता है, प्रकृत रचनाकार एक-मात्र सत्यासन्नता के भाव से प्रभावित होकर, उसके स्वस्थ एवं तरंगित सौन्दर्य के चित्रण में अपने अस्तित्व की सार्थकता और सफलता का अनुभव करता है। अहिंसात्मक हिंसा की परख करने वाला प्रकृत रचनाकार ही समाज में प्रचलित हिंसात्मक अहिंसा की भी परख कर सकता है और उससे भी बड़ी बात यह है कि अहिंसात्मक, कलात्मक,

साथ ही अत्यन्त बेधक शैली में समाज के विद्रोही वर्गों को, जो हाथ में अहिंसा का झंडा लेकर चलत है और बगल में छुरा छिपाए रहते हैं, विशुद्ध पथावलम्बी बनाने की करामाती कारागरी भी उसीके पास है।

किंतु फिर भी भारत के स्वतंत्र होने के दिन से लेकर अब तक, हमारे राजनैतिक जीवन के सकटमय वातावरण में भी, राष्ट्र-द्रोही, शुद्ध स्वार्थ भावना में मग्न अनेक वर्गों ने जिस नीचता का परिचय दिया है उसकी कहानी, उसके कलात्मक चित्र अब तक हमारे साहित्य में नहीं दिखाई पड़े; ऐसी स्थिति में क्या यह कहना अनुचित है कि हमारे बीच में आजकल न कोई प्रकृत विवेचक है और न कहीं कोई प्रकृत रचनाकार है। सम्भवतः हमारे रचनाकार ने या तो अपनी साधारण आवश्यकताओं की भी अपूर्ति से विवश होकर विशेष प्रभावशाली स्वार्थों के प्रतिनिधियों के सामने घूटने टेक दिये हैं या अपने त्याग-बन्धन उच्च आसन में नीरसता का अनुभव करके समाज-शोषक-दल में, अथवा उसके प्रति सहानुभूति रखनेवालों में स्वयं अपना नाम भी लिखा दिया है। जो हो हमारे रचनाकार को कहाँ होना चाहिए था और वह वास्तव में कहाँ है, इसका अनुमान हम उदात्त परिस्थिति से लगा सकते हैं, अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए हमें उसीसे निर्देश मिल सकता है।

प्रकृत हिंदी-रचनाकार-सम्बन्धी अपने वक्तव्य को समाप्त करने के पूर्व मैं दो शब्द उसकी भाषा के सम्बन्ध में भी कहना चाहता हूँ। निस्संदेह जटिल और दुरूह विचारों को व्यक्त करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का उसे महारा लेना ही पड़ेगा, उसकी यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है। इस बात को न ममज्ञ-कर हमारे कितने ही राष्ट्रीय नेता उस पर बहुत दिनों से यह दोषारोपण करते आ रहे हैं कि वह अनावश्यक रूप से अपनी भाषा को संस्कृत-गर्भित बना रहा है। वाद-विवाद में प्रवीण हमारे नेताओं में बहस छेड़ने का हमारे हिन्दी-साहित्यकार को अवकाश कहाँ? फलतः वृटिश कूटनीति ने, अधिकारी नेताओं से प्राप्त नैतिक समर्थन के आधार पर, हिन्दी को दबाने के लिए, हिन्दुस्तानी को जन्म दिया और वह परिस्थिति उत्पन्न करने की चेष्टा की जिसमें हिन्दुस्तानी के विरोध में अथवा उसकी उपेक्षा करके हिन्दी का पक्ष लेना प्रायः अराष्ट्रीय कार्य समझा जाने लगे। क्रमशः ऐसी स्थिति आ गई कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति स्वयं महात्मा गाँधी को उसकी स्थायी समिति की सदस्यता से त्याग-पत्र दे देना पड़ा।

अपनी ओर से अधिक-से-अधिक त्याग करके विरोधी को निरस्त्र बना देना स्व० महात्मा जी की रहस्यमयी कार्य-शैली थी, जिसके द्वारा वे हृदय में परिवर्तन

करने के लिए उद्योग करत थे। वे हिन्दी के पक्ष को सदीप नहीं समझते थे, वे हिन्दी राष्ट्र-भाषा और देवनागरी राष्ट्र-लिपि के अनुकूल अपना मत प्रकट कर चुके थे, किन्तु अपनी उस उदार भावना से प्रेरित होकर वे हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण कराना चाहते थे जो सत्याग्रह की आधारशिला है और जो सबल शक्तिमान की अहिंसा के रूप में एक आदर्श एवं प्रभावशालिनी बान होती। किन्तु महात्मा गाँधी स्वयं इस बात को अनुभव कर चुके थे कि पिछले आन्दोलनों में भारत ने जिस अहिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचय दिया था उसकी जननी शक्ति की अनुभूति और त्याग-भावना नहीं थी, वरन् दुर्बलता ही थी। उसीके प्रभाव के कारण हम सामाजिक जीवन के अनेक क्षेत्रों में सफल और शक्तिशाली की अहिंसा का परिचय नहीं दे सके और राष्ट्रभाषा हिन्दी हो या हिन्दुस्तानी, इसके सम्बन्ध में निर्णय भी नहीं दे सके। हिन्दी राष्ट्रभाषा और देवनागरी राष्ट्रलिपि-आन्दोलन की साधिकारता के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी को कोई सन्देह नहीं था, किन्तु वे हमसे त्याग कराना चाहते थे, हमें ऊँचे उठाना चाहते थे। अनेक परिस्थितियों के सम्मिलित प्रभाव से हम उतना त्याग नहीं कर सकते इसमें सन्देह नहीं, किन्तु शब्दों के निर्वाचन में हम हिंसा-वृत्ति से काम न ले, बहिष्कारमूलक नीति के अनुगामी न बने। जैसा कि मैंने प्रारम्भ ही में निवेदन किया है, हमें अपनी विवेचना और रचना में सम्पूर्ण भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करना है, भारत-निवासी मुसलमान, ईसाई, पार्सी, एंग्लो इंडियन सभी की भावनाओं को, सभी के जीवन को कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करनी है। वास्तव में हिन्दी विधान-सम्मेलन के निश्चय से नहीं, वरन् अपनी इसी उदार सर्वमोहिनी सहानुभूति के द्वारा राष्ट्रभाषा बनेगी और हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का जैसा पूर्व इतिहास रहा है, उसमें जैसी विलक्षण आध्यात्मिक प्रतिभा का विकास हिंदी में हो सका है उसे देखते हुए, उसकी राष्ट्रीय सेवा-सम्बन्धी क्षमता के प्रति उसीको मदद हो सकेगा जिसे भारतीय संस्कृति का, अहिंसा और सत्याग्रह की वर्णमाला के क, ख, ग का भी ज्ञान नहीं है।

अन्त में हिन्दी-साहित्य के विवेचकों और रचनाकारों से एक बार फिर यही अनुरोध करके कि जैसे महात्मा गाँधी ने सामाजिक जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रयोग करते हुए अपने प्राणों का सहर्ष बलिदान कर दिया, वैसे ही वे भी इन्हीं सिद्धान्तों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करते हुए अपने जीवन को खपा दे, मैं अपने इस नम्र कथन को, श्रुतियों के लिए क्षमा-याचना पूर्वक, समाप्त करता हूँ।^१

१ मेरठ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष-पद से विद्ये गए भाषण का एक अंश।

बारह ::

:: आचार्य शुक्ल का काव्य-सिद्धान्त

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जिन्हें द्विगुणित हुए लगभग सोलह वर्ष हो गये, हिंदी के एक श्रेष्ठ सन्तुलित और सहृदय समीक्षक थे । अनेक भाषाओं के साहित्य की गतिविधि से वे परिचित थे, किन्तु जो उचित नहीं, जो तर्क-संगत नहीं, उसके सामने घुटने टेककर उसके वे अनुगामी कभी नहीं हुए । प्रकृत साहित्य-मार्ग से हटाने वाले योरूपीय साहित्यवादों का उन्होंने विरोध नहीं किया, अनेक भारतीय साहित्य-मतों की अपूर्णताओं का भी उद्घाटन किया । रस-सिद्धान्त के अनिरिक्त अलंकार-मत, रीति-मत, वक्रोक्ति मत तथा ध्वनि-मत—इन चार मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न समय पर हमारे देश में हुआ । इन सबके सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचारों का एक मार्शित दिग्दर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जायगा ।

अलङ्कार-मत के प्रवर्तक भामह, उद्भट आदि ने अपनी सर्वग्रहणशीलता के उत्साह में रस-मत को भी उदरस्थ कर लेना चाहा था । रसवत् प्रेयस् और ऊर्जस्वित नामक अलंकारों का निर्देश करके उन्होंने उसे अपने घेरे के भीतर ही खपा लेने का प्रयत्न किया था । उन्होंने रस पर ही नहीं; रीति, वक्रोक्ति, गुण आदि सब पर अधिकार प्रसार करके समस्त काव्य का प्रतिनिधित्व अलंकार को ही देने का प्रयास बढ़ाया था । रुद्रट और मम्मट इस अस्वाभाविक परिस्थिति का अन्त करने के लिए सामने आये । उन्होंने अलंकार को साध्य नहीं माना, उसे काव्य-सौंदर्य के एक साधन के रूप में ही स्वीकार किया । साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने अलंकार और अलंकार्य की भिन्नता की बहुत स्पष्ट रूप से व्याख्या कर दी । आचार्य शुक्ल जी ने अलंकार के सम्बन्ध में रुद्रट, मम्मट और विश्वनाथ को ही मान्यता दी । उन्होंने अलंकार को 'वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों', 'कहने के खास-खास ढंगों' के रूप में ही ग्रहण किया । उदाहरण के लिए उन्होंने बालको की क्रीड़ा, चीते की पूँछ पटक कर झपटने की प्रवृत्ति, हाथी की पेड़ से गडस्थल रगड़ने की क्रिया को अलंकार न मानकर अलंकार्य ही माना । किन्तु इन्हें अलंकारवादी स्वभावोक्ति अलंकार के अन्तर्गत कर लेना चाहते हैं । जैसे स्वभावोक्ति को, वैसे ही 'उदात्त' और अत्युक्ति को भी शुक्ल जी ने अलंकार नहीं माना ।

वस्तु-मात्र के सीधे-मादे वर्णन अथवा स्वभावोक्ति में भामह ने काव्यत्व को

स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वक्रोक्ति ही में काव्य की सम्भावना देखी और उसे अलंकार का मूल माना। दण्डी ने भी कहा कि वक्रोक्ति के बिना काव्य असम्भव है। इसी दसवीं शताब्दी के अनन्तर वक्रोक्ति-मत की बड़ी प्रगति हुई और आचार्य कुन्तक ने उस सम्पूर्ण काव्य का प्रतिनिधि बना डालने का हौसला किया, ठीक वैसे ही जैसे अलंकारवादियों ने किया था। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति-जीवित' नामक ग्रन्थ लिखकर पद की वक्रता, वर्ण-विन्यास की वक्रता, वाक्य की वक्रता तथा प्रवध की वक्रता का विश्लेषण किया। शुक्ल जी ने उक्ति की इस वक्रता को वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक इसके मूल में किसी तीव्र भाव की प्रेरणा विद्यमान रहती है। जहाँ वक्रोक्ति भाव से अपना सम्बन्ध तोड़ देती है अथवा हृदय की किसी मर्म-स्पर्शी वृत्ति से सम्बन्ध जोड़कर नहीं चलती, वहाँ उसे शुक्ल जी का अनुमोदन नहीं प्राप्त हो सकता। वहाँ वे उसके उतने ही विरोधी हैं जितने क्रोचे के 'अभिव्यञ्जनावाद' के। इस सिलसिले में शुक्ल जी से डॉ० नगेन्द्र के थोड़े से मतभेद की चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा।

शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक अपने निबन्ध में कहा है।

‘अभिव्यञ्जनावाद किस प्रकार व्यञ्जन-प्रणाली की वक्रता और विलक्षणता पर ही जोर देता है, यह हम देख चुके। यह हमारे यहां का पुराना वक्रोक्तिवाद ही है, यह भी हम निरूपित कर आये।’

इसके विरोध में डॉ० नगेन्द्र का कथन इस प्रकार है :

‘इन दोनों में ‘अभिव्यञ्जनावाद’ और ‘वक्रोक्तिवाद’ में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। + + वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति की वक्रता से है, ‘अभिव्यञ्जनावाद’ का केवल उक्ति से + + + अभिव्यञ्जनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। ‘वक्रोक्तिवाद’ अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यञ्जनावाद में उसकी सत्ता ही अमान्य है। ‘वक्रोक्तिवाद’ में वस्तु की उक्ति से पृथक् सत्ता मानी गई है, परन्तु ‘अभिव्यञ्जनावाद’ वस्तु की उक्ति से अभिन्न मानता है। ‘वक्रोक्तिवाद’ कला के मूर्त रूपों पर ही केन्द्रित है, अभिव्यञ्जनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक प्रक्रिया को ही सब कुछ मानता है। अभिव्यञ्जनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-भङ्गुतियों की अविति पर आश्रित है, + + परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर आश्रित है। + + + अभिव्यञ्जनावाद का तत्त्व रूप में रसवाद से कोई विरोध ही नहीं सकता।’

मेरी समझ में शुक्ल जी ने कही यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है कि क्रोचे अभिव्यञ्जनावाद की कल्पना के लिए कुन्तक के ऋणी हैं। अभिव्यञ्जनावाद को वक्रोक्तिवाद का ‘विलायती उत्थान’ कहना केवल इतना ही अर्थ व्यक्त करता है कि

अभिव्यज्जनावाद मे कुछ विलायती विशेषताओ के साथ-साथ वक्रोक्तिवाद का अन्तर्भाव हुआ है। वेदान्त का प्रतिबिम्बवाद' सूफियों के यहाँ गया और उनके माध्यम से उसकी प्रगति फ्रांस तक हुई, यदि वे यह बात कह सकते थे तो वक्रोक्तिवाद किस माध्यम से क्रीचे के पास पहुँचा, इस बात का भी अनुसन्धान करके वे हमें आवश्यक सूचनाएँ दे सकते थे। किन्तु सच बात तो यह है कि उनका वह अभिप्राय नहीं था, जिसकी डॉ० नगेन्द्र ने शका की है। दोनोंवादों मे कुछ विषमता है, यह तो शुक्ल जी ने भी बताया है, वे कहते हैं अन्तर इतना ही है कि भंग्यंतर के लिए हमारे यहाँ व्यञ्जना का अधिक सहारा लिया जाता है और योरोप मे लक्षणा का। योरोप की भाषाओ में लाक्षणिक चञ्चलता ज्यादा होती है।' रहा डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि 'वक्रोक्तिवाद' उक्ति की वक्रता को लेकर चलता है और 'अभिव्यञ्जनावाद' केवल उक्ति को—सो यह वैषम्य-निर्देश एक शोभन कथन-मात्र है। वास्तव मे जैसा कि स्वयं डॉ० नगेन्द्र ने स्वीकार किया है, 'ऐसी उक्ति को जिसमें रस हो परन्तु वक्रता न हो, सामने लाना भी तो आसान नहीं है।' अन्य किसी उद्देश्य से नहीं तो कम से-कम अपने इस कथन की सार्थकता-रक्षा के निमित्त या तो उन्हें अभिव्यञ्जनावाद की उक्तियों को नीरस मानना पड़ेगा या वक्रोक्ति-सम्पन्न स्वीकार ही करना पड़ेगा।

करुणा-तत्त्व के अभाव के कारण 'अभिव्यञ्जनावाद' रस-सिद्धान्त के स्पष्ट विरोध मे पड़ता है, भले ही कोई रस की एक अस्वाभाविक संस्थिति का उसमें अनुभव करे। न उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता है और न डॉ० नगेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट उभयवाद-गत लक्षणों को अमान्य ठहराना मेरा उद्देश्य है। प्रसंगवश इतना ही कथन यथेष्ट होगा कि जिन विभेदों की चर्चा उन्होंने की है, उनके मूल मे यदि रसवाद का विरोध न हो तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय और तब अभिव्यञ्जनावाद वक्रोक्तिवाद के एक अभिन्न संस्करण के रूप मे दिखाई पड़ने लगे। 'अभिव्यञ्जनावाद' और 'वक्रोक्तिवाद' के इस महान और प्रधान अन्तर की ओर शुक्ल जी ने संकेत न किया हो, सो बात नहीं, उनके इन्दौर वाले भाषण मे यत्र-तत्र हम उसे प्राप्त कर सकते हैं।

ध्वनि-मत से भी शुक्ल जी को पूर्ण सन्तोष न हो सका। इसका कारण यह है कि जहाँ ध्वनि-मत के समर्थक व्यंग्यार्थ मे काव्यत्व को स्वीकार करते हैं, वहाँ शुक्ल जी उसका अस्तित्व वाक्यार्थ ही में मानते हैं। शुक्ल जी की इसी प्रवृत्ति के आधार पर डॉ० नगेन्द्र ने एक रोचक शास्त्रार्थ उपस्थित किया है, जिसमें उन्होंने शुक्ल जी की एक भूल पकड़ने की चेष्टा की है। शुक्ल जी ने अपने इन्दौर वाले भाषण में कहा था कि :

‘बच्चकर हाय पतंग मरे क्या ?’

‘आप अवधि बन मकूँ
कहीं तो क्या फिर देर लगाऊँ ।
मैं अपने को आप मिटा कर
जाकर उनको लाऊँ ॥’

इन पक्तियों में काव्यत्व वाच्यार्थ ही में है, व्यंग्यार्थ में नहीं । प्रथम पक्ति को लक्ष्य करके डा० नगेन्द्र का कथन निम्नलिखित है :

“क्या इस उक्ति का सम्पूर्ण सौरस्य इस ‘मरे’ और ‘जीकर’ (बचकर ?) के उपपन्न या अनुपपन्न अर्थ पर ही आश्रित है ? यदि ऐसा है तो वास्तव में यहाँ पर्याप्त रमणीयता नहीं है, क्योंकि यह विरोधाभास अपने-आपमें कोई सूक्ष्म या गहरी आनन्द-नुभूति नहीं उत्पन्न करता । इसमें सूक्ष्म रमणीयता है—और यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि इसमें रमणीयता वास्तव में पर्याप्त मात्रा में नहीं है—वह प्रेम की उस उत्कटता (आतिशय) पर निर्भर है जो यहाँ लक्ष्यार्थ का प्रयोजनरूप व्यंग्य है, और जो अन्त में जाकर वक्ताबोद्धा आदि के प्रकरण से उमिला की अपनी रति-जन्य व्यग्रता की अभिव्यक्ति करती है । इस प्रकार इस उक्ति की वास्तविक रमणीयता का सम्बन्ध रति-जन्य व्यग्रता से ही है जो व्यंग्य है—और स्पष्ट शब्दों में जो उपर्युक्त लक्ष्यार्थ के प्रयोजन-रूप व्यंग्य का भी व्यंग्य है ।”

द्वितीय अवतरण की पक्तियों के सम्बन्ध में वे कहते हैं :

“शुक्ल जी का यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अप्राह्य वाच्यार्थ में है, इस योग्य और बुद्धिप्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उमिला को अत्यन्त औत्सुक्य है । यह व्यंग्यार्थ नहीं रहा, वाच्यार्थ हो गया—औत्सुक्य की व्यजना ही चित्र की चमत्कृति का कारण है, उसका कथन नहीं । दूसरे, जिस अनुपपन्नता पर वे इतना बल दे रहे हैं, वह रमणीयता का कारण नहीं है, उसका एक साधन-मात्र है ।

इन दोनों अवतरणों में डा० नगेन्द्र ने जो बात कही है उसका साराश इस प्रकार है :

(१) सम्बन्धित पक्तियों के वाच्यार्थ में रमणीयता नहीं है, उनके व्यंग्यार्थ ही में रमणीयता है ।

(२) वाच्यार्थ की अनुपपन्नता रमणीयता का कारण नहीं है, उसका एक साधन-मात्र है ।

डा० नगेन्द्र ने अपने कथन में उद्धृत काव्य-पक्तियों के वाच्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य वाच्यार्थ का भी निर्देश किया है । (उमिला को अत्यन्त औत्सुक्य है—जिसे शुक्ल जी ने काव्य-पक्तियों के अनुपपन्न वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ कहा है ।)

थोड़ी देर के लिए हम यह मान लेते हैं कि उर्मिला को अत्यन्त श्रौत्सुक्य है—यह वाच्यार्थ है। तो इस समय हमारे सामने दो वाच्यार्थ उपस्थित हैं—(१) उद्धृत काव्य पक्तियों का (२) उर्मिला की अत्यन्त उत्सुकता का। हम यह देखेंगे कि उद्धृत काव्य-पक्तियों के वाच्यार्थ में अपनी विरोधाभास चमत्कार की शक्ति के अतिरिक्त अपने लिए अनुपपन्नता-निवारणार्थ व्यंग्यार्थ प्राप्त करने की क्षमता भी है, उक्त वाच्यार्थ से ही उक्त व्यंग्यार्थ की उत्पत्ति हुई, ऐसी अवस्था में यदि व्यंग्यार्थ में रमणीयता का निवास माना जाता है तो यह कैसे सम्भव है कि वह उसके मूल वाच्यार्थ में न विद्यमान हो। जिस मूल की प्रगति शाखा को प्रस्तुत कर सकी, क्या यह कहा जायगा कि उसमें शाखा-पल्लव-फूल और फल का सौन्दर्य बीज रूप में निहित नहीं है ? भले ही पल्लव और पुष्प में रमणीयता दिखाई पड़ती है, किन्तु समस्त रमणीयता का निवास मूल ही में माना जायगा। यही बात व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ के सम्बन्ध में समझनी चाहिए, अर्थात् यद्यपि रमणीयता, काव्यत्व-व्यंग्यार्थ में दिखाई पड़ता है तथापि उसका अधिवास वाच्यार्थ ही में मानना उचित होगा। रहा दूसरा वाच्यार्थ सो वह तो उस रूप में काव्य की कोटि में पहुँचता ही नहीं। वह तो एक इतिवृत्तात्मक कथन-मात्र होकर रह जाता है।

डॉ० नगेन्द्र के कथन के प्रथम और द्वितीय अंश के सम्बन्ध में इस मक्षिप्त उल्लेख के अनन्तर जब हम तृतीय अंश को देखते हैं तो यह कहना आवश्यक हो जाता है कि वास्तव में वाच्यार्थ की अनुपपन्नता ही तो हमारा ध्यान लक्षणा अथवा व्यञ्जना की ओर ले जाती है, वह न हो तो इन दोनों में से किसी की पूछ ही न हो, ऐसी अवस्था में वाच्यार्थ का सहायक मात्र होकर व्यंग्यार्थ उस रमणीयता को झलका देता है जो वास्तव में थी तो वाच्यार्थ ही में, किन्तु उसकी दुर्बलता के कारण व्यक्त नहीं हो सकी थी। अस्तु।

उक्त काव्य मतों में अब केवल रीति मत (ई० ६००-७०००) के प्रति आचार्य शुक्ल की धारणाओं की चर्चा शेष रह गई है। अभिधार्थ ही को अधिक महत्त्व देने तथा गुणयुक्त एवं दोषशून्य पदावली की विशेषता से मंडित होने के कारण रीति-वाद शुक्ल जी की स्वीकृति के निकट पहुँचकर भी इस त्रुटि के कारण स्वीकृत नहीं हो सका कि वह रीति ही को काव्य की आत्मा मानता है। आचार्य वामन द्वारा प्रतिष्ठापित इस मत का उत्कृष्टतम रूप वह था जिसमें उसने ओज, प्रसाद, भाधुर्य आदि गुणों को तो धारण ही किया था 'कान्ति' के अन्तर्गत रसों को भी समेट लेना चाहा था। किन्तु अपने उस रूप में उपस्थित होकर भी रीति मत शुक्ल जी के स्वीकृत काव्य-सिद्धान्त का स्थान नहीं ले सका। उन्होंने मनोहर उक्ति को, व्यञ्जक काव्य ही को निस्सन्देह काव्य माना, किन्तु साथ ही व्यञ्जित अथवा लक्षित अर्थ की

ओर ध्यान देना भी आवश्यक समझा । उनके मतानुसार व्यंजना अथवा लक्षणापूर्ण वाक्य का व्यंग्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के साथ संघटन होना अत्यन्त आवश्यक है । काव्य में रीति का विधान वे वही तक उचित समझते थे जहाँ तक उसकी सहायता से शुद्ध नाद का प्रभाव उत्पन्न हो जाय । शृंगार, करुण, शान्त आदि ऐसे रस हैं जिनमें कोमल, मुकुमार शब्दों के प्रयोग से परिपाक में अधिक सहायता प्राप्त हो सकती है, इसी प्रकार वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों में कठोर ओजपूर्ण शब्दों का प्रयोग वाछनीय हो सकता है । किन्तु शुक्लजी का कथन इनके सम्बन्ध में यह है कि इन्हें ही साध्य न समझ लिया जाय । इनसे केवल साधन के रूप में काम लेना चाहिए । ललित पदावली और छन्द-प्रवाह में निहित सगीत-तत्त्व की उपयोगिता काव्य के सहायक रूप में उन्होंने स्वीकार की है, किन्तु उनका आग्रह है कि अगद की तरह पैर गड़ाकर हम वही अचल न हो जायें ।

इस प्रकार अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति—इन चारों मतों को अपना आंशिक समर्थन देकर ही शुक्ल जी ने रस-सिद्धान्त को अपने काव्य-सिद्धान्त के रूप में मान्य किया ।

तेरह ::

:: मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य में राधा-कृष्ण

सत्य और कला में अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध है, वास्तव में सत्य के आधार पर ही कला की स्थिति होती है, अपनी कल्पना-शक्ति के अनुरूप कवि सत्य के जिस स्थूल अथवा सूक्ष्म रूप की धारणा में समर्थ होता है उसीसे उसकी कला को आश्रय मिलता है। हिन्दी में श्रीकृष्ण को सूर ने भी अपने काव्य का विषय बनाया है और देव, विहारी, पद्माकर आदि ने भी; किन्तु उनकी कल्पना में भिन्नता है, जिससे उनकी कला के रूप में अन्तर दृष्टिगोचर होता है।

जिस सत्य का हम उपयोग कर चुकते हैं, उसके प्रति हमें आकर्षण का अनुभव नहीं होता। वास्तव में हमारे जीवन की समस्त चंचलता सत्य के उसी रूप को मुग्ध दृष्टि से देखती है, जिसे कल्पना हमारे व्यक्तित्व के सम्मुख प्रस्तुत करती है। कल्पना द्वारा आविष्कृत नव-नव रूपों को ग्रहण करके मानव-व्यक्तित्व निरन्तर ही उनका उपयोग करता तथा क्रमशः उन्हें आकर्षण-शक्ति से रहित कर देता है। यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि श्रीकृष्ण के असम्बद्धतापूर्ण चित्रण को हिन्दी साहित्य में स्थान दिलाने का कार्य मानव-कल्पना ने किस प्रकार किया।

मानव-व्यक्तित्व का चरम विकास ही अवतारवाद के मूल में रहता है। परिपूर्ण सत्य-सम्बन्धी ऊँची-से-ऊँची कल्पना की तृप्ति श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में देखकर ही समाज ने उनमें ईश्वरत्व का आरोप किया था। मानव-कल्पना ने उन्हें कितने विकसित रूप में देखा था, यह 'भागवत' के निम्नलिखित श्लोकों में देखिए :

“कृष्ण कृष्ण महायोगिस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।

व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपतो ब्राह्मणाः विदुः ॥

त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।

त्वमेकः कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजः सत्त्वतमोमयी ।

त्वमेव पुरुषोध्यक्षः सर्व क्षेत्रविकारवित् ॥

यस्वावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।

तैस्तैस्तुल्यातिशये वीर्ये देहिष्वसंगतैः ॥

नमः परम कल्याण नमः परम मंगल ।

वासुदेवाय शान्ताय यद्वृणां पतये नमः ॥”

श्रीकृष्ण के इस विराट् स्वरूप का चिंतन और उसकी आराधना हमारे व्यक्तित्व के प्रसार में सहायक हो सकती है—इसी कारण हमने उनको अपनी उपासना का विषय बनाया। किन्तु उक्त रूप की उपासना में सर्वसाधारण का, प्रत्येक व्यक्ति का मन रमण नहीं कर सकता। इसीलिए कल्पना ने उनके बाल रूप को हमारे सामने उपस्थित किया। धूल-धूसरित, तुतली बोली बोलने वाला, चंचलता की मूर्ति बालक किस पितृ-मातृ-हृदय को तृप्त नहीं कर देगा? श्रीकृष्ण जब बाल रूप में हमारे सामने आये, तब हम कितने भी अयोग्य क्यों न हों, कितने भी मूढ़ क्यों न हों, वे हमारी बुद्धि और हृदय के लिए ग्राह्य होकर आये। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कल्पना ने मानव-दुर्बलता के साथ समझौता करके ही बाल-रूप को उपासना के विषय-रूप में स्वीकृत होने दिया; इस उपासना-पद्धति ने सांसारिकता के साथ थोड़ी-सी रियायत करके ही मानव-व्यक्तित्व के विकास का पथ परिष्कृत किया। सूर और तुलसी ने अपने जिन पदों में बाल गोपाल और बाल रामचन्द्र का रूप अंकित किया है, उनका पाठ रक-से-रंक और मूर्ख-से-मूर्ख ग्रामीण के झोपड़े में आज भी आनन्द की वृष्टि कर देता है। उदाहरण के लिए कुछ पद नीचे दिये जाते हैं :

“लाला हौं वारी तेरे मुख पर।

कुटिल भ्रलक मोहन मन बिहँसत भृकुटि विकट नयन पर।

दमकति द्वे द्वे दंतलियाँ बिहँसति मनो सीपिज घर कियो

बारिज पर ॥...”

“सलत देखि यशुमति मुख पावै।

ठुपुकि ठुमुकि धरनी धरि रँगत जननी देखि दिखावै।

देहरी लौं चलि जात बहुरि फिरि फिरि इतही को ग्रावै ॥...”

× × × ×

“पदकंजन मंजु बनी पनहीं धनुहीं सरपंकज पानि लिये।

लरिका सँग खेलत डोलत है सरजू तट चौहट हाट हिये ॥

तुलसी अस बालक सों नहि नेह कहा जप जोग समाधि किये।

नर ते खर सूकर स्वान समान कहो जग में फल कौन जिये ॥”

“पग नूपुर औ पट्टोची कर कंजन मंजु बनी मणि माल हिये।

नव नील कलेवर पीत भगा भलकें पुलकें नृप गोव लिये ॥

अरविन्द सो आनन रूप मरन्द अनन्वित लोचन भृंग पिये।

मन मो न बस्यो अस बालक जो तुलसी जग में फल कौन जिये ॥”

मैंने जिस मानव-दुर्बलता के साथ समझौते की बात ऊपर कही है, उसके

उल्लेख का यह अर्थ कदापि न समझा जाय कि अभीष्ट की सिद्धि अर्थात् जीवन-जात अवसाद से मुक्ति-लाभ करने के अनन्तर भी साधक के व्यक्तित्व में वह उपस्थित रहेगी। उक्त समझौते का उद्देश्य तो असमर्थ साधक को सहारा-मात्र देना है, ठीक वैसा ही जैसा बॉस के ठाठ से मकान की दीवालों को, उनके निर्माण-काल में, दिया जाता है। जिस प्रेम-दृष्टि से देखकर हम अपने बच्चे के व्यक्तित्व को अपरिमित मूल्य प्रदान करते हैं, उसीका सतत उपयोग जब हम सत्य के सूक्ष्माति-सूक्ष्म रूप को हृदयगम करने के लिए करते हैं तो क्रमशः हमारा व्यक्तित्व सत्य से अनुरजित होते-होते उस ममता और आसक्ति का भी परिहार कर देता है, जिसने पहले हमारे हृदय में अनन्त उद्गारों का सोत प्रवाहित किया था। इसी प्रकार यह कहने में किसी मतभेद की सम्भावना नहीं है कि ईश्वर को पिता, माता, सखा आदि रूपों में भजने से भी उसी परिणाम की उपलब्धि होगी। कवि ने ठीक ही कहा है :

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणस्त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव-देव।”

मनुष्य के समस्त मनोविकारों में काम-विकार अत्यन्त अजेय है; वास्तव में मानव-व्यक्तित्व के विषाद-व्यस्त बने रहने का प्रधान कारण उसकी कामुक वृत्ति ही है। इस कामुक वृत्ति के बने रहते हुए सत्य के सूक्ष्म स्वरूप को हृदयगम करने के, ईश्वर-भजन के, हमारे सारे प्रयत्न प्रायः व्यर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति का साधक बाल-रूप ईश्वर की उपासना में अधिक प्रगति नहीं कर पाता। फिर क्या हो ? क्या ऐसे व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के लिए किसी पथ का आविष्कार नहीं होगा ?

आध्यात्म-विज्ञान ने अधम-से-अधम जीव के भी व्यक्तित्व-विस्तार के साधन बतलाये हैं; ऐसी अवस्था में यह कैसे हो सकता था कि कामुक मनोवृत्ति-प्रधान पुरुष अथवा नारी की समस्या को वह सर्वथा भुला देता ? मानव-व्यक्तित्व के पत्नी, और परम सत्य के पति-रूप की कल्पना देकर उसने अपेक्षित साधना को अधिक जनो के लिए सुलभ कर दिया। सीता-राम अथवा पार्वती-शंकर को उपासना का साधन बनाने में यही तत्त्व निहित है; जिस व्यक्ति को ससृति-जनित क्लान्ति से मोचन पाना अभीष्ट हो वह राम और शिव रूप सत्य के लिए सीता की तरह, पार्वती की तरह कठोर क्लेशमयी तपस्या करे।

किन्तु इस पत्नी-पति-सम्बन्ध के आरोप में प्रकट होने वाली उपासना-पद्धति में भी कुछ विकास-सम्पन्न व्यक्तियों ही को सुविधा प्राप्त हो सकती है। इसका कारण यह है कि मानव-हृदय स्वभाव ही से चंचल है; यह अधिकांश में अर्जित वस्तु को प्रति अनुरागहीन, उत्कटाशून्य हो जाता है; और इस आराधना-प्रणाली के

अनुगामी ने यदि पहले से ही सत्य की दिशा में कुछ प्रगति नहीं कर ली है तो उसके लिए यह बहुत संभव है कि इस पथ के अवलम्बन से उसे उचित सफलता प्राप्त न हो। उपासना में कृतकार्य होने के लिए साधक के चित्त में साध्य की सिद्धि के निमित्त भावुकता का अपार आवेग चाहिए और जब उसके पत्नी-हृदय की सम्पूर्ण व्याकुलता पति-संयोग की कामना में निहित न होगी—वह व्याकुलता, जो सीता और पार्वती के हृदय में क्रमशः रामचन्द्र और शिव के लिए देखी गई थी—तब उसे जान लेना चाहिए कि उसको किसी अन्य भजन-प्रक्रिया की आवश्यकता है। ऐसा साधक परम सत्य को अपने उस प्रियतम के रूप में कल्पित करे जिसके मिलन में दुर्गम सामाजिक तथा अन्य कठिनाइयाँ हैं, जिसके रूप-लावण्य का स्मरण उसमें प्रतिपल नवीन प्रणय का विकास करता है, जिसकी निष्ठुरता उतनी ही अधिक असह्य है, जितना वह प्रिय है। प्रेमिका और प्रेमिक के स्थूल मिलन की समस्त चेष्टाओं तथा समस्त संकेतों का उपयोग इस उपासना-पद्धति में इस उद्देश्य से हो सकता है कि जिस आवेग, उत्कंठा, आवेश की चर्चा ऊपर की गई है उसका उपयुक्त वातावरण तैयार हो और उसके भीतर से साधक का व्यक्तित्व सत्य की ओर उन्मुख हो। किसी नारी का एक अथवा अनेक उपपति ढूँढ़ लेना अथवा किसी पुरुष का सौ-दो-सौ परकीया नायिकाओं के साथ स्थूल व्यभिचार में प्रवृत्त होना इस उपासना-पद्धति का कोई अंग नहीं है; परकीया उपपति-सम्बन्ध में जो कुछ भी थोड़ा-सा उपयोगी तत्त्व इस उपासना-प्रणाली को सजीव बनाने के लिए विद्यमान है, वह है उक्त आवेग और आवेश और ज्यो-ज्यो उपासना की प्रक्रिया प्रगतिशील होती है त्यों-त्यों यह आवेग निर्मल से निर्मलतर, और निर्मलतर से निर्मलतम होता जाता है।

‘गीतगोविंद’ के रचयिता जयदेव, मैथिल-कोकिल विद्यापति तथा महात्मा सूरदास ने इसी उपासना-पद्धति का अनुसरण करते हुए साधना-पथ में प्रगति की थी, मानव-व्यक्तित्व को राधा का और श्रीकृष्ण को परम सत्य का प्रतिनिधित्व प्रदान करके उन्होंने अपने विलास-लोलुप काल का महाकाल के साथ संयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इन कवियों की रचनाओं का अध्ययन जब इस विशुद्ध दृष्टि से किया जायगा, तभी हम सृष्टि-रूपी यमुना के तट पर विहार-रत तथा अनन्त आनन्द की माधुर्यमयी मुरली बजाने वाले सत्य-स्वरूप श्रीकृष्ण के रूप-लावण्य-रस का पान करने के लिए जीवात्मा-रूप राधा के अभिसार का रहस्य हृदयंगम कर सकेंगे। किन्तु यदि हम अपनी ही दृष्टि को दूषित कर ले, अपने ही मन में वासना को स्थान दे ले तो क्या राधा-कृष्ण का उक्त पवित्र उन्नतकारी सम्बन्ध कलुषित रूप में दिखाई न पड़ने लगेगा। दर्पण से अधिक निर्मल और कौन-सी वस्तु संसार में होगी? स्वरूपवान् उसके उपयोग द्वारा अपने सौन्दर्य को देखकर

तृप्त हो जायगा, किन्तु ऐबी उसी शीशे में अपना ऐब देखकर शीशे को ही सदोष कह देगा। जिसके हृदय में आध्यात्मिक प्रगति की कामना नहीं है, जिसका चित्त विकारों के दलदल में फँसा है, वह राधा-कृष्ण के उक्त आध्यात्मिक सम्बन्ध-रस का न आस्वादन कर सकता है और न करने की कोशिश ही करेगा; उसके लिए अधिक स्वाभाविक यह है कि जिन प्रियतम तथा प्रियतमा-विषयक शारीरिक चेष्टाओं और संकेतों के आधार पर उक्त उपासना क्रियाशील होती है, उन्हीं में वह रमण करे और उन्हींको उस सम्पूर्ण प्रक्रिया की अंतिम वस्तु समझ ले, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य के वमित पदार्थ को कुत्ता अपने प्रिय आहार के रूप में ग्रहण करता है।

महात्मा सूरदास स्वामी वल्लभाचार्य के आठ पट्ट शिष्यों में से एक थे। उन्होंने जीवन-भर श्रीकृष्ण की उपासना की। श्रीकृष्ण के बाल रूप की उपासना के भावों वाले उनके पदों के उदाहरण दिये जा चुके हैं, अब नीचे के पदों में उपपत्ति-परकीया-सम्बन्ध के आवेग से परिपूर्ण उस भावुकता को देखिए, जिसके अपूर्व माधुर्य का स्वाद लेते हुए वे अपने आराध्य देव के सम्मुख पहुँचना चाहते हैं :

“मेरी गैल न छाड़ै साँवरो में क्योंकर पनघट जाउँ री।

यइ सकुचनि डरपति रहौं मोहि धरं न कोऊ नाउँ री॥

जित देखौं तित दीखं री रसिया नन्दकुमार री।

इत उत नैन चुराइ के मोहि पलकन करत जुहार री॥

लकुट लिये आगे चलं री पंथ सँवारत जाइ री।

मोहि निहोरौ लाइ के वह फिरि चितवें मुसिकाइ री॥

मो कंचुकि अंचरा उचें मेरो हियरा तकि ललचाइ री।

जमुना जल भरि गागरि लै जब सिर चलत उचाइ री॥

गागरि मारं काँकरी सो लागै मेरे गात री।

गैल माँझ ठाढ़ौ रहै मोहि खूबटे आवत जात री”॥

उक्त पदों में परम सत्य और उसके प्रति अनुरक्त मानव-व्यक्तित्व का बहुत मार्मिक रूपक है। प्रथम के प्रतिनिधि-स्वरूप श्रीकृष्ण है, जिनका बोध ‘साँवरो’ ‘रसिया नन्दकुमार’ ‘हरि’ आदि शब्दों द्वारा कराया गया है; इसी प्रकार मानव-व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व श्री राधिका अथवा किसी गोपिका ने किया है। श्रीकृष्ण की शारीरिक चेष्टाओं तथा संकेतों का अध्ययन करने के लिए कुछ प्रासंगिक पदों को मैं नीचे क्रमबद्ध कर देता हूँ :

‘नैन चुराइ’, ‘पलकन करत जुहार’ ‘चितवें मुसिकाइ’, ‘गागरि मारं काँकरी सों’, ‘गैल माँझ ठाढ़ौ रहै’, ‘खूबटे आवत जात’ । ‘मो तन छवें’ ‘कंचुकि’ ‘अंचरा उचें’

इसी प्रकार राधिका की चेष्टाओं वाले पदों को भी, विचार-सम्बन्धी सुविधा

के लिए, मैं नीचे लिख देता हूँ—

‘मेरी जिव गाँठी बँध्यौ पीताम्बर को छोर रो ।’

‘यह सकुचनि डरपति रहौं मोहि धरे न कोऊ नाउँ रो ।’

‘अब प्रगट करौं अनुराग रो ।’

‘को जानै कित होत है रो घर गुरुजन को शोर रो ।’

‘जब लगि मन मिल्यौ नहीं तब नची चोंप के नाच रो ।’

‘स्याम संग ही रह्यौ सब करौं मनोरथ साँच रो ।’

इस रूपक का रसास्वादन करने के लिए हमें ‘पनघट’ से सृष्टि, और पानी भरने जाने की प्रिया से सासारिक आसक्तिमय जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति समझनी चाहिए। जिस समय हमारे असत्यमय जीवन में सत्य के साथ हमारा प्रथम साक्षात्कार होता है, उस समय हमारी स्थिति उक्त पदों में वर्णित परकीया नायिका से भिन्न नहीं होती। इस नवीन सत्य में यदि विश्व का सम्पूर्ण सौन्दर्य और लावण्य सन्निविष्ट न दिखाई पड़े, वह तरह-तरह से हमें अपने ऊपर विमुग्ध न बनावे तो उसकी चमत्कृतकारिणी विभूति का, उसकी मोहकता का अर्थ ही क्या? हमारे लिप्त जीवन के पथ में उसका खड़ा होना हमारे अज्ञान के घड़े पर उसका कंकड़ मारना, मधुर आक्रमण करना, कभी-कभी हमारे संसृति-विमुग्ध व्यक्तित्व को अपना मादक संस्पर्श प्रदान करना, सत्यानुभूति के केन्द्र रूप कुच की लोक-मर्यादा-भय-रूपी कंचुकी को खोलना और अञ्चल को ऊपर उठा देना एक मनोहर व्यापार है। इसी प्रकार मानव-व्यक्तित्व के पक्ष में उसका कल्पना द्वारा निर्दिष्ट सत्य-रूप कृष्ण के स्वरूप पर गोपी की तरह मुग्ध होना, प्रियतम के पीताम्बर पर उसका निछावर होना, इस नवीन अनुराग को लोकापवाद-भय से छिपाने की चेष्टा करना, क्रमशः उसके साहस का विकास होना, नवप्राप्त साहस के अवलम्ब से अपनी ‘नई लगनि’ में से ‘कुल की सकुच’ अंश बहिष्कृत करके खुल्लम-खुल्ला प्रणय-कांड में प्रवृत्त होना, और अपने हृदयेश्वर के सग रहकर सब मनोरथों को पूर्ण करने का संकल्प करना भी स्नेह-लीला की विविध प्रक्रियाएँ हैं।

कहा जा सकता है कि परकीया और उपपति के अनाचारपूर्ण सम्बन्धों की यह व्याख्या उनके जीवन को सुदीर्घ बनाने में भी सहायक हो सकती है। मैं इस कथन की आशिक सत्यता को स्वीकार करता हूँ और मिट्टी को सोना नहीं कहना चाहता। लेकिन साथ ही अगर सोना किसी बक्स के भीतर बंद हो गया हो तो ताला खोलकर उसकी प्राप्ति का उद्योग भी समुचित समझता हूँ। सूरदास जी के उक्त काव्य के बक्स की कुञ्जी है निम्नलिखित पद्यांश :

‘जित देखो तित दीखे रो रसिया ।

यह पचाश हमें उक्त काव्य में सन्निहित आध्यात्मिक तत्त्व की ओर आकृष्ट कर लेता है और पारस पत्थर की तरह अपना सशोधक स्पर्श प्रदान कर सम्पूर्ण लौह-खंड को स्वर्ण में परिणत कर देता है ।

निस्संदेह सूरदास के सभी पदों में इतने स्पष्ट आध्यात्मिक सकेत नहीं है, किन्तु ऐसे स्थलों के लिए हमें उनके निम्नलिखित पद स्मरण रखने चाहिए :

भार भयो जब दृष्टी पर तब हरि लीन्हों अवतार ।

वेद ऋचा होइ गोपिका हरि सों कियो विहार ।

जो कोउ भर्ता भाव हृदय धरि हरि पद ध्यावै ।

नारि पुरुष कोउ होइ श्रुति ऋचा गति सो पावै ।”

सूरदास की गोपिका ने श्रीकृष्ण को भर्ता-रूप में ग्रहण करके उनका भजन किया था, यदि इस बात को हम भुला न दें तो उनके निम्नलिखित पदों के रेखांकित शब्द भी निर्दोष दीखने लगें :

१. “नीबो ललित गही जदुराई ।

जबहि सरोज धरी श्रीफल पर तब जसुमति गृह आई ।

तत्क्षण रुदन करत मन मोहन मन में बुधि उपजई ।

देखो ढोठ देति नाहि माता राखी गेद चुराई ।”

२. राधे छिरकति छोट छबीनी ।

कुच कुंकुम कंचुकि बंद टूटे लटक रही लट गीली ॥

३. ब्रज युवती रस रास पगी ।

कियो स्याम सब को मन भायो निशि रति रंग जगी ।

पूरण ब्रह्म अलख अविनासी सवनि सांग मुख दोन्हो ।

जितनी नारि भेष धरो तितने भेद न काहू चीन्हों ॥

वह मुख रत न काहू मन ते पति हित साध पुराई ।

सूरस्याम दूलह सब दुलहिनि निशि भावरि बै आई ।

अन्तिम दो पद्यों में चिन्हित पद आध्यात्मिक संकेत प्रदान करके उनकी भोग-विह्वलता को कुछ समतोलित कर देते हैं । फिर भी यह तो स्पष्ट है कि सूरदास की मानव-व्यक्तित्व की प्रतिनिधि-स्वरूपिणी यह ब्रज-युवती अथवा राधा विलासिता की लालसा से अत्यन्त अधिक पीड़ित है और यदि वह आध्यात्मिक सत्य की साधना में रत है तो निम्नतम श्रेणी की साधिका है, परम अबोध शिशु है जो मीठी-से-मीठी दवा ही पी सकता है ।

जो हो, राधा अथवा गोपिका और श्रीकृष्ण का उररिर्वाणित सम्बन्ध उपासनामूलक है और साधक की योग्यता और शक्ति के अनुरूप ही उसमें सूक्ष्मता

अथवा स्थूलता का समावेश किया जाता है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सूरदास इतनी निम्न श्रेणी के साधक थे कि उनके लिए वह मधुर उपासना-पद्धति आवश्यक थी, नहीं, उन्होंने वाल गोपाल और सखा गोपाल के जो मनोहर चित्र अंकित किये हैं वे हिन्दी-साहित्य में अपना सानी नहीं रखते, उन चित्रों को प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी उच्च कोटि की साधना और प्रचुर आध्यात्मिक विभूति का परिचय दिया है। हाँ, भक्त अपने इष्ट देव की उपासना नाना रूपों में करना ही चाहता है और रचि तथा स्वाद-वैचित्र्य से प्रेरित होकर ही उन्होंने उस पद्धति की उपेक्षा नहीं की, जो उनके पहले के तथा समकालीन कृष्ण-भक्तों ने प्रचलित कर रखी थी।

सत्य के विभिन्न रूपों का गोपियों के वष में अवतरित होकर परम सत्य रूप श्रीकृष्ण के साथ विहार करना एक अत्यन्त मादक ऋपक है जो सृष्टि की उत्कृष्टता और मरसता को हमारे हृदय में अङ्कित कर देता है। उच्चतर सत्य का मधुर आह्वान जैसे कल्पना-द्वारा कर्णगोचर होकर निम्नतर सत्य को निम्न श्रेणियों के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में प्रभावित होता है, वैसे ही काव्य की अनुरजित भाषा में गोपियों के व्यक्तित्व में श्रीकृष्ण का रमण कहा जा सकता है, रमण का आरोप स्वीकार कर लेने पर यही उत्तरोत्तर अलंकृत काव्य मानिनी और खंडिता आदि नायिकाओं की उत्पत्ति भी कर देता है। जब साधक की बुद्धि-कालिन्दी के तट पर कल्पना-निर्दिष्ट उच्चतर सत्य अत्यन्त उन्मादक स्वर में, सौभाग्यमय शरद पूर्णिमा के निर्गुण-काल में, आनन्द की तरंगें उत्थित कर देता है, उस समय छोटे-छोटे स्वार्थ-समूहों में आबद्ध निम्नतर सत्य की विभिन्न श्रेणियाँ सारी बाधाओं का अतिक्रमण करती हुई कितनी अपार उत्कठा लेकर अपने प्रियतम की ओर दौड़ती और उनके साथ सगम करती हैं—ये भावनाएँ साधक के लिए बड़ी अनमोल हैं और इन्हीं को हृदय में धारण करके जयदेव, विद्यापति और सूरदास अपने व्यक्तित्व के विकास में अग्रसर हुए।

किं पाठक ! क्या आपने ऐसे शिवालय नहीं देखे हैं जिनमें शिवरात्रि को भी कोई पूजा करने के लिए नहीं पहुँचता है, जिनमें बेल-पत्र की कौन कहे नीम की नीरस पत्तियाँ भी प्रतिमा पर नहीं चढ़ती, जिनमें कुत्ते लोटते और चूहे कूदते हैं ? जिस तरह हमने अपने अनेक शिव-मंदिरों की प्रतिष्ठा का लोप होने दिया, उसी तरह इस मनोहर और मधुर उपासना-पद्धति को अयोग्य हाथों में डालकर अप्रतिष्ठित कर दिया। परब्रह्म और ऋचाओं के, परमात्मा और मानव के, उच्चतर सत्य तथा निम्नतर सत्य के सगम का अर्थ हम समझ बैठे परकीया और उपपत्ति का अमयत मिलन। जिस पाषाण में हमने अपने ही सकल्प-बल से ईश्वर की प्राण-प्रतिष्ठा की थी उसको अपनी ही इच्छा से फिर पाषाण बनाकर अब हम उन

लोगों का उपहास करने का प्रयत्न कर रहे हैं जिन्होंने उसे ईश्वर समझकर उसकी

इसा तरह राधा-कृष्ण-सम्बन्ध की कल्पना में से उपासना-तत्त्व का बहिष्कार करके हमने उन्हें स्थूल अर्थ में उपपत्ति और परकीया नायिका बना दिया ! काम-मोहन को भुलाकर हमने काम को अंगीकार कर लिया !! सामाजिक दृष्टि से यह हमारा गहरा पतन था, जिसका अत्यन्त दयनीय चित्र हमें हिन्दी-काव्य के माध्यमिक काल में यत्र-तत्र मिलता है, यत्र-तत्र मैं जान बूझकर कहता हूँ, क्योंकि, उक्त काव्य का अधिकांश नारी और पुरुष के अत्यन्त माधुर्यमय सम्बन्धों का वर्णन करके साहित्य के एक अंग की पूर्ति करता है और यदि हम उसका भी तिग्मकार करने लगेंगे तो यह मूर्खता ही होगी। उदाहरण के लिए, विहारी को लीजिए, जो बात यहाँ एक श्रेणी के लिए कही गई है, वह उनके सम्बन्ध में तो और भी सत्य है, सूक्ष्म सत्य-दर्शिनी कल्पना का अभाव और परिस्थिति का प्रभाव उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र प्रकट रूप से विद्यमान होने पर भी पत्नी और पुरुष के प्रणय-सम्बन्ध-विषयक मनोहर सूक्तियों में उनकी प्रतिभा ने समुचित कौशल और विदग्धता प्रदर्शित की है। अतएव, वे तुलसीदास और सूरदास की पंक्ति में भले ही न बैठ सकें, किंतु जब तक मानव-समाज पारस्परिक शारीरिक और मानसिक विभूति-जन्य आकर्षण के सामने नतजानु होने तथा सत्य की साधारण श्रेणियों से सताप करने वाले पुरुषों और स्त्रियों का एक विशाल समूह बना रहेगा तब तक उन भावों का भी आदर होता रहेगा जो विहारी के अधिकांश दोहों में व्यक्त हुए हैं।

चौदह ::

:: शेक्सपियर का विश्व-संदेश

ईसा की सोलहवीं सदी का उत्तरार्द्ध नाटककार और कवि शेक्सपियर का रचना-काल माना जाता है। तबसे अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी, कितनी ही नवीन विचार-धाराओं का जन्म हो गया, कितने ही सामाजिक उलट-फेर हो गये, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रचलन करके आर्थिक जगत् में एक बहुत बड़ी क्रांति कर दी। इस क्रान्ति से कम महत्वपूर्ण वह क्रांति नहीं थी जो इब्सेन ने स्वयं नाट्य-कला के क्षेत्र में लगभग उसी समय की। इस नाटककार ने व्यक्ति के अधिकारों पर विशेष बल दिया और विशेष रूप से उन स्थानों पर आक्रमण किया जहाँ समाज व्यक्ति के स्वत्वों का हरण करता दिखाई पड़ता है। इब्सेन की नाट्यकला, जिसका परवर्ती अनेक कलाकारों ने अनुकरण किया, अपनी स्वाभाविकता, सरलता और तत्त्वानुसंधान की प्रवृत्ति के लिए चिरस्मरणीय और पोषणीय रहेगी। किसी समस्या का प्रभुत्वपूर्ण, किसी सत्य की खोज इब्सेन और उसके अनुयायी नाटककारों की विशेषता है। निःसंदेह इन नवीन नाटकों तथा शेक्सपियर के नाटकों में आकाश-पाताल का अन्तर है। किन्तु जो लोग ऐसा समझते हैं कि शेक्सपियर के नाटक असामयिक हो गये हैं और न अब उन्हें पढ़ने की आवश्यकता है और न रंगमंच पर देखने की, वे भ्रम में हैं। वास्तव में उक्त दोनों ही शैलियों के नाटकों को एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिए और दोनों ही से आनन्द ग्रहण करने की कोशिश करनी चाहिए। इसी उद्देश्य से मैं आज पाठकों के सामने शेक्सपियर की नाट्य-कला के सम्बन्ध में कुछ निवेदन कर रहा हूँ।

शेक्सपियर के विषय में एक लेखक ने कहा है कि यदि संसार में कभी कोई मौलिक कहलाने योग्य है तो वह शेक्सपियर है। उसकी मौलिकता के कारण उसकी कृतियों ने मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में हमें अद्भुत हृदय-स्पर्शी विचार मिलते हैं। उसकी कला के विषय में, सबसे बड़ी विचित्रता, जो उसकी अन्य लेखकों से पृथक् करती है, यह है कि वह जीवन को अनेक दृष्टियों से देखता है। वर्डस्वर्थ, मिल्टन, पोप तथा अन्य कवि एक तरह की बातें करते हैं, उनकी समस्त रचनाओं को पढ़ डालने पर आपको यह अवगत हुए बिना न रहेगा कि

उनकी विचार-धारा एक ही मार्ग में बहती है । उन लोगो ने मनुष्य को रूप-विशेष में देखा है । जब वे उसका ध्यान करते हैं तब वही रूप उनके सामने आता है । वर्डस्वर्थ की दृष्टि में मनुष्य की गम्भीर प्रकृति का कपाट खुलने के लिए प्रकृति-देवी की आराधना में उसका रत होना वाछनीय है । पोप की दृष्टि में सृष्टि में मनुष्य का स्थान अत्यंत क्षुद्र है । सामाजिक जीवन में, स्वार्थ-संग्राम में, सफलता प्राप्त करने के निमित्त जिन उपायों का मनुष्य अवलम्बन करता है उन्हीं के आधार पर पोप ने उसके विषय में धारणा निश्चित की है । मिल्टन कुछ आगे बढ़ा है सही, पर उसने भी मनुष्य को परवश ही माना है । उसने अपने काव्यों में ईश्वर के साथ मनुष्य के इसी परवश स्वरूप को अंकित किया है । यह बात शेक्सपियर में नहीं है वह मनुष्य को एक रूप में दिखलाकर सन्तुष्ट नहीं होता । यदि कहीं वह हैमलेट का अथवा बूटस का चरित्र अंकित करता है तो कहीं मैकबेथ, आथेलो का और कहीं टचस्टोन तथा फालस्टाफ का । शेक्सपियर के अनुभव-क्षेत्र का यह विस्तार उसीकी विशेषता है ।

शेक्सपियर के जो नाटक विनोद-प्रधान कहे जाते हैं, यदि उनके असला स्वरूप पर ध्यान दिया जाय तो उनमें कल्पना और जीवन के आनन्द का बाहुल्य ही मिलेगा । समाज में जो कुछ प्रकट अनौचित्य दीखता है, उसीको मिटाने के लिए विनोद-प्रधान नाटको की रचना होती है, उपहाम और व्यंग का आश्रय लेकर नाटककार बुराईयो की तीव्र समालोचना करता है और प्रायः उसकी इच्छा के अनुकूल फल भी होता है । परन्तु उपहास दो प्रकार का होता है । एक उपहास वह है, जिसमें तीक्ष्ण व्यंग और घृणा का प्राबल्य होता है । दूसरे प्रकार के उपहास में व्यंग और घृणा का नाम नहीं होता, उसकी उत्पत्ति और उसका जीवन प्रेम के अन्तर्गत ही होता है । शेक्सपियर के विनोद-प्रधान नाटक ऐसे ही हैं, 'As you like it', 'A mid summer night's Dream' और 'Much ado about nothing' में वह कहीं भी तीक्ष्ण व्यंग में रत नहीं होता । सच पूछो तो इन नाटको में काव्य, कल्पना और जीवन के आनन्द की मस्ती ही अधिकतर दिखाई पड़ती है । चारों ओर जीवन की सरसता को देखकर शेक्सपियर उन्मत्त हो जाता था, कभी-कभी यह संसार उसे स्वर्ण-रंजित-सा जान पड़ने लगता था—उसके उक्त नाटकों से यह परिचय मिलता है ।

किन्तु संसार का यह मोहक रूप दिखाकर शेक्सपियर मौन नहीं होता, वह हमारी उस दुर्बलता का दृश्य भी दिखाता है जो मनुष्य को पग-पग पर अदृष्ट के सामने उसकी विवशता दिखलाती है । हैमलेट में बादशाह को मार न सकने में हैमलेट की असमर्थता को दिखला कर वह हमारे सामने बेढब प्रश्न खड़ा कर देता

है। हैमलेट कवि है, दार्शनिक है, उदात्त विचार का पुरुष है, फिर भी वह उस कार्य को नहीं कर सकता जिसे करना वह अपना कर्तव्य समझता है। जिस कार्य को लेरटीज, साधारण-सा आदमी बिना बिलब कर सकता है, उसी कार्य को हैमलेट नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न लेखकों ने हैमलेट की इस असमर्थता के भिन्न-भिन्न कारण बतलाये हैं। किमी का कहना है कि वह दार्शनिक और कवि होने के कारण व्यावहारिक कार्य में कुशल नहीं था और उसे मानसिक रोग था, इस कारण वह अपना कार्य नहीं कर सका। किसी का कहना है कि वह व्यावहारिक कार्य में कुशल होने ही के कारण अपने पिता की हत्या का प्रमाण पाये बिना बादशाह का वध न कर सका। इन भिन्न-भिन्न मतों में किसका मत ठीक है और किसका नहीं, इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब तो है इस बात से कि हैमलेट-जैसा बलवान् मस्तिष्क और उदार नैतिक भावों का पुरुष जीवन के ऐसे चक्र में पड़ गया कि उसे उस कार्य में रत होने की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके करने की योग्यता उसमें इसी कारण नहीं थी कि वह इतना अधिक उदात्त विचार वाला है।

इस प्रकार शेक्सपीयर हमारे सामने बड़ा गहरा प्रश्न खड़ा कर देता है। जिन आदर्शों को जीवन में प्राप्त करना मनुष्य अपना लक्ष्य समझता है, उनके कारण जब वह जीवन के कर्तव्यों का पालन करने की योग्यता खो बैठता है तब फिर हमें क्या करना चाहिए? शेक्सपीयर इसका उत्तर नहीं देता, केवल मकेन-मात्र करके वह हमें छोड़ देता है—अदृष्ट मनुष्य के आत्म-विकास-प्रयत्न के विरुद्ध नहीं है, वह हममें पूर्णता चाहता है और हमारी अपूर्णता के लिए हमें कठोर दण्ड देता है।

‘मैकबेथ’ में शेक्सपीयर एक दूसरी ही बात बतलाता है। मैकबेथ क्रूर हत्या और अनाचार का आश्रय लेकर राज्य प्राप्त करता है, पराजित होता है, और मृत्यु की गोदी में जाता है। यदि इतना ही होता तो मैकबेथ शोकान्त नाटक न, कहलाता क्योंकि दुराचारी पुरुष के जीवन के दुःखमय परिणाम पर शोकान्त नाटक नहीं अवलम्बित किया जा सकता। लेकिन दुराचारी होने के साथ ही मैकबेथ में पहले सज्जनता विशेष परिमाण में थी। जिस दिन उसके राज्य पाने की भविष्य-वाणी की गई उसी दिन से प्रबल लालसा की लहर आई और तभी से वह एक अनाचार के बाद दूसरा अनाचार करने लगा। धीरे-धीरे उसके सम्पूर्ण अच्छे गुण नष्ट हो गये। मनुष्य में थोड़ी-सी बुराई किस प्रकार बल पाकर उसके मृदु स्वभाव को नष्ट करती तथा उसे राक्षस बना देती है, इसी दुःखमय सत्य का अवलम्बन करके इस शोकान्त नाटक ने जन्म पाया।

‘ओथेलो’ में आइगो का चित्रण करके शेक्सपीयर ने हमें मानव-प्रकृति की

एक दूसरी ही दुर्बलता का पता दिया है। मनुष्य अपने क्षणिक विनोद के लिए औरो का सर्वनाश कर सकता है, ओथेलो और डेसडेमोना—जैसे दो प्रेमियों का जीवन दुःखमय कर सकता है। क्या यह शोचनीय नहीं है ?

शेक्सपीयर के शोकान्त नाटको की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे हमारा ध्यान मनुष्य-जीवन की अपूर्णता की ओर ले जाते हैं। अन्य शोकान्त नाटको की तरह वे प्रयत्न-विशेष द्वारा हमारी असफलता को दिखलाकर हमारे हृदय को निराशा का धक्का नहीं देते, वे केवल उस कमी की याद दिलाते हैं, जिनमें मानव-जीवन को चारों ओर से घेर रक्खा है और इस क्रिया द्वारा वे हमें अदृष्ट के सामने नम्र बनाकर पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करते हैं। हम यह मानते हैं कि हमारी असफलता को दिखाने वाले नाटक हमारा अपकार ही करेंगे। और शायद इसी कारण हमारे मस्कृत-साहित्य में शोकान्त नाटकों के लिए कोई स्थान नहीं है, परन्तु हमारा विचार है कि शेक्सपीयर के ढंग के नाटक हमारी प्रकृति से कलुषित अंश को निकालकर हमारी आत्म-शुद्धि ही करेंगे।

यदि शेक्सपीयर जीवन के सरस भाग पर कही अपनी मुग्धता दिखलाता है तो कही मानव-जीवन की क्षुद्रताओं का चित्रण करके हमें क्षुब्ध भी करता है और अपने इस ढंग से वह हमें यह पता नहीं देता कि मनुष्य-जीवन के सम्बन्ध में उसका एक निश्चित विचार क्या है। वह भिन्न-भिन्न दृश्यों को दिखाकर, भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं में हमें बहाकर मौन हो जाता है और हम हो जाते हैं आश्चर्य-चकित। जिस संसार में इतना सुख है, उसमें इतना दुःख है, जिसमें इतना आनन्द है, उसमें इतनी क्षुद्रता, ईर्ष्या, द्वेष भी है, जिसमें इतनी सरसता है उसमें इतना कष्ट भी है—शेक्सपीयर हमें यही दिखलाने का प्रयत्न करता है। यह सब देखकर हम संसार को विचित्र कहने लगते हैं। इस विचित्रता का आभास पाकर हम किसी अज्ञात शक्ति की महत्ता का अनुभव करते हैं। यही शेक्सपीयर की विशेषता है यही उसकी कला है। इससे अधिक नाटककार कुछ नहीं कर सकता। इस कारण शेक्सपीयर महान् और सर्वश्रेष्ठ नाटककारों में अग्रगण्य है।

पन्द्रह ::

:: किराये का मकान

मेरे अनेक सुपरिचितो मे एक सज्जन है, जिनका शुभ नाम है—श्री घरफूंकन सिंह । नाम सुनकर शायद पाठको को कौतूहल हो, किंतु मैं उन्हें बता देना चाहता हूँ कि यदि उनमे कोई भयकर चीज है, तो वह उनका नाम-मात्र है, उनकी शेष सभी बातें बड़ी आकर्षक हैं । उनकी एक विशेषता यह है कि आप चाहे जिस विषय पर बातचीत चलाइए, अथवा व्याख्यान देने के लिए उनसे कहिए, इस बात की ओर कोई ध्यान न देकर कि वे गँवारो की मंडली में हैं या विश्वविद्यालय की सभा में, राज-दरबार में हैं, या श्मशान-घाट पर, वे अन्ततोगत्वा घुम-फिरकर अपने एक-मात्र प्रिय विषय पर आ जायँगे, दिन-रात के बीच जिसकी कम-से-कम दस बार चर्चा कर लेना उनके लिए उतना ही आवश्यक है जितना स्वयं साँस लेना । उनका यह प्रिय विषय है—‘किराये का मकान’ । अपने श्रोता की विद्या, बुद्धि, सस्कार आदि को शीघ्र-मे-शीघ्र पहचान लेने की उनमें विलक्षण शक्ति है, हत्यारे की खोज में चलने वाला कुत्ता जैसे रक्त की वूँदों की सहायता से अपना कार्य सिद्ध करता है, वैसे ही वे श्रोता की भाव-भंगी से ही अनुमान कर लेते हैं कि बातचीत शुरू होने के कितने समय बाद और विज्ञान की किस दिशा की ओर मोड़ लेते हुए वे अपने अभीष्ट विषय पर पहुँच सकेंगे । घरफूंकनसिंह जी की इस कला का लोहा थड़े-बड़े लोगो ने मान लिया है ।

पार्श्वात्य देशों के दार्शनिकों और चिन्तकों ने मनुष्य के पुरुषार्थ को अर्थ और काम के घेरे के भीतर ही सीमित कर दिया है, इसकी घरफूंकन सिंह जी कभी प्रशंसा करते हैं, कभी निंदा । परस्पर-विरोधी कथन करते रहने पर भी वे यह नहीं चाहते कि उनकी इस कचाई को कोई भाँप जाय, इसीलिए वे ऐसा कोई मौका ही नहीं देते कि उनका भाषण समाचार-पत्रों में अथवा अन्यत्र कहीं छप सके । इसी कारण वे कभी कहते हैं कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य केवल धन अर्जित करना है, तो कभी कहते हैं कि मनुष्य अपनी अतृप्त कामनाओं की तृप्ति के लिए ही ससार में अवतीर्ण होता है और जीवन में एक-मात्र काम ही आराध्य है । किन्तु कभी-कभी यह भी आवश्यक हो जाता है कि योषियन सभ्यता की आलोचना करके भारतीय सस्कृति का महत्त्व बढ़ाया जाय, तब वे येन-केन-प्रकारेण धन अर्जित

करने और कामना-पूर्ति में मग्न होने के स्थान में धर्म-सम्पादन और मोक्ष-विषयक पुष्पार्थ-साधन में लगने का अनुरोध करते हैं। यह स्मरण रहे कि वे चाहे जिस चीज का समर्थन करें, किन्तु उत्साह की कमी उनके भाषण की विशेषता कभी नहीं बन पाती। हर बात के लिए उनके उत्साह की अधिकता को लक्ष्य करके कुछ जागरूक उन्हें 'बेपेदी का लोटा' कहते हैं। अपनी आलोचना को अनिवार्य समझकर घरफूँकनसिंह जी केवल मुसकरा दिया करते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि घरफूँकनसिंह जी के प्रत्येक भाषण में 'किराये का मकान' प्रमुख हो उठता है। यह कह दूँ कि यह प्रमुखता सर्वत्र एक ढंग की, निर्दोष और त्रुटिहीन देखी जाती है। उदाहरण के लिए, यदि घरफूँकनसिंह जी अर्थ की प्रशंसा में भाषण कर रहे हैं तो 'किराये का मकान' उसमें जिस प्रकार केंद्र में बैठाया जायगा, उसी प्रकार राई-रत्ती भर भी अन्तर न देकर वह उस भाषण में भी चिपकाया जायगा, जिसे वे मोक्ष के गुण-गान में प्रस्तुत करेंगे और जिसको प्रभाव-शाली बनाने के लिए वे स्वर को इतना ऊँचा उठावेंगे कि सारा आकाश गूँज जाय। अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष—इन चारों ही क्षेत्रों में 'किराये का मकान' को समान रूप से प्रभावात्मक देखकर बड़े-से-बड़े समालोचकों ने यह स्वीकार किया है कि जहाँ अच्छे-से-अच्छे लक्ष्यकार एक लक्ष्य के द्वारा अधिक-से-अधिक दो चिड़ियों का शिकार कर सकते हैं, वहाँ घरफूँकनसिंह जी एक लक्ष्य के द्वारा सहज ही चार चिड़ियों का शिकार कर लेते हैं। यह आखेट-कार्य घरफूँकनसिंह जी के द्वारा किस प्रकार सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जाता है, इसकी एक झाँकी पाने के लिए पाठक उत्सुक होंगे, इसलिए इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक है।

सबसे पहले आर्थिक क्षेत्र को लीजिए। इस क्षेत्र की सीमाओं के भीतर रहकर घरफूँकनसिंह जी ललकारकर कहते हैं कि मेरा वेतन केवल ५००) है, इस अल्प वेतन में कैसे यह संभव है कि मैं सुन्दर और स्विधापूर्ण मकान बनवा सकूँ, विवश होकर अब तक मुझे 'किराये का मकान' ही रखना पड़ा है। गवर्नमेंट को चाहिए कि वह मेरा वेतन बढ़ावे, जिससे मैं मकान बनवा सकूँ। इन भाषणों की बदौलत घरफूँकनसिंह जी की अनेक बार पदोन्नति और वेतन-वृद्धि हो चुकी है। जानकार लोगो का यह कहना है कि उनकी आय के अनेक गुप्त और प्रकट द्वार हैं और गवर्नमेंट को उनकी बातों में आकर मूर्ख नहीं बनना चाहिए। जो हो, अपने लिए 'किराए का मकान' स्वीकार करके घरफूँकनसिंह जी ने स्वयं तो लाभ उठाया ही है, साथ ही अन्य बहुत-से लोगो की भी इज्जत बचा ली है, जिनसे लोग बारम्बार यह प्रश्न किया करते हैं कि आपने अभी तक मकान क्यों नहीं बनवाया? इस प्रकार बहुत-से लोगो की पूँजी ईंट-पत्थर के संग्रह में फँस जाने से बच गई

और 'किराये का मकान' प्रकट रूप में दीन बना रहकर अपने अल्पकालिक स्वामी के वैभव का रक्षक भी हो गया, क्योंकि चोरो और डाकुओ की दृष्टि तो बड़े-बड़े बँगले वालो पर ही जाती है।

घरफूँकनसिंह जी के अनुसार, कामना-पूर्ति के क्षेत्र में, 'किराये का मकान' बहुत काम का हो जाता है। वे अपने भाषणों में इस प्रकार कहते सुने गये हैं—“खास मकान बनवाकर मनुष्य एक खँटे में बँध जाता है। जो अन्तर एक खँटे में बँधे रहने वाले बँल और स्वच्छन्द विचरणकारी साँड में होता है वही अन्तर खास मकान के मालिक और 'किराये का मकान' रखने वाले में पाया जाता है। साँड को जहाँ कहीं चरने की इच्छा हुई वही चला जाता है, अखड़ खर खाता है, इसी प्रकार किराये के मकानवाला इच्छानुसार सुन्दर-से-सुन्दर समाज में, अच्छे-से-अच्छे नगर में पहुँच सकता है। खास मकान वाला निरन्तर ही एक स्थान पर रहकर अपने लिए अनेक शत्रुओं को उत्पन्न कर लेता है और विरोधियों के प्रबल पडने पर कहीं भागकर प्राण नहीं बचा सकता। किराये का मकान पहले तो विरोधियों को पनपने ही नहीं देता और यदि वे पनपे भी तो अपने प्रेमी को शीघ्र-से-शीघ्र उनकी पहुँच से परे दूर देश का निवासी बना देता है। घरफूँकनसिंह जी के इस भाषण को सुनकर बहुत-से श्रोताओं ने अपने खास मकानों में आग लगाकर 'किराये का मकान' स्वीकार कर लिया है। उसी समय से घरफूँकनसिंह जी का नाम पूर्ण रूप से सार्थक हो गया है।

घरफूँकनसिंह जी का घोषणा है कि धर्म के क्षेत्र में भी 'किराये का मकान' बहुत उपयोगी है। उनका मत है कि खास मकान से कोई आमदनी नहीं की जा सकती, उलटे उसकी मरम्मत में कुछ रुपया अपने पास से लगाना पड़ता है। रही बात किराये की, सो वह तो मूल का ब्याज-मात्र है। इसके विपरीत किराये का मकान, थोड़ी-सी बुद्धि का प्रयोग करने पर, आय का एक साधन भी बन सकता है ! धर्म के लिए धन की कितनी आवश्यकता होती है, इसके निर्णय का भार वे श्रोताओं पर ही छोड़ देते हैं।

घरफूँकनसिंह जी के श्रोतागण ऐसे नहीं हैं कि उनकी हर एक बात को झुपचाप गले के नीचे उतार ल जायें। एक भाषण के अन्त में एक श्रोता ने प्रश्न कर ही दिया—“किराये का मकान किरायेदार को किस प्रकार धन दिला सकता सकता है ?” घरफूँकनसिंह जी ने इसका जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—“किरायेदार साल दो साल तक अगर किराया न चुकता करे तो मकान-मालिक रौने-झीकने के सिवा और कर ही क्या सकता है ? रुका हुआ किराया देना तो पड़ेगा ही, लेकिन जब तक वह रुका रहेगा तब तक के ब्याज का लाभ भी हो ही

जायगा। इसी व्याज से हम गरीबों को भोजन, जल आदि देने की व्यवस्था कर सकते हैं। एक को दुःखी करके भी यदि हम दस-पाँच आदमियों को—वे अपने घर के हो, या बाहर के—सुखी कर सकते हैं तो यह धर्म ही माना जायगा। क्रमशः मकान-मालिक इस व्यवहार के अभ्यासी हो जायेंगे और किसी प्रकार की पीड़ा का भी अनुभव नहीं करेंगे।”

घरफूँकनसिंह जी के अनेक तर्कों को मैं पाठको के सामने प्रस्तुत कर चुका, अर्थ, काम और धर्म के क्षेत्र में किराये का मकान खास मकान की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है—इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो विलक्षण प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनसे वे परिचय प्राप्त कर चुके। मुक्ति के क्षेत्र में किराये का मकान खास मकान की अपेक्षा क्यो अधिक उपयोगी है, इस सम्बन्ध में भी घरफूँकनसिंह जी के तर्क विचित्र ही हैं, जिनका गडन करना उतना ही कठिन है जितना उन्हें व्यवहार में लाना संकटजनक। वे कहते हैं—“मुक्ति का सम्बन्ध अनासक्ति से बहुत अधिक है और अपनी सम्पूर्ण पूँजी से बने हुए मकान में कोई स्थायी रूप से निवास करता है, तो उसके प्रति उसे आसक्ति हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है। इसका अर्थ यह है कि सहज वातावरण का, परम्पराओं का जितना मोह खास मकान उत्पन्न करता है, उतना किराये का मकान नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि उसे हम निरन्तर बदलते तथा इस प्रकार नव विकसित सम्बन्ध-सूत्रों को तोड़ते रहते हैं। यदि महात्मा बुद्ध के पास किराये का मकान होता तो जंगलो में अकेले भटकने की उन्हें आवश्यकता न होती। खास मकान से उन्हें इसी कारण अरुचि हुई होगी कि वह उनके जीवनोद्देश्य की पूर्ति में बाधा डालता था।”

घरफूँकनसिंह जी के तर्कों से किराये का मकान चाहे जितनी प्रतिष्ठा संग्रह कर ले, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से खास मकान की अपेक्षा लोग उसे हीन ही मानते रहेंगे। खास मकान में अखंड सुख-भोग की सम्भावनाएँ छिपी हुई हैं, इसके विपरीत किराये का मकान तभी तक हमारा है जब तक हम किराया देते चले, उसमें अन्तर पड़ते ही हमारा सुख भी दुःख में परिणत हो जायगा। जिसे संसार से घृणा हो गई है, जो समाज को सुन्दर, सर्वप्रिय नियमों के शासन से वंचित करना चाहता है, जो जीवन के अन्तिम क्षण तक धन-सम्पत्ति को अपनी छाती से चिपकाये रहना चाहता है, वही घरफूँकनसिंह जी के निर्दिष्ट मार्ग पर चल सकेगा।

सोलह ::

:: विश्व-संस्कृति बनाम भारतीय संस्कृति

‘भारतीय संस्कृति’—इन दो शब्दों का आजकल बहुधा प्रयोग सुनने में आने लगा है, साथ ही इनका प्रयोग होते ही कुछ नवीनता-प्रिय व्यक्तियों की भाव-भंगी में सहसा परिवर्तन दिखाई पड़ जाता है, जो यह घोषणा करता जान पड़ता है कि आज के प्रगतिशील समय में विश्व-संस्कृति का गुण-गान न करके भारतीय संस्कृति के पक्ष में अपना आग्रह व्यक्त करना अपनी सकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय-मात्र देना है। किन्तु सकीर्णता और विस्तीर्णता का प्रायः ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं किया जाता और हम अन्धकार को प्रकाश तथा प्रकाश को अन्धकार समझने का प्रमाद भी आँख मूँदकर करते चलते हैं। वास्तविक सत्य कहा है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए यहाँ कुछ पंक्तियाँ लिखी जायँगी।

सबसे पहले हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि संस्कृति क्या है ? इसे समझ लेने के बाद ही ‘भारतीय’ ‘यूरोपियन’ अथवा ‘विश्व’ विशेषण लगाकर उसे नये रूप में देखना उचित होगा।

मनुष्य की वैयक्तिक अथवा सामाजिक साधना के परिणाम जिन कलात्मक माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर स्थूल पशुत्व से उसे मुक्त रूप में उपस्थित करते हैं उनकी समष्टि को संस्कृति कहते हैं। देश और काल के भेद से संस्कृति का स्वरूप निरन्तर प्रगतिशील रहता है। यह प्रगति पशुत्व अथवा दानवत्व से मनुष्यत्व की ओर और मनुष्यत्व से दैवत्व की ओर होती रहती है। देश-विशेष अथवा काल-विशेष में जन्म लेने वाला उद्बुद्ध मानव जिस चेतना से अपने समकालीन तथा अनुगामी समाज को प्राणान्वित करता है, वही नवीन संस्कृति का आधार बन जाती है। उद्बुद्ध मानव जिस देश में अवतरित नहीं होता, उस देश में संस्कृति का विकास अवरुद्ध हो जाता है। किसी-किसी युग में मानव-समाज को किसी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व के संपर्क का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, फलतः जीवन में उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति रुक जाती है और वह पिछली, परित्यक्त, पराजित, पशुत्व-पीड़ित संस्कृति ही का सहारा लेकर अपने-आपको व्यक्त करने लगता है। जहाँ और जब उद्बुद्ध मानव का उत्तरोत्तर प्रादुर्भाव होता रहता है, वहाँ और तब मनुष्य की संस्कृति को नित्य नूतन स्पन्दन, गति और संचरण प्राप्त होता रहता है।

यूरोप में तत्त्व-विचार विशेष रूप से यूनान में ही हुआ। अफलातून, अरस्तू आदि चिन्तको ने विविध विज्ञान के सहयोग से मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने का उद्योग किया। अफलातून ने कलाओं की उपयोगिता इसीमें मानी कि वे मानव चरित्र के उत्थान में सहायक बनें। अरस्तू ने कलाओं को स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया और शोकान्त नाटकों को यह कहकर प्रोत्साहन दिया कि इनसे करुणा और भय प्राप्त करके मनुष्य का आचार-व्यवहार अच्छाई की ओर ढलेगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अच्छा हो जायगा तो समाज भी स्वतः प्रबल हो जायगा—अफलातून और अरस्तू ने इस तरह तो सोचा, व्यक्ति अच्छा होने पर अन्य व्यक्ति के साथ दुर्व्यवहार नहीं करेगा—यह भाव तो उनके हृदय में आया, किन्तु वे यह निर्देशन नहीं कर सके कि व्यक्ति अच्छा होने पर पीड़ित व्यक्ति के उद्धार तथा अत्याचारी के अनुशासन के लिए भी दौड़ पड़ेगा। यूनान में जीवन-संघर्ष की उग्रता इसका कारण रही हो या और कोई बात रही हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ की संस्कृति वैयक्तिक आधार लेकर ही चली, देश-भक्ति, राष्ट्र-भक्ति आदि का भी जो स्वरूप संगठित हुआ, वह भी वैयक्तिकता को लेकर ही अग्रसर हो सका, विस्तृत विश्व-कल्याण की भावना का उसमें कभी समावेश नहीं पाया गया। यूनान की वही संस्कृति आगे चलकर योरोपीय संस्कृति के रूप में फैली। आधुनिक युग में उसकी एक भुजा रूस में तथा दूसरी भुजा अमरीका में दिखाई पड़ रही है। वही क्यों, अब उसका प्रसार भारतवर्ष में भी होता जा रहा है। अब वही संस्कृति आज विश्व-संस्कृति का रूप धारण करके विश्व-कल्याण का नाम जपने का प्रदर्शन कर रही है, यद्यपि विश्व-कल्याण का भाव उसके हृदय में नहीं है। उसके अन्तरतम में अब अफलातून और अरस्तू की वह आदर्शवादिता भी नहीं है जो मनुष्य को स्वस्थ और सुन्दर रूप में देखना चाहती थी, अब तो उसके मानसिक केन्द्र में वह भोग-लिप्सा ही विराजमान है जिसे ईसा की उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में आधुनिक चिन्तको ने प्रतिष्ठापित किया है।

भारतवर्ष में संस्कृति के जिस रूप की कल्पना की गयी, वह यूनानी संस्कृति से भिन्न थी; उन्नत समाज-निर्माण लक्ष्य होने पर भी यूनानी संस्कृति आत्म-विकास और आत्म-विलास की ओर ही उन्मुख थी; इसके विपरीत भारतीय संस्कृति ने यदि वैयक्तिक विकास पर बल दिया था, तो साथ ही समाज-सेवा को, लोक-संग्रह को उससे अभिन्न माना था; दोनों की प्रकट भिन्नता का समाधान उसने यह कहकर किया था कि एक ही स्थिर तत्त्व विभिन्न देश और काल का सहयोग पाकर विभिन्न अस्थिर रूपों में प्रत्यक्ष होता है ! कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्म-विकास और समाज-सेवा की परस्पर दार्शनिक एकता का अनुसंधान न करके यूनानी

संस्कृति अधूरी, एकांगी रह गयी थी, जिससे उस संस्कृति अथवा उसकी उत्तराधिकारिणी संस्कृति की गोद में पला हुआ व्यक्ति अपनी समाज-सेवा की प्रत्येक इकाई का मूल्य किसी-न-किसी भौतिक लाभ के रूप में ग्रहण करने के लिए अधीर हो उठता है। भारतीय संस्कृति में यह परिस्थिति नहीं है, वहाँ आत्म-विकास और समाज-सेवा समन्वित रूप में उपस्थित है, वहाँ यह आवश्यक नहीं है कि समाज-हित-साधन के प्रत्येक कार्य के बदले में किसी-न-किसी लौकिक लाभ से प्रवाहित तृप्ति की खोज की जाय। अपनी इसी दार्शनिक प्रगति में भारतीय संस्कृति ने यह निर्देश भी किया कि मनुष्य अवसर उपस्थित होने पर पीडित के कष्ट-निवारण और अत्याचारी के दण्ड-विधान में भी लगे। इस प्रकार अस्तू के 'करुणा और भय' नामक सूत्र की प्रतिष्ठापना के बहुत पूर्व ही भारतीय ऋषियों ने 'करुणा और क्रोध' नामक सूत्र को मान्यता दी थी, जो अग्रज होने के साथ ही आज की परिस्थिति में भी संसार-मात्र के लिए अधिक जीवनप्रद बना हुआ है।

यूनानी संस्कृति में आत्म-विकास की भावना जीवन-चित्तन की बहुत अधिक गहराई में नहीं पहुँच सकी थी, जहाँ अन्तर्मुखी होकर वह 'अचल' और 'सनातन' के लिए तथा बहिर्मुखी होकर 'चंचल' और 'नश्वर' के लिए आग्रह बढ़ाती। उसने वास्तव में 'चंचल' और 'नश्वर' को ही प्रधानता दे दी। नागरिकता के रूप में उसी-की सिद्धि के लिए उसने साधना को भी परिचालित किया। इसके विपरीत, आत्मानुभूति, आत्म-विलय के मूल तक पहुँचने वाली भारतीय संस्कृति ने 'चंचल' और 'नश्वर' के क्षेत्र में 'करुणा और क्रोध' का आश्रय ग्रहण करके लोक-व्यापार को 'अपने लिए' उतनी अधिक मात्रा में स्वीकार नहीं किया जितनी अधिक मात्रा में 'दूसरे के हितसाधन के लिए' किया। भारतीय संस्कृति ने मनुष्य के स्वार्थ साधन को बहुत अधिक महत्त्व की बात नहीं मानी, परहित-साधन के लिए उसे गौण बनाते चलने ही में उसने जीवन-सौंदर्य का उत्तरोत्तर दर्शन किया। आगे चलकर जब बुद्धदेव और महावीर के प्रादुर्भाव के अनन्तर, अहिंसा को असंतुलित महत्त्व दे देने के कारण, 'करुणा और क्रोध' में से 'क्रोध' का सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया और लोक-सेवा के लिए एक-मात्र 'करुणा' ही यथेष्ट मानी गई, तब भारतीय संस्कृति एक नये रूप में उपस्थित हुई जिसमें वह भी एकांगी होकर यूनानी संस्कृति से सर्वथा विपरीत दिशा में जाती हुई दिखाई पड़ा। जब बुद्ध और महावीर की शिक्षा, ईसाई धर्म के रूप में, यूनानी संस्कृति से प्रभावित योरप में फैली, तब दैनिक आचार-व्यवहार से उसे असम्बद्ध देखकर स्वभावतः वहाँ लोगो ने कहा कि धर्म पृथक् वस्तु है और दैनिक आचार-व्यवहार उससे सर्वथा पृथक् वस्तु। इस विचार-धारा ने एक ओर स्वच्छन्द बनाकर भोग-भावना की वृद्धि की, दूसरी ओर व्यक्ति में महान् अपराधी

होने की धारणा उत्पन्न करके उसे प्रचण्ड भय से विचलित भी कर दिया। पोप का राज्य-संचालन के लिए अधीर होकर संघर्ष करना, जन-साधारण का मुक्ति के प्रमाण-पत्र खरीदकर जघन्य अपराधो से मुक्ति की आशा करना—धर्म के नाम पर यह सब कुकृत्य अंधकार-ग्रस्त योरप में ही संभव हो सका। इस बीच विज्ञान योरप की सहायता के लिए पहुँचा; वैज्ञानिक अनुसंधान हुए, औद्योगिक क्रांति हुई; पूँजी-वाद, साम्राज्यवाद आदि की वृद्धि हुई। मनुष्य-ही-मनुष्य के लिए दानव हो गया। समूचे एशिया ने योरप के लिए एक आखेट-स्थल होने का रूप धारण कर लिया, मुसलमानी शासन से जैसे-तैसे मुक्त होने वाला भारत 'आकाश से गिरा खजूर पर अटका' वाली कहावत चरितार्थ करता हुआ अँगरेजों के चंगुल में फँस गया।

बुद्ध और महावीर की शिक्षाएँ मनुष्य को ऊँचे धरातल पर ले जाने के लिए थी; स्वाभाविक रीति से वहाँ न पहुँचने पर उसके मन का प्रतिक्रिया के अधीन होना उचित ही था। सम्राट् हर्षवर्धन के स्वर्गारोहण के अनन्तर इस प्रतिक्रिया ने विक-राल रूप धारण किया। प्रचंड हिंसा-भाव में आक्रान्त होकर भारतीय राजे-महाराजे एवं जन-समूह आपस में लड़ने और विदेशी आक्रमणकारियों को सफल बनाने वाले घातक अवसर देने लगे। इस प्रतिकूल वातावरण में भी भारतीयों का क्षात्र-धर्म, शरणागत-संरक्षण, दुर्बल पर अत्याचार करनेवाले के प्रति दण्ड-विधान चलता ही रहा, समाज में सद्भाव की आराधना के लिए प्राणोत्सर्ग, उच्च चरित्र आदि का मूल्य बना ही रहा, जिससे भारतीय संस्कृति ने आहत होकर भी दम नहीं तोड़े। लेकिन इंग्लैंड के शासन एवं योरोपीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर उसने भी यह अनुभव किया कि अब जो चोट लग रही है, शायद उसे वह सभाल नहीं सकगी। अरस्तू के 'करुणा और भय' वाले सूत्र को ताक पर रखकर, तथा व्यापारवाद, सर्वापहरणवाद आदि से अटूट सम्बन्ध जोड़कर चलने वाली योरोपीय संस्कृति ने भारतीय संस्कृति को कण्ठ-गत-प्राण बना दिया। भारतीय समाज की यह दुर्बलता कही जायगी कि अहिंसा के एकांगी सिद्धान्त के सेवन के कारण वह भारतीय संस्कृति के उस शक्तिवर्द्धक सिद्धान्त की रक्षा न कर सका जो बुद्ध के अवतरण के बहुत पूर्व, महाकाव्य-काल से भी बहुत पहले, अहिंसा और हिंसा के सुन्दर समन्वय के रूप में प्रकट हुआ था और जिसे आज भी भारतीय संस्कृति का प्रधान लक्षण मानना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि सर्वापहरण-शीला, सर्वग्रास-कारिणी, स्वार्थ-साधन-परा-यणा तथा वैयक्तिकता एवं पार्थक्य-प्रसारिणी योरोपीय संस्कृति से अधिक मात्रा में विश्व-कल्याण होने की आशा है, अथवा परार्थ-चिन्तनपरा, परकल्याणपोषिणी, आत्मोत्सर्गमयी भारतीय संस्कृति से; जो करुणा और क्रोध दोनों ही को हृदय में

धारण करके चलती है ? आत्म-विकास की भौतिक धारणा को ग्रहण करके योरपीय संस्कृति ने दो पड़ोसियों के बीच में जो गहरी खाई खो दी है, 'उसकी पूर्ति अणु-बम और हाइड्रोजन बम से न हो सकेगी, और भी भयंकरातिभयकर अस्त्रों के आविष्कार से भी उसका उदर-भरण संभव न होगा, क्योंकि वास्तव में शान्ति का वह मार्ग ही नहीं है, उससे विश्व का पोषण होने के स्थान में विश्व का संहार हो जायगा। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जो संस्कृति हमें जीवन-रस से रिकत एकान्त विनाश की मरुभूमि की ओर ले चलती है, उसे संस्कृति कहना व्यर्थ है, वह तो अनुचित रूप से भौरवान्वित पशुत्व की प्रवृत्ति की ओर हमारा सहसा पतन ही है। प्रत्येक सहार के बदले में हमें एक निर्माण का आश्वासन मिलना ही चाहिए, प्रत्येक शिशिर के पतझर के अनन्तर द्रुमों का नये दलों द्वारा वासन्तिक अलकरण होना अनिवार्यतः आवश्यक है। उक्त प्रश्न का क्या उत्तर होना चाहिए, इन सभी बातों पर विचार करके इसका निर्णय हम सहज ही कर सकते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि योरपीय संस्कृति की एक भुजा रूस में तथा दूसरी भुजा अमरीका में फैली हुई है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि रूस वाली भुजा में अमरीका वाली भुजा की अपेक्षा पराक्रम, श्रम, त्याग की अधिक नियोजना है। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मूलतः ये दोनों भुजाएँ एक ही शरीर की हैं और उस शरीर के भीतर जो अन्तरात्मा बैठी हुई है, वह अत्यन्त अतृप्त है, अत्यन्त भूखी और प्यासी है। कार्ल मार्क्स ने पूँजीवाद से व्यक्ति की रक्षा करने का प्रयत्न तो किया, किन्तु क्या एक सामूहिक तंत्र की दासता में उसे आबद्ध नहीं कर दिया ? आत्म-नृप्ति, आत्म-परिपूर्ति से प्रसूत जिन सेवाओं से व्यक्ति अपनी प्रगति का अनुभव करता है, उन्हींको सामूहिक तंत्र के आदेश से करने के लिए बाध्य होकर हार्दिक सस्पर्श के अभाव में क्या वह सूनोपन से पीड़ित कार्य-कलाप मात्र न समझेगा ? इस प्रकार जब व्यक्ति का विकास-पथ अवरुद्ध हो जायगा तो क्या कभी अर्द्धविकसित व्यक्तियों के कुचले हुए व्यक्तित्व का प्रभाव सामूहिक तंत्र के व्यक्तित्व पर न पड़ेगा ? और कालान्तर में क्या यह सामूहिक तंत्र, अपने शरीर के भीतर विकार का अनुभव कर के शीर्षासन करने के लिए विवश न होगा ? क्या उस परिस्थिति में व्यक्ति और समाज का अधिक सुन्दर, अधिक टिकाऊ और अधिक प्रेमपूर्ण सामंजस्य खोज निकालने के लिए हमें सन्नद्ध न होना पड़ेगा ? योरपीय संस्कृति की इस दाहिनी भुजा पर हमें इतना विश्वास और गर्व है कि हम अपने समाज पर उसके सिद्धान्तों का प्रयोग करते समय क्षण-भर भी यह नहीं सोचते कि योरप की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भारत की धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों से नितान्त भिन्न रही हैं। इस सम्बन्ध में हमें सावधान रहने की

आवश्यकता है, क्योंकि यह निश्चित है कि यह दाहिनी भुजा पुरुषार्थ-साधन के, प्रगतिजील आधारी को त्यागने पर काल के शराधान से कटकर इतनी दूर जा गिरेगी कि इतिहास के पृष्ठों के अतिरिक्त वह अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं पड़ेगी।

यदि दाईं भुजा का यह हाल है तो बाईं भुजा कितनी उपयोगिनी हो सकेगी, उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था से शब्द ग्रहण करे तो कह सकते हैं, कि यदि साम्यवाद क्षत्रिय है तो अमरीकी पूँजीवाद वैश्य है, जिसने पैसों की सर्वोपरि स्थान दे दिया है। प्रेम, क्षमा, करुणा आदि ब्राह्मणोचित गुणों के नियंत्रण को न स्वीकार करके योगपीय संस्कृति के ये दोनों वर्ग उस प्रकार के मयत, पर-मेवा-नियोजित क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का भी प्रतिनिधित्व नहीं करते, जिस प्रकार के क्षत्रियत्व और वैश्यत्व का सन्निवेश वर्ण-व्यवस्था में मान्य है। जीवन में जिसका द्वितीय स्थान होना चाहिए, उसे कालमावर्त और उनके अनुयायियों ने प्रथम स्थान दिया है और जिसे तृतीय स्थान मिलना चाहिए उसे पूँजीवाद के प्रवर्तकों ने अग्रमान्य और प्रथम प्रणाम-योग्य घोषित किया है। वर्ण-व्यवस्था का उपहास करना सरल है, जातिवाद की जननी बनाकर उसे निदानीय ठहराना आसान है, किंतु उसमें जीवन का जो सत्य निहित है, विश्व-शांति की समस्या का जो समाधान गर्भित है, उसकी अवज्ञा नहीं की जा सकती। किंतु यहाँ इस बात को भी न भुला देना चाहिए कि जिस रूप में हम कालमावर्त की विचार-धारा या तथा अमरीकी पूँजीवादी सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है, उस रूप में न वर्तमान भारत भारतीय संस्कृति द्वारा अनेमोदित वर्ण-व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है और न शरणागत अथवा दुर्बल के संरक्षण-मिद्धान का, आज तो वह अमरीकी की वर्ण-संस्कृति को मुग्ध दृष्टि से देख रहा है, क्षात्र धर्म का उसमें अभाव हो गया है और ब्राह्मणत्व की ऊँचाइयों पर चढ़ना तो अब उसके लिए असंभवप्राय हो रहा है। सब बातों पर विचार करके यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारतीय संस्कृति अब केवल हमारे प्राचीन ग्रन्थों के पृष्ठों में सुरक्षित है, हमारे दैनिक जीवन में अब वह बहुत दूर पड़ गई है और जिस स्तर पर हम आज हैं वह शून्य का स्तर ही कहा जा सकता है, क्योंकि बल के प्रयोग के बिना हम कोई भी कर्तव्य-पालन नहीं करते, यदि स्वेच्छा से हम कुछ करते भी हैं तो अपनी इच्छा को सक्रिय बनाने के लिए हमें धूम चाहिए। अपने जीवन के क्षण-क्षण में हम करुणामयी भारतीय संस्कृति के निर्देशों का उल्लंघन करते चलते हैं।

एक समय था जब भारतीय संस्कृति की बौद्ध शाखा सम्पूर्ण एशिया में फैली थी, यही नहीं उसके संदेश की गूँज योरोप के देशों तक पहुँच गई थी, उसमें आर्त्त मानव-ममाज के हृदय को ज्ञान के सच्चे प्रकाश में प्रकाशित करने की कामना थी,

उस समय विश्व-संस्कृति के उच्च पद पर आरूढ़ होने की उसमें शक्ति थी और विश्व ने उसका स्वागत भी किया था । किंतु उसमें अतर्निहित एकपक्षीयता ने कालान्तर में उसकी अपूर्णता को प्रकट कर दिया और पौगणिक समन्वय को स्थान देकर उसे स्वदेश से निर्वामित होना पड़ा । यह स्मरण रखना चाहिए कि निर्दोष-से निदाप विचार-धारा भी काल के आक्रमण से आहत हुए बिना नहीं रह सकती और यदि बौद्ध धर्म मकट-ग्रस्त हुआ तो यह कोई अतर्होनी बात नहीं थी । आज के समय में जब भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और विचार-धाराओं के प्रचारक अपनी सफलता के लिए तरह-तरह के छल-छद्मों का आश्रय ले रहे हैं, बौद्ध प्रचारकों की उच्च मदाशयता और निस्स्वार्थता की कल्पना नहीं की जा सकती ।

जिन विचार-धाराओं में सेवा-भाव के प्रदर्शन के साथ-साथ हल्की श्रणी की गुप्त स्वार्थजन्य सूचीर्णताएं भी विद्यमान हैं, जो सर्वथा युक्त सम्पूर्ण विश्व के प्रति पोषण-भाव से युक्त न होकर शोषण-प्रवृत्ति में पीडित हैं, वे कितनी भी आकर्षक और मोहक होकर क्यों न आवें, विश्व-संस्कृति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती । इसलिए यह सोचना कि आज की अथवा निकट भविष्य की विश्व-संस्कृति का उद्गम-स्थल रूस अथवा अमरीका में है, भ्रांति के पथ पर चलना है । जिन विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व इनके द्वारा किया जा रहा है, उनका जब तक सम्कार न कर लिया जायगा, तब तक उनमें से किसी भी एक का विश्व-संस्कृति के रूप में मान्य होना तो दूर की बात, विश्व-संस्कृति की अंगीभूत संस्कृति के रूप में भी उसकी प्रामाणिकता स्थापित नहीं की जा सकेगी ।

किन्तु यदि कालेमावर्स के साम्यवाद का सम्कार किया जा सके—जो मिद्वान्तगत विशिष्टताओं के कारण प्रायः असम्भव है—तो अहिंसा में समन्वित होकर वह विश्व-संस्कृति के निकट पहुँच जायगा । इसी प्रकार यदि पूँजीवाद में भी मजोदर किया जा सके—जो योग्य और अमरीका की अर्थ-पैशाचिकता को देखते हुए अत्यन्त कष्ट-साध्य जान पड़ता है—तो पूँजीवाद भी विश्व-संस्कृति की मर्गत में स्थान पा सकेगा । लेकिन वास्तविक विश्व-संस्कृति के दशन तो हमें तभी मिलेंगे जब जीवन में चारित्र्य-बल की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार कर ली जायगी और उसकी अधीनता में अनुशासित होकर सैनिक-बल, अर्थ-बल और देह-सेवा-बल अपना-अपना उचित स्थान ग्रहण करेंगे । भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर हम विचार करेंगे तो वह इसी विश्व-संस्कृति के साथ मेल खानी हुई दिखाई पड़ेगी, उक्त विश्व-संस्कृति और भारतीय संस्कृति को हम एक-दूसरे में सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं । इस प्रकार विश्व-संस्कृति के उच्च पद पर बैठने के लिए आतुर एक ओर आज की पाश्चात्य विचार-धाराएं और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति, आमने-सामने विरोधियों

के रूप से खड़ी दिखाई पड़ रही है और हमसे अनेक संकीर्ण दृष्टि वाले लोग भारतीय सस्कृति की संकुचित, निर्जीव, शिथिल, पराजित रूप में कल्पना करके उक्त विचार-धाराओं में से ही किसी एक को प्रश्रय दे रहे हैं। ऐसे लोगों के लिए यदि भारतीय सस्कृति उपहास की सामग्री बन जाती है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिनकी आँखों पर अज्ञान का पर्दा पड़ा है, उनकी सभी क्रियाएँ उलटी होनी ही चाहिए।

भारतीय सस्कृति का जो स्वरूप हमारे प्राचीन ग्रंथों में निरूपित हुआ है, उसका उत्तराधिकार-मात्र कोई ऐसी चीज नहीं है जिस पर हम गर्व कर सकें और संसार उम्र गर्व को सहन कर सके। महत्ता तो उसीको प्राप्त होगी जो उस रूप को हृदयगम करे और दैनिक जीवन में उतारे। वास्तव में हमें सामूहिक रूप से ऐसी शक्ति नहीं है कि भारतीय सस्कृति को हम उसके उन्नित गौरव के मंद पर स्थापित करें—यद्यपि हमसे महात्मा गांधी और अरविंद घोष-जैसे महान् व्यक्ति प्रादुर्भूत होकर उसके गौरव को झलक दिया करते हैं। यदि भविष्य में इस सामूहिक शक्ति उदय भी कभी होगा तो रूस और अमरीका-जैसे देशों में ही होगा और वही से का प्रतिक्रिया प्राप्त करके भारत भी उससे सम्पन्न बनेगा। भारत की यह दास-मनोवृत्ति अत्यन्त शोचनीय है, जिसके कारण वह अपनी ही वस्तु के महत्त्व को तब तक आँकने में असमर्थ हो रहा है और होता रहेगा जब तक पाश्चात्य-जगत् से उसे नेतृत्व न प्राप्त हो जाय।

भारतीय सस्कृति का उदय भारत में हो अथवा पाश्चात्य देशों में हो, यह निश्चित है कि वह अनन्त काल तक प्राचीन ग्रंथों के पृष्ठों ही में पड़ी नहीं रह सकती, उसे मानव के दैनिक जीवन में ढलकर अपनी सार्थकता प्राप्त करनी ही होगी। जो हो, अनिश्चित काल में आने वाले उस स्वर्ण-प्रभात के आगमन की प्रतीक्षा में आज की तथाकथित विश्व-सस्कृति के साथ, भारत के तपोवनों में एक-मात्र विश्व-हित की साधु कामना से प्रेरित महर्षियों के चिन्तन से उत्पन्न होने वाली भारतीय सस्कृति का मौन सघर्ष चलता रहेगा और जैसे सभी प्रतीक्षाओं का अन्त हुआ है वैसे ही कभी न-कभी इस प्रतीक्षा का भी अंत होकर रहेगा; कभी-न-कभी भारतीय सस्कृति अपने पावन सस्पर्श से विश्व के दैनिक जीवन का धन्य बना देगी।

सत्रह ::

:: इन्दुमती

‘इन्दुमती’ हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविन्ददास का एक उपन्यास है। विचार-धारा और औपन्यासिक कला—दोनों ही की दृष्टि में यह उपन्यास हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में अद्वितीय है। दोनों ही का सामंजस्य करने वाली जिस नवीन लेखन-शैली को उन्होंने ग्रहण किया है, उसके सम्बन्ध में यह सहज ही कहा जा सकता है कि वह उन्हींकी चीज है, हिन्दी में वे ही उसके आविष्कारक हैं और वे ही अनुयायी भी। हिन्दी में उक्त शैली का अनुकरण और प्रचार होगा अथवा नहीं, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती, किन्तु यदि वह सम्भव हो तो औपन्यासिक कला की उससे अधिक सुन्दर, स्वस्थ और समाजोपयोगी नियोजन की कल्पना नहीं की जा सकती। निस्सन्देह उसके लिए अधिक अध्ययन, अधिक मयम, अधिक समाज-हित-कामना की आवश्यकता है।

‘इन्दुमती’ में आरम्भ ही में हम देखते हैं कि हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित हैं—(१) भारतीय व्यक्ति की वाह्य स्वाधीनता का प्रश्न; (२) भारतीय व्यक्ति की मानसिक स्वाधीनता का प्रश्न। यह उपन्यास इन्हीं दोनों प्रश्नों को लेकर चला है। उसने इन दोनों को पृथक्-पृथक् करके नहीं, अन्योन्य-सम्बन्धित रूप में दिखाया है। इस उपन्यास की नायिका ‘इन्दुमती’ के जीवन को हम समझ ही नहीं सकेंगे यदि भारतीय स्वतंत्रता के लिए किये जाने वाले राजनैतिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में रखकर वह न देखा जाय। राजनैतिक कारणों ही से कारावास-सेवन के लिए विवश होने वाले उसके पति ललितमोहन का स्वास्थ्य बिगड़ा; जिसके परिणाम-स्वरूप इन्दुमती को वैधव्य भोगना पड़ा और उन परिस्थितियों से आक्रान्त हो जाना आवश्यक हो गया, जिन्होंने उसके वैयक्तिक चरित्र को एक विशेष सॉंचे में ढाल दिया। राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन उसके मनोरंजन के साधन बने, कही श्री आम्बिका-चरण मजूमदार की लम्बी दाढ़ी, कही लोकमान्यतिलक का छोटा-सा तिलक, कही महात्मा गांधी की काठियावाड़ी पगड़ी, जिसे वह मोटे रस्से-जैसी समझती थी,—ये सब उसकी कल्पना को गुदगुदाते रहे। हँसने के बाद रोना और चिंतित होना प्रकृतिसिद्ध है; वह इस नियम के लिए कोई अपवाद-स्वरूप न हो सकी। अपमान, अपयश,

लाछना—सभी कुछ सहन करती हुई वह निजी एव सार्वजनिक जीवन में प्रगतिशील हुई और जब उसका घर में रहना असम्भव हो गया तब भारत-भ्रमण और विश्व-दर्शन के लिए भी वह चल पड़ी ।

जैसे भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम से असम्बद्ध करके हम इन्दुमती की जीवन-धारा को नहीं समझ सकते, वैसे ही भारतीय व्यक्ति की मानसिक स्वाधीनता-सम्बन्धी हलचल से भी अलग करके हम उसे हृदयंगम नहीं कर पायेगे । जैसे भारतीय स्वतंत्रता की सिद्धि कांग्रेस के सन् १९१६ वाले लखनऊ-अधिवेशन में, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य सम्पन्न समझौते द्वारा झलकी थी, वैसे ही बहुत दिनों के मति-भ्रम के अनंतर इन्दुमती ने अपने जीवन के अपराह्न में डाक्टर त्रिलोकीनाथ से मानसिक मुक्ति का जो संदेश प्राप्त किया, वह बीज रूप में उसके पिता अवध-बिहारी लाल द्वारा उसकी माता सुलक्षणा के सामने सन् १९१५ में प्रस्तुत किया गया था, जब उसकी उम्र सोलह वर्ष से अधिक नहीं थी । अवध बिहारी लाल ने कहा था .

“विश्व में निज का व्यवित्तव ही सब-कुछ है । जो अपने को ही केन्द्र मान सब-कुछ अपने लिए करता है, संसार की सस्तर वस्तुओं को अपने आनन्द के लिए साधन मानता है, उसीका जीवन सुखी और सफल होता है ।”

अपने इसी मत के अनुसार अवध बिहारी लाल ने अपनी कन्या का लालन-पालन किया, जिससे उसकी उच्छृंखलता, स्वेच्छाचारिता अंकुरित होकर उत्तरोत्तर वृद्धिशील होती चली । निरकुश आचरण करने वाली यह लड़की प्रत्येक व्यक्ति को ‘भुनगे के समान’ समझती थी; कालेज के सोशल गैदरिंग में वह पुरुष सहचर के साथ तीन पैर की दौड़ में सम्मिलित हुई; उसने नाटक में अभिनय किया, जाति पाँति का बंधन तोड़कर विवाह किया और सतानोत्पादन के लिए वैज्ञानिक पिचकारी द्वारा गर्भस्थापन कराने में भी किसी प्रकार के सकोच को हृदय में स्थान नहीं दिया । अपनी वासना के वशीभूत होकर उसने एक काले, कुरूप, निरक्षर व्यक्ति के साथ असफल प्रेम किया और उद्वण्ड मनोवृत्ति के अधीन होकर एक हिज हाइनेम को चाँटा मारा तथा एक गोस्वामी को लात । अवधबिहारी लाल के सिद्धान्त के मूल में जो कुछ भ्रम छिपा हुआ था वह इन्दुमती के आचरण में अपने सम्पूर्ण प्रसार के साथ मूर्तिमान दिखाई पड़ा । इन्दुमती अपने मित्र डाक्टर त्रिलोकीनाथ से स्पष्ट रूप में स्वीकार करती है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति में इतनी दत्तचित्त होने पर भी उसे शांति नहीं मिली, वह सुखी नहीं हो सकी । इस प्रकार अवधबिहारीलाल की लड़की ही अपने समस्त जीवन के अनुभव को लेकर उनके सिद्धान्त का खण्डन करती है ।

सन् १९१६ और सन् १९४७ के बीच भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के अनेक मार्मिक सकट-स्थल आए, किन्तु वह कभी गम्भीरता पूर्वक अग्नि के इतने निकट नहीं गई कि उसे आँच लगे। वह तितलियों की तरह एक फूल से दूसरे फूल पर उड़ती ही रही, कहीं स्थिर नहीं हुई। अपने मन के विश्राम के लिए वह कभी एक केंद्र पर गई, कभी दूसरे केंद्र पर, किंतु उसे कहीं विश्राम नहीं मिला। अपनी जिम मानसिक स्वाधीनता को उसने परम प्रिय समझा, उसकी किसी भी अभिव्यक्ति को, उसके किसी भी स्वरूप को उसने अन्तिम नहीं माना। किसी भी सतोषजनक निश्चय पर वह पहुँच नहीं सकी। इसमें स्पष्ट है कि उपन्यास के भीतर इन्दुमती ने किसी भी प्रसंग में जो कुछ भी कहा है, वह विश्वसनीय नहीं है। उमका अनुगमन करने से कोई बात स्थायी रूप से हल नहीं हो सकती। वह स्वयं भी अपने ही एक विश्वास को त्यागती तथा दूसरे विश्वास को ग्रहण करती चली है। उसी के शब्दों में सुनिए :

“मैं पत्नीत्व में विश्वास न करती थी, इतने पर भी मैंने विवाह किया, मुझे मातृत्व में भी विश्वास न था पर मैं देखती हूँ कि बिना बच्चे के मेरा सारा जीवन नीरस।”

अपनी माँ सुलक्षणा को फटकारती हुई वह जब आत्म-प्रशंसा करने लगती है, तब भी उस पर विश्वास नहीं होता, उल्टे उसके विरुद्ध अश्रद्धा की भावना उत्पन्न होती है। उसके निम्नलिखित उद्गार द्रष्टव्य हैं :

“मोटर पर जाती हूँ, मोटर पर आती हूँ, ड्राइवर और वजीरअली मेरे साथ रहते हैं, यद्यपि रात को बारह और दो बजे अकेले श्मशान में जाने की भी मैं हिम्मत रखती हूँ। मैं सभ्य हूँ। सुसंस्कृत हूँ। खेल के बीच में से उठकर नहीं आ सकती। जो ईश्वर कही नहीं, उस पर तुम्हारा विश्वास हो सकता है। फिजूल का यह पूजा-पाठ तुम कर सकती हो।”

इन्दुमती के प्रति इस अश्रद्धा का विकास लेखक की लेखनी का चमत्कार है। उपन्यास का मूल संदेश उसके पास नहीं है, उसका अधिकारी कोई अन्य व्यक्ति है—इसका परिचय हमें क्रमशः मिलने लगता है। यहाँ हमारे लिए ज्ञातव्य हो जाता है कि वह कौन पात्र है जो उपन्यासगत सत्य का नायकत्व करता है, जिसमें उपन्यास की कला अपनी सिद्धि प्राप्त करती है। इस सम्बन्ध में चार व्यक्तियों का नाम लिया जा सकता है—

(१) ललितमोहन, (२) वजीरअली, (३) वीरभद्र, (४) डाक्टर त्रिलोकी-नाथ। ललितमोहन इन्दुमती का पति था, वजीरअली एक विश्वस्त साथी और धर्म-बन्धु था, वीरभद्र प्रेम-पात्र था, जिसके प्रति प्रणय-मग्न होकर इन्दुमती सर्वथा निर्लज्ज

हो गई और डाक्टर त्रिलोकीनाथ वह व्यक्ति था, जिसके सहयोग से वैज्ञानिक पिचकारी के द्वारा इन्दुमती ने गर्भाधान कराया ।

यह उपन्यास जिन दो उपर्युक्त प्रश्नों को लेकर चला है, उनमें से केवल एक—अर्थात् भारतीय स्वाधीनता-सघर्ष को लेकर ही ललितमोहन कुछ दूर तक चल सका है । द्वितीय प्रश्न अर्थात् भारतीय व्यक्ति की मानसिक स्वाधीनता की समस्या को वह अछूता छोड़ गया है, यही नहीं, यह कहना अधिक सही होगा कि उसने अपनी मृत्यु द्वारा इन्दुमती को इस समस्या के सिन्धु-प्रवाह में धक्का देकर गिरा दिया है और वह सकल्प-शक्ति-शून्य होकर लहरो के थपेड़े खाती हुई वहीं है । ऐसी अवस्था में यह कहना कि उपन्यास का सत्य ललितमोहन के पास है, उचित नहीं होगा । वजीरअली एक साम्यवादी कार्यकर्ता है और उसकी इतनी ही सफलता है कि वह इन्दुमती को कुछ परिस्थितियों के यथार्थ वातावरण में पहुँचा सका है, अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि वह प्रथम प्रश्न की परिधि के भीतर इन्दुमती को कुछ अधिक क्रियाशील बना पाया है । वीरभद्र कुलियो का एक निरक्षर 'मेट' है, वह असमयशील होने पर भी इन्दुमती की दुर्बल प्रवृत्तियों के प्रहार से अपनी रक्षा कर सका, इस सामर्थ्य के लिए ही वह बहुत प्रशंसनीय है, इससे अधिक की क्षमता ही उसे प्राप्त नहीं है । इन तीनों के विपरीत डाक्टर त्रिलोकीनाथ का व्यक्तित्व ऐसे तत्त्वों से निर्मित है, जिनमें इन्दुमती के प्रबल रोग का उपचार करने की शक्ति है । वह एक गम्भीर और स्पष्टवादी व्यक्ति है, इसका पता हमें आरम्भ ही में लग जाता है, जब इन्दुमती के चाहने पर भी उसने उससे अपने हाथ में राखी नहीं बँधवाई ।

डाक्टर त्रिलोकीनाथ ने इन्दुमती से राखी नहीं बँधवाई तो इसके लिए उस के सामने उचित कारण थे । वह मन-ही-मन इन्दुमती के रूप से आकर्षित होकर उसे चाहने लगा था । किन्तु उसका प्रेम मुखर नहीं था । किसी वस्तु की इच्छा होने पर इन्दुमती में जैसी व्याकुलता आ जाती थी, वह उसे प्राप्त करने के लिए जिस तरह हाथ धोकर पीछे पड़ जाती थी वह व्याकुलता और वह आतुरता उसमें नहीं थी—इन्दुमती के विवाह कर लेने पर भी नहीं, उसके विधवा होने पर भी नहीं, उसके गर्भ-धारण के अनन्तर भी नहीं ।

अपने इस मानसिक रोग से परेशान होकर उसने एक विचित्र साधना-पद्धति को अपनाया; उसने इन्दुमती को सम्पूर्ण विश्व में तथा सम्पूर्ण विश्व को इन्दुमती में देखने का अभ्यास बढ़ाया, जिससे वह स्वयं को भी उसमें प्राप्त करके अभेद-भावना का अनुभव कर सका । इसी अभेद-भावना का उपदेश डाक्टर त्रिलोकीनाथ ने इन्दुमती को दिया जब वह शशिवाला का नाम धारण

करके अमरीका की सैर समाप्त करने के अनन्तर डाक्टर त्रिलोकीनाथ से मिली, और फिर भी प्यासी ही बनी रह गई, अनन्त वासनाओं के प्रहार से आहत ही होती रही।

मनुष्य जीवन को सुखी और सफल बनाने के सम्बन्ध में इन्दुमती के पिता वकील अवधबिहारीलाल के मत का उल्लेख किया जा चुका है। डाक्टर त्रिलोकीनाथ का कहना है कि उक्त कथन में उस अवस्था में कोई अनौचित्य नहीं है, जबकि व्यक्ति अपने को केन्द्र मानकर ससार की समस्त वस्तुओं को अपने आनन्द का साधन समझने के साथ-ही-साथ अभेद-भावना को हृदय से दूर न जाने दे। अवध-बिहारीलाल की उक्ति में सब-कुछ है, किंतु अभेद-भावना की कोई चर्चा नहीं है। उस उपन्यास के पूर्ववर्ती छोर पर अवधबिहारीलाल हैं और अन्तिम छोर पर डाक्टर त्रिलोकीनाथ; अभेद-भावना पर आग्रह व्यक्त न करके अधबिहारीलाल ने उपन्यास को जीवन प्रदान किया और अभेद-भावना पर विशेष बल देकर त्रिलोकीनाथ ने उन भावों के लिए मरहम प्रस्तुत कर दिया जो मृग-जल द्वारा प्यास बुझाने के लिए प्रयत्न करने वाली, अभेद-भावना से सर्वथा शून्य इन्दुमती के हृदय में हो गए थे।

जिस औषधि द्वारा इन्दुमती का मानसिक उपचार-विधान डाक्टर त्रिलोकीनाथ ने किया उससे भारतीय व्यक्ति की मानसिक स्वाधीनता की सिद्धि क्यों मानी जाय, यह भी पूछा जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखने योग्य है कि इन्दुमती में केवल उतनी ही वासनाएँ और दुर्बलताएँ नहीं थी, जितनी प्रायः प्रत्येक मानव में संभव है, उनमें से कुछ ऐसी भी थी जो आधुनिक कालीन वातावरण की उपज थी—वह वातावरण जिसमें शिक्षित भारतीय पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनुसंधानों का अन्ध दास हो गया है और उच्चतर भारतीय दर्शन को भुलाने की चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार इन्दुमती उस भारतीय व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती है जो योरोपीय ज्ञान-विज्ञान से आक्रान्त होकर हीनता की भावना धारण करने के लिए विवश हुआ है। डाक्टर त्रिलोकीनाथ की व्याख्या से इस विजित व्यक्ति की मुक्ति इन्दुमती की मानसिक मुक्ति की अनुगामिनी हो जायगी, क्योंकि उक्त व्याख्या में, अभेद-भावना के निर्देश में, वेदान्त को समझाने के लिए पश्चिमीय विज्ञान की भाषा का प्रयोग किया गया है।

अब रही यह बात कि डाक्टर त्रिलोकीनाथ के उपचार में केवल द्वितीय प्रश्न का समाधान है या प्रथम प्रश्न का उत्तर देने का भी उसमें प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में विचार करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय स्वाधीनता का प्रश्न विकृत वासनाओं से आक्रान्त युवकों-युवतियों द्वारा न हल किया

जा सका है और न किया जा सकेगा। जब सम्पूर्ण भारत एक यज्ञ-कुण्ड-सा हो गया था, जिसमें मूल्यवान्-से-मूल्यवान् जीवनो की आहुति पड़ रही थी, उस समय भ्रम क्या एक विशाल संख्या उन लोगों की नहीं थी जो केवल अपनी विलासिता की प्रवृत्ति को पुष्ट कर रहे थे ? अभेद-भावना का उपदेश क्या उनके लिए भी उनमें ही उचित और उपयोगी न सिद्ध होगा जितना उचित और उपयोगी वह मानसिक रोग में ग्रस्त इन्दुमती के लिए हो सकता है ? सच बात तो यह है कि मानसिक व्याधि के शमन का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों ही प्रकार के कर्म के लिए उपयुक्त हो सके। इस प्रकार हम देखेंगे कि उपन्यास-निर्मित समस्त बाधा को निवारण में समर्थ प्रकाश हमें डाक्टर त्रिलोकीनाथ से मिला है। अतः वही इस उपन्यास का नायक है।

जो कुछ यहाँ कहा गया है उसे ध्यान में रखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लेखक ने इन्दुमती के रूप में उस समस्त सामग्री को साकार रूप दिया है, जिसकी उसे आलोचना करनी है और जो उसे प्रचुर परिमाण में भारतीय समाज में दिखाई पड़ी है तथा उस आलोच्य सामग्री के सशोधन के लिए उसने अभेद-भावना का निर्देश किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी इस सिद्धांत पर जितना भी बल दिया जाय, आवश्यकता को देखते हुए वह न्यून ही प्रमाणित होगा।

अपनी ओजस्विनी विचार-धारा को लेखक ने जिस कलात्मक ढंग से सजाया है, चंचल, अतृप्ति-पीडित नायिका को प्रबुद्ध नायक के अधीन करके उसे प्रगति के लिए जिस प्रकार प्रेरित किया है, वह उसकी चित्रात्मक शैली के कारण अधिकाधिक सूक्ष्म एवं सौन्दर्य सम्पन्न हुआ है। एक-एक पात्र के अत्यन्त निकट और विस्तृत चित्रण में इस समन्वित शैली का दर्शन किया जा सकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रक्तियाँ देखिए :

‘नाचने की वजह से बाई जी को पेशवाज तो पहनना ही पड़ा था, गरमी के कारण बड़ा हलका सा पेशवाज; और उस पर काम था लखनऊ की प्रसिद्ध मुनहरी कामदानी का। आभूषण भी वह धारण किये हुई थी, सिर पर दाढ़ी और लड़ियों वाली भूमर, कानों में कर्ण फूल और लम्बे-लम्बे भुमके, गले में वक्षस्थल तक फैला हुआ हार, भुजाओं पर भुजबंद, हाथों पर घनी चूड़ियाँ, उँगलियों में अँगूठियाँ और अँगूठे में आरसी, लेकिन जेबरात भी मोती के हल्के-हल्के थे। तबलबी, दोनों सारंगी वाले और मंजीरे वाला सभी पूरे-पूरे छैले दोखते थे। चक्रन के कपड़े, दुपलिया टोपियाँ और तबले तथा सारंगी बांधने के रेशमी दुपट्टे। गालों में सबके पान भरे हुए और आँखों में सुरमा लगा था।’

अत मे मै फिर कहना चाहता हूँ कि 'इन्दुमती' हिन्दी मे अपने ढंग का पहला उपन्यास है और यदि उसकी परिश्रम-साध्य शैली हिंदी मे स्वीकार कर ली जाय तो उसके साहित्य और समाज दोनों का अपरिमित कल्याण हो ।

अठारह ::

:: 'अज्ञेय' जी का 'नदी के द्वीप'

हिन्दी के वर्तमानकालीन श्रेष्ठ उपन्यासकारों में श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' का नाम अग्रगण्य है। 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में वे अपनी योग्यता प्रतिष्ठापित कर चुके हैं। 'नदी के द्वीप' उन्हींकी औपन्यासिक रचना है, जिसे प्रकाशित हुए अभी थोड़ा ही समय व्यतीत हुआ है। यहाँ हम 'नदी के द्वीप' ही के सम्बन्ध में कुछ लिखेंगे।

लेखक ने इस उपन्यास का नाम 'नदी के द्वीप' क्यों रखा ? 'नदी के द्वीप' से उसका क्या तात्पर्य है ? इस सम्बन्ध में हमें कुछ प्रकाश इस उपन्यास की प्रधान नायिका 'रेखा' के उस पत्र से मिलता है जो उसने अपने स्नेह-भाजन भुवन को लिखा था (पृ० ४१६)। इस पत्र में वह कहती है :

“मैंने एक बार तुमसे कहा था, हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गढ़ती चली है, द्वीप अलग-अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुनः बनते रहते हैं। नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नई तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर उगते हुए नये द्वीप।”

'रेखा' का यह कथन बहुत ही यथार्थ है, जीवन प्रवाहित है, गतिशील है, चंचल है, विश्व में किसी का भी व्यक्तित्व इतना ठोस, इतना स्थिर नहीं है कि वह अपने भीतर आने वाले परिवर्तनों को रोक सके। इसी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने स्नेह, अपनी उपेक्षा, अपनी घृणा को कभी यहाँ, कभी वहाँ स्थापित करता चलता है।

किन्तु 'रेखा' का उक्त कथन सर्वांश में सत्य हो, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसे भी व्यक्ति संसार में हुए हैं, जिन्होंने कठोर साधना और तपश्चर्या के द्वारा जीवन के संहारक तत्त्वों पर विजय प्राप्त की, जिन्हें संसार के समस्त प्राणियों को सम्पूर्ण परिस्थितियों और रूपों को समभाव से देखने की दिव्य दृष्टि मिल गई, काल का अनन्त प्रवाह भी जिन्हें आत्मसात् नहीं कर सका है, जो युग-युग के लिए अमर हो गये हैं। निस्सन्देह 'रेखा' का लक्ष्य ऐसे द्वीपों अथवा व्यक्तियों की ओर नहीं है जो महा प्रलय में झीं अचल बने रहने का दावा रखते हैं।

रेखा का कथन वास्तव में सामान्य व्यक्तियों ही के घेरे तक सीमित है, जिसमें वह स्वयं, उसका प्रेम-पात्र ‘भुवन’, उसके प्राचीन और नवीन पति क्रमशः हेमेन्द्र और रमेशचन्द्र आदि का समावेश किया जा सकता है। मनुष्य का मन सहज ही एक सौन्दर्य-तत्त्व का उपभोग करने के अनन्तर दूसरे सौन्दर्य-तत्त्व के उपभोग के लिए लालायित हो उठता है। किन्तु इतने चंचल मन की भी जब ऐसे सौन्दर्य-तत्त्व से भेट हो जाती है जो उसकी समस्त आवश्यकताओं, उसके समस्त अभावों की पूर्ति में समर्थ होता है, जो उसका उपभोग करके भी उसे शेष नहीं कर पाता और शायद सम्पूर्ण जीवन-भर नहीं कर पायेगा, तब क्या यह नहीं कहा जा सकेगा कि ‘नये घोल’, नए अणुओं के मिश्रण, नई तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर उगते हुए नए द्वीप बनने की सम्भावनाओं से वह अपेक्षाकृत अधिक मुक्त हो गया। माना कि रेखा के लिए हेमेन्द्र एक मिटता हुआ ‘द्वीप’ ही था और रमेशचन्द्र से भी उससे अधिक विपरीत होने की आशा नहीं की जा सकती थी, परन्तु क्या यही बात भुवन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती थी? वह भुवन, जिसके प्रति अपने अनन्त, अपरिवर्तनशील अनुराग को वह स्वयं स्वीकार करती है। पृ० ४१५ पर भुवन के नाम लिखे गए एक पत्र में वह अपनी भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त करती है

“बरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलाई, उसके क्या अर्थ थे? अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी, उसके भी क्या अर्थ है? × × × मैं यही सोच पाती हूँ कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है, कि मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, तुम्हारी ही हुई हूँ, और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी। × × ये पार्थिवता के बन्धन, ये आकार, ये सूने ककाल.....महाराज ! मेरे त्रिभुवन के महाराज ! किस साज में तुम आये मेरे हृदयपुर में—और कैसे तुम चले गये मेरा गर्व तोड़कर, भूमि में लुटाकर—पर नहीं भुवन, तोड़कर नहीं, तुम्ही मेरे गर्व हो, तुम्हारे ही स्पर्श से ‘सकल मम देह-मन वीणा सम बाजे’।”

इसका अर्थ यह है कि जहाँ हेमेन्द्र और रमेशचन्द्र रेखा की जीवन-परिधि पर बिन्दु-स्वरूप हैं—ऐसे बिन्दु जिन्हें प्राप्त करके अन्य बिन्दु की खोज निरन्तर जारी रह सकती है, वहाँ भुवन इनसे भिन्न केन्द्र पर का बिन्दु है, जिसे पालने के बाद सारी-की-सारी परिधि ज्ञात और परिचित-सी होकर समाप्त हो जाती है। हेमेन्द्र से विवाह करके भी रेखा हेमेन्द्र की नहीं हुई, रमेशचन्द्र से भी विवाह करके वह उसकी नहीं हो सकी, और भुवन से विवाह न करके भी वह सोलहो आने उसकी हो गई ! मिथ्या विवाह की व्यर्थता और सच्चे प्रेम की प्रभावशालिता सिद्ध करने वाली अन्य कौन-सी बात हो सकती है? अब यहाँ प्रश्न यह खड़ा होता है कि सच्चे प्रेम की उमंग से परिचित होने के बाद रेखा मिथ्या विवाह के चक्कर में क्यों

पडी ? केन्द्र-बिन्दु को प्राप्त करके भी वह परिधि के असंख्य बिन्दुओं की खोज में क्यों चल पडी ? इन प्रश्नों का ठीक उत्तर हमें नहीं मिलता और हमें रेखा के सम्बन्ध में सन्देह होने लगता है ।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रेखा 'नदी के द्वीप' की प्रधान नायिका है, और उपन्यास में जो कुछ भी जीवन-दर्शन व्यक्त हुआ है, वह सब उसीकी वाणी द्वारा हुआ है । यह स्पष्ट है कि उसके शब्दों ही में लेखक का मत भी ध्वनित है । ऐसी अवस्था में लेखक ही से यह पूछा जा सकता है कि सच्चे प्रेम का वरदान प्राप्त करने वाली नारी को निर्माणात्मक विरह का स्वर्ग न देकर उसने रौरव नरक क्यों प्रदान किया, रेखा को उसने एक ऐसे व्यक्ति से विवाह करने के लिए क्यों विवश किया, जिसके प्रति उसके हृदय में प्रेम नहीं, श्रद्धा नहीं ? यह विवाह करके रेखा कितनी दयनीय हो गई है, पतन के कितने गहरे गर्त में गिर गई है, इसे देखिए :

“मैं भीतर मर गई हूँ भुवन, तुमसे कट कर फिर मैं कहीं भी बह जा सकती हूँ—किमी भी, बुरे-से-बुरे नर-पशु के साथ भी रह सकती हूँ । एक तुम्हीं ने मेरी जड़ित आत्मा को जगाया था—था ! और उसके बाद, उसके फिर जड़ हो जाने पर मैं पहले से बदतर मृत्यु में सहज ही जा सकती हूँ । इसीलिए सोचती हूँ, क्या वही न ठीक होगा, टूटी हुई रीढ़ वाली उस देह के लिए एक सहारा—एक छत; आत्मा की तो बात अब कौन करे ।”^१

‘रेखा’ का यह बहुत बड़ा गुण है कि वह स्पष्टवादिनी है । वह स्वीकार करती है कि उसकी रीढ़ टूट गई है और उसको एक सहारे की, एक नवीन पति की आवश्यकता है । यह सहारा किसलिए ? केवल इसलिए कि वह पति से प्राप्त आर्थिक सुविधाओं का उपभोग करे और कानूनी अधिकार से सम्पन्न सन्तानों की उत्पत्ति में लगे । इस कार्य के लिए अब वह बुरे-से-बुरे नर-पशु के साथ रहने के लिए तैयार है । आश्चर्य है कि सच्चे प्रेम का स्वाद चख लेने के बाद भी ऐसी पतित अवस्था को स्वीकार करने लिए वह कटिबद्ध है । इस अगति को सहन करने की अपेक्षा तो अधिक अच्छा यह होता कि वह अपनी चलती-फिरती लाश की अत्योष्टि क्रिया कर डालती । आत्महत्या यदि किसी परिस्थिति में मनुष्य की प्रगति की सूचक है तो वह ऐसी ही परिस्थिति है । उच्चकोटि की रचनात्मक उमंग से वंचित होकर दैहिक अस्तित्व के प्रति इतनी अधिक आसक्ति का परिचय देना ‘रेखा’ के लिए शोभन नहीं कहा जा सकता और इस प्रकार के चरित्र की सृष्टि करके केवल यही कहना काफी नहीं है कि लेखक ने हमें कुछ नहीं दिया वरन् यह भी कहना पड़ेगा कि उसने अपने इस तथाकथित कलात्मक निर्माण द्वारा सहृदय पाठक

की शक्ति का कुछ अपहरण भी किया है। इस रचना की निषेधात्मक, आसक्ति-वर्द्धिनी प्रवृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

‘नदी के द्वीप’ की प्रधान नायिका का, जिसके स्वरो में स्वर मिलाकर लेखक स्वयं बोलता है, जब यह हाल है तब अन्य पात्रों के सम्बन्ध में क्या कहा जाय ? इनमें सबसे अधिक ध्यान भुवन ही आकर्षित करता है, क्योंकि वह रेखा का प्रीति-भाजन है और अपनी अस्थिरता, परिवर्तनशीलता, उत्तरदायित्वहीनता के कारण उपन्यास के भीतर की सम्पूर्ण वेदना का सृजन करता है। ‘रेखा’ के साथ घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के बाद भी वह यह आवश्यक नहीं समझता कि उसकी स्मृति से वह स्वयं को नियंत्रित करे और अपनी शिष्या गौरा को अपनी ओर एक निर्धारित सीमा से आगे न बढ़ने दे। इस प्रकार रेखा और भुवन के एकान्त मिलन का अत्यन्त अमर्यादित चित्रण करने के अनन्तर लेखक ने जिस हल्के ढंग से दोनों ही को अन्धकूप में गिराया है, उन दोनों ही के सम्बन्धों को पावनता का संस्पर्श पाने से रोका है, उससे उपन्यास का सारा सौन्दर्य कपूर की तरह उड़ गया है। कला-कृति में यथार्थ तत्त्वों को इकट्ठा कर देने ही से काम नहीं चल सकता, उन यथार्थ तत्त्वों की आदर्शोन्मुखी परिणति भी होनी चाहिए। दो प्रेरणाओं में कौन-सी अधिक मार्मिक है, दो कर्तव्यों में से किसे ग्रहण करना प्रगतिकारक और अंगीकार करना अगतिकारक होगा—इस प्रकार का कोई भी मानसिक संघर्ष लेखक ने भुवन को नहीं दिया, उसे तो उमने ऐसा जड़ बनाया है कि उसका मलिन हृदय कीचड़-का-कीचड़ ही रह गया, कमल की उत्पत्ति करके धन्यता लाभ करने का अवसर प्राप्त ही नहीं कर सका।

रेखा सदैव ऊँचे स्वरो में बोलती है और जहाँ भी अवसर मिल जाता है, ज्ञान की बातें कहने का प्रयत्न करती है। डाल पर के ताजे फूल ही में सौन्दर्य देखना चाहिए, झरे फूल में नहीं; इसका वह निर्देश करती है। उसने जल के ताजे फूल को समर्थ प्रकृत चरित्र से तथा झरे हुए फूल को सम्यता के पोसे हुए चरित्र से उपमा देकर यह कहा है कि सम्यता का पोषण प्राप्त करके व्यक्ति चरित्रहीन हो जाता है। (पृ० १३६)। समर्थ प्रकृत चरित्र क्या है और क्या नहीं है, इसकी किसी स्पष्ट विवेचना में उसने प्रवेश नहीं किया है, फिर भी इन शब्दों से उसका संकेत ‘नग्न’, ‘शुद्ध’, अलंकारहीन’ की ओर ही जान पड़ता है। उसने कहा भी है—व्यक्ति चरित्रहीन हो जाता है, तब वह सृजन नहीं करता, अलंकरण करता है। इन साधु शब्दों के प्रकाश में यदि रेखा ने अपने ही चरित्र की समीक्षा की होती और भुवन से निराश होने पर अपने को नवीन सचरण, नवीन प्रगति प्रदान की होती तो उसके कहने और करने में संगति दिखाई पड़ जाती, किन्तु उसने तो स्वयं ही ‘समर्थ प्रकृत चरित्र’

की उपेक्षा करके नाम-मात्र का महत्त्व रखने वाले मिथ्या विवाह का आश्रय ग्रहण किया, स्वयं को सम्म्यता का आश्रित बनाया तथा इस प्रकार डल्ल पर के फूल का स्थान त्यागकर झरे हुए, त्यक्त, पद-च्युत फूल का स्थान लिया। ऐसी अवस्था में रेखा के उक्त शब्दों द्वारा लेखक ने जो सदेश व्यक्त करना चाहा है, वह बातों-ही-बातों में रह गया है, उसकी कलात्मक परिणति उपन्यास के भीतर सम्पन्न नहीं हो सकी है। सम्म्यता की निन्दा और उसका आश्रय ग्रहण करके 'टूटी हुई रीढ़ वाली देह के लिए एक सहारा' लेने की आतुरता—दोनों ही एक साथ चल नहीं सकते।

डुइ न होहि इक सग भुझालू ।

हँसब ठठाई फुलाउब गालू ॥

इस उपन्यास की भाषा भी कम विचित्र नहीं है। हिन्दी-वाक्यों के बीच अंगरेजी के अत्यन्त अपरिचित और अप्रचलित शब्दों का घड़ल्ले के साथ प्रयोग किया गया है। कुछ उदाहरण देखिए ।

(१) सब काम स्मूथली हो जाय (पृ० ३१५)

(२) मैं अब भी वैसी फुलफिल्ड हूँ। (पृ० २७६)

(३) मैं काम्प्लीमेंट्स रिटर्न करने आई हूँ। (पृ० १८६)

कहीं-कहीं तो अंगरेजी के वाक्य-के-वाक्य रख दिये गये हैं :

(१) 'यू आर रियल', आ 'एम बेरी रियल' (पृ० १७५)

(२) 'एड द स्टार्स इन हर हेयर आर सेविन' (पृ० १७४)

(३) 'दी हाउंड्स आव हैवेन एवरी ह्वेयर' (पृ० १४१)

(४) 'गाड ब्लेस यू' ।

ये थोड़े से उदाहरण हैं, किन्तु वास्तव में सारी पुस्तक अंगरेजी-वाक्यों की प्रचुरता के कारण केवल हिन्दी जानने वाले पाठक के लिए बेकार हो गई है। पृ० २१३, २८४ पर अंगरेजी कविताएँ भी देवनागरी अक्षरों में लिख दी गई हैं। अंगरेजी की शायद ही कोई ऐसी पुस्तक होगी, जिसमें हिन्दी तो दूर की बात, फ्रेंच, जर्मन, लैटिन भाषा के शब्दों और वाक्यों का इतना अधिक प्रयोग किया जाय। यह अंग्रेज हिन्दी ही में सम्भव है, क्योंकि अभाग्य हिन्दुस्तान अंगरेजों के अधिकार से मुक्त होकर भी अंगरेजी भाषा और साहित्य के अनुचित अधिकार से न अभी तक मुक्त हुआ है और न उसके शीघ्र मुक्त होने की आशा है।

कुछ विचित्र हिन्दी-प्रयोग भी देखने योग्य हैं :

(१) जीवन वहाँ जिया नहीं जाता। (पृ० ९)

(२) स्वयं पैर समेट बैठा हो गया। (पृ० १७५)

अधिक टीका-टिप्पणी करना व्यर्थ है।

उन्नीस ::

:: हिन्दी-काव्य की प्रतिक्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ

हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि हिन्दी-साहित्य का आरम्भ सम्वत् १०५० से हुआ। इस समय से लेकर संवत् १३७५ तक वीर-गाथा काल, संवत् १३७५ से लेकर स० १७०० तक भक्तिकाल और स० १७०० से लेकर स० १९०० तक रीतिकाल अथवा शृंगार काल माना गया है। इन तीनों कालों से प्राप्त प्रतिक्रियाओं से उत्तराधिकार ग्रहण करके ही हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल ने अपने स्वरूप का संघटन किया है।

हिन्दी-काव्य के आधुनिक काल को अपने पूर्ववर्ती काल से कौन-सी प्रतिक्रियाएँ उत्तराधिकार के रूप में मिली हैं? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करके ही हम आधुनिक और वर्तमान के स्वरूप को समझ सकते हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस भाषा को 'देशभाषा' अथवा 'भाषा' कहा जाता था उसीको मुसलमान कवियों ने 'हिन्दी' कहकर प्रतिष्ठित किया। स्वभावतः हिन्दी जनता की भावनाओं, उमंगों, संस्कारों आदि को व्यक्त करने का एक माध्यम बनी। राजाश्रय से वंचित होने पर भी हिन्दी फलती-फूलती रही, क्योंकि एक विशाल जनता के जीवन-मूल को अपने आँसुओं से सींचने का महान् कार्य-भार उसके ही कंधों पर था।

हिन्दी भाषा और साहित्य के उदय से बहुत पूर्व ही जन-समाज के जीवन में समन्वय का अभाव हो गया था। हिंसा और अहिंसा का समन्वय करके भारतीय चिन्तकों ने मानव-जीवन के लिए जो एक बहुत बड़ा हल प्रस्तुत किया था, वह ठीक रूप से कार्यान्वित न हो सका। यज्ञों की आड़ में जब हिंसा खुलकर खेलने लगी, तब महावीर और गौतम बुद्ध की अहिंसा उसके सामने प्रतिक्रिया के रूप में खड़ी हुई। यदि हिंसा अपनी सीमा को लॉघ गई थी तो अहिंसा भी अपने ढंग पर उससे कम नहीं प्रमाणित हुई। एकांगी होकर ये दोनों निरर्थक ही नहीं, हानिकारक भी सिद्ध होने लगी।

कबीर आदि सन्त कवियों ने जनता के भीतर फैली हुई बहुत-सी असंगतियों और विषमताओं को पहचाना और उनके संबंध में उन्होंने जो कुछ कहा उसका प्रभाव भी कुछ लोगों पर पड़ा; किंतु साकार के विरोध में निराकार पर दिये जाने वाले बल के कारण जो असंतुलन जीवन में बढ़ता जा रहा था उसकी कोई औषधि वे नहीं कर

सके। संतुलन के इस अभाव को हिंदी के प्राचीन कवियों में सबसे अधिक तुलसीदास और सूरदास ने पहचाना। निर्गुण सम्बन्धी कबीर के आग्रह के विरोध में इन दोनों कवियों ने अपने सगुण-सम्बन्धी आग्रह को उपस्थित किया, यह कहना सही नहीं है। वास्तव में इन्होंने निर्गुण और सगुण के समन्वित स्वरूप के पक्ष में अपनी आवाज उठाकर पूर्ण सत्य का चित्र अंकित करने का प्रयत्न किया और जब लोगो ने देखा कि जिन रेखाओं के पृथक्-पृथक् स्वरूप से वे चिर-परिचित थे, उन्हींका सामंजस्यपूर्ण उपयोग करके उक्त रचनाकारों ने एक अनुपम सौंदर्य की सृष्टि कर दी, तब वे उस पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। फलतः राम और कृष्ण का सरल, शक्तिपूर्ण तथा महान् चरित्र और उसके प्रति भक्ति-भावना जितनी मात्रा में उनकी समझ में आई उतनी मात्रा में कबीर का रहस्यवाद उन्हें हृदयंगम नहीं हो सका, वह उनके लिए जटिल और दुरूह ही बना रहा।

तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में हिंसा और अहिंसा का, निर्गुण और सगुण का, व्यक्ति-साधना एवं समाज-साधना का, उच्च और नीच का, भोग और त्याग का समन्वय है तथा साथ ही स्वस्थ और सबल समाज के निर्माण के लिए विशुद्ध सत्य पर, सच्चे त्याग, संतोष आदि आदर्शों के आधार पर वर्ण और आश्रम की स्थापना के लिए संकेत है। सहस्रो वर्षों के लोक-जीवन का मथन करके इस महा-कवि ने जनता के सामने एक ऐसी वस्तु रखी जिसमें कहीं-कहीं प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य ने अपने स्वरूप को देखा। साथ ही अपने से उच्चतर कोई ऐसा भी स्वरूप देखा जिसे आत्मसात् करने के लिए उसमें उमग बढी। यह सही है कि तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' 'स्वान्त सुखाय' आत्म-निवेदन के रूप में लिखा, वह उनके और उनके इष्टदेव के बीच की वस्तु है, किंतु जितनी मात्रा में यह सत्य है उतनी ही मात्रा में यह भी सत्य है कि उसमें समाज का जो चित्र खींचा गया है वह कवि द्वारा सर्वथा अचितित नहीं है। व्यक्ति और समाज के हितों का जहाँ सम्मिलन होता है, जहाँ व्यक्ति की उच्चता समाज के लिए घातक, उद्देगकारक न होकर मंगल-जनक, कल्याणप्रद होती है उसी छायामय कल्पवृक्ष के नीचे हमें 'रामचरितमानस' ले चलना चाहता है।

'रामचरितमानस' का निर्माण हुए आज लगभग चार सौ वर्ष होने को आ रहे हैं। दर्जनों बैठनों में बाँधकर रखने का नाम यदि आदर करना है तो इस प्रकार का आदर हम उसे बहुत देते हैं, और शायद भविष्य में बहुत अधिक देगे। आज हम उसके अनुभूतिपूरक ज़शों से अपने हृदय का समाधान करते हैं, किंतु उसके वर्ण और आश्रम-व्यवस्था-सम्बन्धी बुद्धि-प्रसूत उद्गारों की उपेक्षा कर देते हैं; 'दुधारू गाय की लात' से अधिक हम उसका महत्त्व नहीं मानते। यह अकारण नहीं है। आज डारविन,

फायड और कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों ने हमारी चिंतन-शक्ति को अस्त-व्यस्त कर दिया है; हम यह नहीं समझ पाते कि हम 'रामचरितमानस' के अध्यात्मवादी आदर्शों को माने अथवा नवीन 'जडवादी विचार-धाराओं' को प्रवर्तित करने वाले चिंतकों की शरण में जायें।

चिड़िया आकाश में चाहे जितनी ऊँचाई तक चढ़कर उड़े, किन्तु अन्त में थकान मिटाने के लिए अपने घोंसले में उसे आना ही पड़ेगा। यही हाल उन आदर्शों का होगा जो गत्यात्मक हैं, संघर्ष को प्रेरणा देने वाले हैं और युद्ध, घृणा, द्वेष एवं वैमनस्य की विभिन्न परिस्थितियों में जिन्हें बाह्य अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। ये कभी कलान्त न हो, यह सम्भव नहीं है। बहुत अधिक क्लेश और अवसाद के भीतर से चलकर ये अपने ठीक विरोधी प्रतीत होने वाले आदर्शों की शीतल सुरमरि-धारा में अपनी जलन को बुझाने के लिए आतुर होंगे।

कुछ लोग यह समझते हैं कि भारत सदैव अध्यात्मवाद का उपासक रहा है। अपने इस भ्रम को वे जितनी जल्दी त्याग दे उतना ही अच्छा। भारतीय मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश में से निकलने वाली भारत की मूल संस्कृति अमदिग्ध रूप से समन्वयमयी है और उसने अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का समन्वित रूप ही विश्व के सामने स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया है। इस समन्वय-प्रवृत्ति के कारण यहाँ गत्यात्मक, भौतिकवादी आदर्श एक सीमा तक ही मान्यता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण सीमा को लाँघने के लिए उठावले मदान्ध राष्ट्र, भारत की मर्यादित भौतिकता को अध्यात्मपीडित बताकर अपने निरंकुश कार्य-कलाप के लिए पथ परिष्कृत करते हैं। गत्यात्मक आदर्श कहाँ तक रचनात्मक रहते हैं और कहाँ पहुँचकर निषेधात्मक हो जाते हैं, इसे पहचानने की शक्ति हममें होनी चाहिए। यदि यह शक्ति हममें नहीं है तो साहित्यकार होने की प्रथम योग्यता से ही हम हीन हैं।

'वर्तमान' भूत' के कंधे का रचनात्मक सहारा लेकर चलता है; इस सहारे को त्यागकर 'वर्तमान' खड़ा होने का प्रयत्न करेगा तो वह धराशायी हो जायगा या अधिक देर तक रुक पाना उसके लिए सम्भव न होगा। विषमताये आती है, असंगतियाँ उत्पन्न होती हैं, समस्याये सिर उठाती हैं, इसलिए नहीं कि हम उनके सामने हार मानकर गढ़े में गिर जायें। 'रामचरितमानस' ने अपने समसामयिक तथा पूर्ववर्ती प्रश्नों का एक उत्तर देकर हमारा साहित्यिक समाधान किया। यह भी कहा जा सकता है कि इसने बहुत-सी परवर्ती समस्याओं का उत्तर भी अपने में निहित रखा; किन्तु कितने ही प्रश्न ऐसे हैं जो नितान्त नवीन प्रकृति के हैं और काव्य-साधन द्वारा उनको हल करने के लिए हमें अपने पुरुषार्थ और पराक्रम का

प्रयोग करना पड़ेगा ।

कवि के जिस पुरुषार्थ और पराक्रम की बात यहाँ कही जा रही है वह इससे भिन्न कुछ भी नहीं है कि वह अपनी सशक्त दृष्टि के द्वारा सत्य का स्पष्ट दर्शन करे और काव्य-सौन्दर्य से सम्पन्न बनाकर उसे प्रस्तुत करे । इसके विपरीत यदि वह केवल अनुकरण करेगा, और फायड और कार्लमार्क्स उसका जितनी दूर तक पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं उससे आगे न बढ़ने के लिए कसम खा लेगा, तो जिस वर्तमान का चित्र वह अकित करेगा वह अपने भूतकाल की रचनात्मक प्रवृत्ति से सर्वथा असम्बद्ध होकर प्रकृति का कोप-भाजन बनेगा, तथा प्रगति के क्रम को ही तोड़ देगा ।

हिंदी-काव्य के क्षेत्र में खड़ी बोली के कवियों में ही वर्तमान काल में हमें जीवन के लक्षण दिखाई पड़ते हैं । क्या ही अच्छी बात होती यदि यह कहा जा सकता कि उनमें तरुण कवियों का एक ऐसा दल नहीं है जो पश्चिमी देशों की अन्धा-धुन्ध नकल के लिए जितना दीवाना है, उतना अपने हृदय की, अपने समाज की, स्वाभाविक, सम्बद्ध, निर्माणात्मक अभिव्यक्ति के लिए नहीं ।

पूर्ववर्ती रचनात्मक साहित्य के विरोध में प्रतिक्रियाओं का होना हानिकार नहीं, हितकर है; किंतु उसी अवस्था में जब वे अपनी सीमाओं से बाहर न जायें । उचित प्रतिक्रियायें साहित्य में स्वास्थ्य की सूचना देती हैं और अनुचित प्रतिक्रियायें अस्वास्थ्य की । यदि हमारे तरुण साहित्यकार भारतीय साहित्य के सजीव तत्त्वों का अनुशीलन करें तो उन्हें अपनी शक्ति का ज्ञान हो जाय और विदेशी साहित्य की अविवेकपूर्ण नकल करने तथा उनकी अनुचित प्रतिक्रियाओं के जाल में फँसने से बच जायें ।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि उचित प्रतिक्रियायें क्या हैं और अनुचित प्रतिक्रियाएँ क्या हैं ? मैं संक्षेप में उनकी व्याख्या करने का प्रयत्न करूँगा ।

जीवन में सत्य से असत्य की ओर और असत्य से सत्य की ओर जो प्रगति होती है वह निरन्तर एक-दूसरे के लिए प्रतिक्रियात्मक होती है । जीवन का समस्त स्वाद और रस इन्हीं प्रतिक्रियाओं में है । जीवन का साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिससे जीवन की प्रतिक्रियाएँ साहित्य में भी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करती हैं । उदाहरण के लिए हिंदी-साहित्य का आरम्भ वीरगाथाओं से हुआ । देश में मुसलमानों का आतंक बढ़ रहा था । उनकी बाढ को रोकने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो वीरता के भाव को उत्पन्न करने में सहायक हो । किंतु अंततोगत्वा जब मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया तब शान्ति-प्रयत्नों की ओर ले चलने वाली एक नवीन प्रतिक्रिया जीवन और साहित्य दोनों में आई । भक्ति का जो झोब

महाभारत काल से प्रवाहित चला आ रहा था, किंतु जो बीच-बीच में अन्य आन्दोलनों के कारण अवरुद्ध हो जाता था, उसके साथ सहयोग करके उक्त प्रतिक्रिया ने हिंदी साहित्य में भक्तिकाव्य को उत्तेजना दी। हिंदी-साहित्य में प्रतिक्रिया का यह पहला रूप देखने में आया।

स्वयं भक्ति काव्य के भीतर प्रतिक्रियाएँ चली। कुछ विदेशी और कुछ भारतीय तत्त्वों के मेल से तैयार होने वाले निर्गुणवाद के प्रचारक कवियों ने परोक्ष सत्य के निर्गुण स्वरूप पर आग्रह किया, उसके सगुण रूप को मान्यता नहीं दी। किस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास तथा भारतीय भक्ति-पद्धति के अन्य अनुयायियों ने अकेले निर्गुण की स्थापना के स्थान में निर्गुण और सगुण के समन्वित-स्वरूप को स्वीकार करने पर बल दिया, इसकी चर्चा की जा चुकी है। हिंदी साहित्य में प्रतिक्रिया का यह दूसरा रूप देखने में आया।

गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' आध्यात्मिकता और अलौकिक कला की जिस ऊँचाई पर चढ़ा था उसके ठीक विरोध में केशवदास द्वारा प्रवर्तित भौतिकतावादी दृष्टिकोण एवं शृंगारी कवि नायिका-भेद आदि को लेकर चले। हिंदी साहित्य में यह तीसरी प्रतिक्रिया देखने में आई।

उक्त नायिका भेदी, निम्नस्तरीय काव्य की प्रतिक्रिया द्विवेदी काल के संयम और शिक्षापूर्ण काव्य में ही निहित नहीं है, छायावाद की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति में भी उसका स्वरूप दिखाई पड़ता है। यही नहीं, प्रगतिवाद की कर्मण्यता में भी उसके दर्शन होते हैं। प्रसंगवश यह भी कह देना आवश्यक है कि जहाँ ये तीनों मिलकर नायिका-भेद-विशिष्ट काव्य की प्रतिक्रिया प्रस्तुत करते हैं वहाँ ये स्वयं भी एक-दूसरे के लिए प्रतिक्रियात्मक हैं। द्विवेदीकालीन काव्य की प्रतिक्रिया छायावाद में और छायावाद की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद में दृष्टिगोचर होती है।

प्रगतिवाद जड़वाद पर आधारित है। इस कारण जड़वाद से पोषण प्राप्त करने वाला यथार्थवाद सहज ही आकर उससे मिल जाता है। इसी कारण प्रगतिवादी साहित्य के भीतर कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जो नायिका-भेद-विशिष्ट काव्य के प्रति सहज प्रीति रखती हैं। ऐसी स्थिति में प्रगतिवाद का संघर्ष-तत्त्व ही नायिका-भेदपरक काव्य के लिए प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है।

ससार में केवल अचित् की सत्ता स्वीकार करना एक बात है और चित् एवं अचित् दोनों की समन्वित सत्ता स्वीकार करना दूसरी बात है। केवल अचित् को स्वीकार करने वाला जिस मार्ग से जायगा वह चित् और अचित् दोनों को ही मानने वाले के मार्ग से भिन्न होगा ही, और एकागिता तथा अपूर्णता-दोष से दूषित होने के कारण सत्परिणाम की भी उपलब्धि नहीं करा सकेगा।

जो प्रतिक्रियाएँ और प्रवृत्तियाँ हमें उन बंधनों से उन्मुक्ति प्रदान करने की शक्ति रखती हैं, जो हमारे उत्साह, हमारी शक्ति और हमारी कार्य-क्षमता को सीमित तथा सकुचित कर देते हैं, उन्हें त्यागने में ही साहित्य का कल्याण है । इन बातों पर दृष्टि रखना साहित्यकार का कर्तव्य है ।

बीस ::

:: हिंदी-उपन्यास में सृजनात्मक संहरण

: १ :

साहित्य-निर्माण के स्वीकृत माध्यम के रूप में उपन्यास के प्रचलित होने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है वे सामाजिक संगठन और विकास के एक विशेष स्तर की अपेक्षा करती हैं। समाज के स्वरूप में जितनी ही जटिलता बढ़ेगी, उपन्यास के प्रचलन के लिए वातावरण उतना ही अनुकूल प्रस्तुत होगा। जनसंख्या की अधिक वृद्धि, आर्थिक समस्याओं की गंभीरता, जीवन-सघर्ष की व्यापकता, भौतिक सुख-भोग के लिए मनुष्य की अधीरता—ये सब कारण जिनकी ही अधिक मात्रा में क्रियाशील होंगे उतनी ही अधिक सभावना उपन्यास के पनपने की होगी। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में मदार और जवासा लहलहाता रहता है, उसी प्रकार मनुष्य-समाज की अतिशय व्यस्त और विकृत अवस्था में उपन्यास-रचना की प्रगति और उन्नति होती है। वैसे कथा-साहित्य किसी भी युग के लिए सीमित नहीं है, सृष्टि के आदि से ही उसका प्रसार होता चल रहा है; किंतु आज हम उपन्यास को जिस रूप में ग्रहण कर रहे हैं, उसके दर्शन किसी भी देश के साहित्य की आदिम अवस्थाओं में संभव नहीं है। एक बात और, जहाँ एक ओर उपन्यास के द्वारा भाषा मंजती है, वहाँ यह भी सही है कि एक सीमा तक भाषा का संस्कार हो जाने पर ही वह आधुनिक उपन्यास के प्रवाह को धारण कर सकती है।

उपन्यास के दो बड़े भाई हैं—नाटक और काव्य। इन दोनों ही में परिस्थिति के अनुरूप अपने को ढाल लेने की अपूर्व क्षमता है। मानव-जीवन की आरंभिक अविकसित अवस्थाओं में ये दोनों उसके साथी रहे हैं और प्रगतिशील विकसित अवस्थाओं में भी। नाटक तो मनुष्य को तब भी प्रिय रहा होगा जब विचार-विनिमय में समर्थ भाषा का आविष्कार करने के पूर्व वह केवल संकेतों से अपना काम चला लेता था। मनोरंजक अनुकरण प्रस्तुत करने की भावना से प्रेरित होकर वह ऐसा करता होगा। कुछ और प्रबुद्ध होकर भाषा का निर्माण करने पर उसने कुछ पक्तियाँ भी गुणगुनानी शुरू की होंगी। कालान्तर में क्रमशः नाटक और काव्य का स्वरूप स्पष्ट हुआ होगा। पश्चिमी देशों में सबसे पहले यह कार्य यूनान में हुआ। वहीं से समस्त योरूप में प्रकाश का वितरण हुआ। समय और परिस्थितियों

के आघात से नाटक और काव्य दोनों ही के आन्तरिक और बाह्य ढाँचों में यथेष्ट परिवर्तन हुए; नाटक की एक शाखा एकांकी नाटक, रेडियो नाटक आदि के रूप में फूट आई तथा काव्य के क्षेत्र में भी अनेक रूपांतर प्रस्तुत हुए। उपन्यास अपने इन दोनों ही बड़े भाइयों का कुछ बातों में अनुसरण करता है; जहाँ तक कथानक की गति को शासित करने वाले, घटनाओं के उलटफेर का सम्बन्ध है, संवाद आदि तत्त्वों के समावेश का प्रश्न है, वह नाटक का अनुगमन करता है; किंतु कही-कही ठहरकर वह प्रकृति-सहयोग की नियोजना, लेखक द्वारा चरित्र-व्याख्या-समावेश आदि से कथानक की प्रगति को अनुरजित होने का अवसर भी देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उपन्यास में नाटक की चंचलता और काव्य की स्थिरता, दोनों ही का समन्वय दिखाई पड़ता है। यहाँ मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि नाटक में गति-ही-गति होती है, विराम होता ही नहीं और काव्य में विराम-ही-विराम रहता है, गति होती ही नहीं। नहीं, मेरा तात्पर्य यह है कि नाटक में द्रुत प्रवाह अधिक मात्रा में तथा स्थिरता थोड़ी मात्रा में होती है, इसके विपरीत काव्य में, केवल नाटकीय तत्त्व-विशिष्ट गीति-काव्य को छोड़कर, स्थिरता अधिक मात्रा में तथा अस्थिरता थोड़ी मात्रा में होती है। और, इसी कारण नाटक को गति का तथा काव्य को स्थिरता का प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। अस्तु। नाटक और काव्य में सामं-जस्य उपस्थित करने वाला उपन्यास ऐसी परिस्थितियों में कैसे उत्पन्न हो सकता है जब नाटक और काव्य में किसी प्रकार का संघर्ष न हो, किसी प्रकार की भिन्नता न हो। पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में हम देखते हैं कि नाटक-समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धांतों ने काव्य-समीक्षा-सिद्धान्तों का भी नेतृत्व किया, योरुप में पुनरुत्थान (Renaissance movement) आन्दोलन (पंद्रहवीं शताब्दी) तक यही परिस्थिति रही, उसके बाद अरस्तू के सिद्धांतों से पीड़ित काव्य की मुक्ति हुई; नाटक और काव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना हो जाने पर दोनों को मिलाने की क्षमता से सम्पन्न उपन्यास की आवश्यकता का अनुभव कुछ दिनों के अनन्तर हुआ और उपयुक्त वातावरण उपस्थित होने पर सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में उपन्यास का विकास हुआ। तब से वह ससार-भर में उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है।

योरुप की-सी स्थिति भारत में नहीं थी। कहा जा सकता है कि यहाँ भी भरत मुनि-कृत नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्त काव्य के क्षेत्र में प्रचलित किया गया; किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ काव्य-संबन्धी आदर्श बहुत पहले ही आदिकवि द्वारा निर्दिष्ट हो चुका था। इससे अरस्तू के दुःखात नाटक-सम्बन्धी सिद्धान्त से जितना असन्तोष योरुप में था उतना रस-सिद्धान्त के विरोध में भारत में नहीं प्रकट हुआ; रस-सिद्धान्त के प्रतिकूल विचार-धारा लेकर खड़े होने

वाले भिन्न भिन्न-आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करते हुए भी रस-मत पर सीधा प्रहार नहीं किया। किसी-न-किसी सीमा तक उसकी मान्यता बनाये रखी। इस कारण नाटक और काव्य के मध्य में साहित्य-रचना के रूप में उपन्यास-जैसी किसी वस्तु की, जो योरोप के उपन्यास से मिलती-जुलती हो, खोज यहाँ नहीं हुई। योरोप और भारत का सम्पर्क भी अभी साहित्य के क्षेत्र में कम था। अंग्रेजी शासन के कारण भारत का इंग्लैंड से सीधा सम्बन्ध हो गया था, किंतु अंग्रेजी भाषा का विशेष प्रचार न होने के कारण अंग्रेजी उपन्यास की ओर भारतीयों की दृष्टि आवश्यक मात्रा में न जा सकी। अंग्रेजी के स्कूल और कालेज अधिक संख्या में तब खूले जब ७ मार्च सन् १८३५ में लार्ड मैकाले की वह शिक्षा-योजना स्वीकृत हो गई जिसके अनुसार अंग्रेजी भाषा भारतीय शिक्षा के लिए माध्यम बनी। इस व्यवस्था से एक ओर तो अंग्रेजी साहित्य से परिचय बढ़ने लगा, दूसरी ओर उर्दू की प्रतिद्वंद्विता में प्रतिक्षण निर्बल पड़ती जाने वाली हिंदी के प्रति शिक्षित वर्ग की उदासीनता और उपेक्षा भी विष-बेलि की तरह फलने-फूलने लगी। ऐसी अवस्था में अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान अर्जित करने वाले युवकगण अपने ज्ञान का कोई उपयोग हिंदी साहित्य को नहीं दे सके और हिंदी के गद्य को उपन्यास की कौन कहे, शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्य-क्रम के रूप में स्वीकृत होने योग्य साधारण पुस्तक की भी प्राप्ति नहीं हो सकी। स्वर्गीय भारतेन्दु के नेतृत्व से क्रमशः इन कठिनाइयों का निवारण हुआ और पश्चिम के साहित्य-सूर्य की किरणें उन लोगों के पास भी पहुँची जो हिंदी के प्रेमी थे और जिन्हें हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने की लगन थी; लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास लिखा, जो हिंदी का प्रथम मौलिक आधुनिक उपन्यास कहा जा सकता है। इसके अनन्तर राधाकृष्णदास और बालकृष्ण भट्ट ने भी मौलिक उपन्यास लिखे, किंतु मौलिक उपन्यासों के योग्य लेखनी मँजी न होने के कारण अधिकांश लेखक बँगला के उपन्यासों का अनुवाद करने में लग गए। इनमें प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गास्वामी, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, गदाधरसिंह आदि का नाम लिया जा सकता है। मौलिक उपन्यासकारों और अनुवादकों की यह परम्परा अब भी चलती रही है, अंतर केवल यह है कि अब मौलिक लेखक अधिक हैं, अनुवादक कम हैं। अनुवादकों की कमी के कारण अमरीका के कितने ही योग्य और प्रतिष्ठित लेखकों की कृतियाँ अभी तक हिंदी में भाषांतरित नहीं हो सकी हैं। हमारे उत्साही विद्वानों और लेखकों का इस ओर ध्यान जाना चाहिए।

जो कुछ यहाँ कहा जा चुका है, उससे आशा है पाठक यह समझ जायेंगे कि योरोप में उपन्यास का विकास आंतरिक प्रेरणा पर आधारित, सकारण, उचित और

स्वाभाविक था ; इसके विपरीत हिंदी में उपन्यास की प्रगति आंतरिक प्रेरणा से उत्तेजित न होकर अंगरेजी साहित्य के पठन-पाठन के परिणामस्वरूप बाह्य प्रभावों को स्वीकार करती हुई चली है और वर्तमान समय में भी चल रही है । दूसरे शब्दों में इस बात को यों भी कह सकते हैं कि यदि योरोप में उपन्यास अपनी भूमि पर उगा हुआ पौधा है तो भारत में विशेषकर हिंदी जगत् में वह एक कलमी आरोप है, जो सरल भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता है । ससार में यातायात साधनों की वृद्धि, प्रभावशाली आन्दोलनों का व्यावहारिक सफलता-लाभ तथा भारत में मौलिक स्वतन्त्र विचार-धारा के स्थान में सकुचित पराजित मनोवृत्ति, जो सहज ही तडक-भड़क से प्रभावित हो जाती है—ये सब इस कलमी आरोप को सजीव और समर्थ बनाने की शक्ति रखती हैं, इसमें सदेह नहीं ।

: २ :

अरस्तू ने अपने आचार्य अफलातून के आदर्शवाद को यथार्थ की भूमि पर उतारा तो, लेकिन फिर भी दुःखात नाटक का उद्देश्य बताते हुए उसने यह निर्दिष्ट किया है कि नायक ऐसा होना चाहिए जो साधारण मनुष्यों से ऊँचे स्तर पर हो और वह जिन सकटों तथा कठिनाइयों में पड़े, उनसे दर्शक के हृदय में भय और करुणा का संचार हो । उसके इस विधान का अभिप्राय यह था कि मनुष्य की उदात्त वृत्तियों को उत्तेजना प्राप्त हो और उसका चरित्र सौंदर्य ग्रहण करने की ओर अग्रसर हो । उसने अश्लीलता का भी निषेध किया । पुनरुत्थान आन्दोलन के परवर्ती काल में यदि इस कोटि का यथार्थवाद साहित्य-साधकों के लिए आदर्शवाद ही की तरह अम्बोकार्य लगा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

नवीन यथार्थवादियों ने महान् के स्थान में लघु को अपनी रचना का नायक बनाया । उपेक्षित और तिरस्कृत को भी साहित्य में गौरव प्रदान किया गया । यह सर्वथा उचित था । युग विशेष की विचार-धारा और समस्या से प्रेरित होकर यदि हम कभी राम और कृष्ण को अपनी कृति में नायक का स्थान देते हैं तो वैसे ही प्रेरणा से हमें पीडित, पद-दलित, पतित को भी आराध्य का पद देने में हिचकना नहीं चाहिए । एक प्रकार से इस श्रेणी की यथार्थवादी रचना में सफलता प्राप्त करना कठिन है ; क्योंकि आदर्श चरित्रों के चित्रण की अपूर्तियों को अपनी ओर से सँभाल लेने वाली जो मानसिक तैयारी प्रायः पाठकों में विद्यमान रहती है उसका अन्यथा अभाव ही दिखाई पड़ता है और उन्हें द्रवित करने के लिए कलाकार अधिक सामग्री जुटाने के लिए बाध्य होता है । किंतु जो लोग यथार्थवाद की ओर झुके, उनमें से अधिकांश ने इस बात को भुला दिया, जैसे पानी आसानी से नीचे ढलक जाता है वैसे ही सरल ढंग से मनमानी सड़ी-गली चीज लिखकर भी वे कृतकार्य

हो जाएंगे—ऐसा सोचकर वे बहुत संतुष्ट हुए ।

अश्लीलता और श्लीलता की व्याख्या देश-काल-विचार सापेक्ष है । जब श्लीलता का कोई मापदण्ड इतना रुढ़ि-ग्रस्त हो जाय कि उससे जीवन के विकास में बाधा पड़ने लगे तो उसका टूटना आवश्यक है । कलाकार ऐसे स्थलों को पहचानकर तथाकथित अश्लीलता को गौरवान्वित कर सकता है और इस प्रकार अप्रकट रूप से मनुष्य-समाज के रीति-रिवाज में परिवर्तन करने की ओर प्रवृत्त हो सकता है । यह कलात्मक प्रयत्न कलाकार के लिए अनिवार्य कर्तव्य है । इसका पालन न करके वह अपने अस्तित्व ही का लोप करता है । किन्तु अपने कार्य के उत्तरदायित्व की ओर ध्यान न देकर जो लेखक प्रत्येक अश्लील को श्लील के रूप में स्वीकार कराने के अभिप्राय से मचेष्ट होता है वह मुँह के बल गिरता है । वह स्वयं तो उपहासास्पद होता ही है, साथ ही उस विचार-धारा और भाव-प्रवाह को भी ले डूबता है जिसका प्रतिनिधित्व करने का वह दुस्साहस करता है ।

यथार्थवाद लघु के प्रति साहित्यिक न्याय ही करनेके लिए चला था ; अठारहवीं शताब्दी में होने वाली राज्य-क्रांति ने स्वाधीनता, समता और भ्रातृ-भाव की घोषणा द्वारा मानवता की समस्या को विचारार्थ समक्ष उपस्थित करके उसे बहुत बड़ा सहारा भी दे दिया था ; उसकी प्रेरणा से साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का विकास हुआ, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में यथार्थवाद पतनोन्मुख होकर भोगवाद का रूप धारण करने लगा । वैज्ञानिक सफलताओं ने, जिनके परिणामस्वरूप मानव-जीवन में औद्योगिक युग ने पदार्पण किया था, मनुष्य के हृदय में यह अहंकार उत्पन्न किया कि वह प्रकृति के अधीन नहीं है, स्वयं प्रकृति ही उसके अधीन है । डार्विन के विकासवाद एवं मार्क्स के प्रगतिवाद-सिद्धांत ने जड़वाद-विशिष्ट संस्कृति की स्थापना करके उन आधारों का सम्यक् उन्मूलन कर दिया जिनका करावलम्ब और आशीर्वाद पाकर वह सामाजिक उपयोगिता के क्षेत्र में कभी खड़ा होने का स्वप्न देख सकता था । इस परिस्थिति में, पुनरुत्थान-आन्दोलन और फ्रांस की राज्य-क्रांति ने जो सद्भाव उत्पन्न किये थे, वे भौतिक भोग की तृप्ति के लिए जीवन-सघर्ष और शक्ति-संग्रह की भावना को बल देने लगे । उद्योग-धन्धों के विकास ने समाज को पूँजीपति, धनिक वर्ग, श्रमिक वर्ग तथा उपभोक्ता वर्ग में विभाजित कर दिया था और अर्थ-संग्रह ही सबके जीवन का लक्ष्य हो रहा था ; इससे वर्गों में पारस्परिक कटुता बढ़ी, साथ ही एक ओर भौतिक लाभ और दूसरी ओर अनियंत्रित, असीमित विलासिता की दुर्दमनीय पिपासा का संचार हुआ । इस भयंकर मानसिक उद्वेग की भँवर में पड़कर यथार्थवाद डूबने लगा । शायद वह डूब भी गया होता, किन्तु उसे मनोवैज्ञानिक अनुसंधान में लगने की सूझी और उसने डूबने की चोट पर एलान किया कि उसे इस ऊँचे कार्य में प्रवृत्त होना है । प्रगतिवाद से भी

गँठबंधन करके उसने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानी चाही। इसी वेश-भूषा में आज यथार्थ-वाद हमारे सामने 'उपस्थित' है। यहाँ यह कह देना उचित है कि यथार्थवाद के इस दुरुपयोग को प्रस्तुत करके उपन्यास अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

यथार्थवाद हो अथवा आदर्शवाद, किसी का भी सहारा लेकर चलने वाली रचना यदि मनुष्य को पशु के स्तर से ऊपर उठाकर मनुष्य नहीं बना सकती तो उसे साहित्य की कोटि में रखना ही अनुचित है। हमारे भीतर की पशु-भावना का संहार करके, हमे निर्विशेष, निर्लिप्त भाव के स्तर पर पहुँचाना ही कला का कार्य है। जहाँ हम अपने स्वार्थ, योगक्षेम को भूलकर, अनासक्त भाव में निमग्न हो जाते हैं, वही साहित्य की सच्ची भूमिका उपलब्ध हो सकती है और उपन्यास यदि सफल होना चाहता है तो हमारे भीतर रह-रहकर स्वार्थ-भावना को उभारने वाली पशुता का निराकरण उसके द्वारा होना ही चाहिए। इसके विपरीत जो उपन्यास पशुता को और भी उद्दीप्त करेगा, मनुष्य को अपनी मनुष्यता भुला देने के लिए प्रेरित करेगा वह निर्गन्ध पुष्प की तरह रोचक और आकर्षक होने पर भी किसी काम का नहीं है। व्यभिचार-कथा को लेकर चलने वाली यथार्थवादी रचना भी कलात्मक होने के कारण किस प्रकार हमारे हृदय में सद्भाव उत्पन्न करने में सफल होती है, यह दिखाने के लिए मैं फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक मोपासाँ की एक कृति से कतिपय पंक्तियाँ प्रस्तुत करता हूँ, जिनमें भ्रूण-हत्या की अपराधिनी एक अभियुक्ता नव-युवती का, जज के न्यायालय के समक्ष, वक्तव्य पाठको को मिलेगा—

“मैं सच कहती हूँ कि मैं नहीं चाहती थी—नहीं नहीं मैं डर भी गई थी—मुझे हलाई भी आ गई। हवा धीमी-धीमी चल रही थी और चाँद मुस्करा रहा था। जी हाँ, मैं कसम खाकर कहती हूँ कि मैं कुछ न कर सकी—और उन्होंने, जो उनके मन में आया, किया। ऐसा ही तीन हफ्ते तक होता रहा, जब तक वे यहाँ ठहरे। मैं तो दुनिया के कोने तक उनके साथ जा सकती थी, परन्तु वे चले गये। मुझे नहीं मालूम था कि मुझे गर्भ रह गया है। यह मैं एक महीने बाद तक न जान पाई.....। जब मुझे अपनी हालत मालूम हुई तो मैं मिस जँक्सन से मिलने गई, जो यहाँ अदालत में मौजूद हैं। मैंने उनसे पूछा कि अगर बच्चा उनकी गैर हाजिरी में पैदा हुआ तो क्या होगा ? उनसे सलाह लेकर मैंने यह पोशाक तैयार की और रोज रात को एक बजे तक जाग-जागकर काम किया। फिर मैंने दूसरी जगह की भी तलाश की, क्योंकि मुझे डर था कि मैं यहाँ न रहने पाऊँगी। इसके साथ ही रुपये भी जमा करती थी, क्योंकि मैं एकदम गरीब हूँ और बच्चे को पालने के लिए कुछ रुपयों की जरूरत थी।”

+

+

+

+

“कहिए, क्या ऐसा हो सकता है ? दो बच्चे, और मेरे—जिसको भगपेट खाना तक मुश्किल से मिले। आह क्या यह मुमकिन है ? एक हो तो उसका इन्तजाम हो सकता है, लेकिन दो का नहीं। इस विचार ने मेरे दिमाग को परेशान कर दिया। आप ही बताइए, क्या मेरे लिए दूसरा कोई उपाय रह गया था ?”

“मैं क्या कर सकती थी ? मैंने समझ लिया कि मेरा अन्तिम समय आ गया है। मैंने अपनी बड़ी तकिया उन दोनों के मुख पर रख दिया। और तब, तब मैं भी फर्श पर गिर पड़ी। जब तक मुझे खिड़की से प्रभात की किरणें दिखाई दीं, तब तक दोनों बच्चे तकिये के नीचे दबकर मर चुके थे। मैं उन दोनों को अपनी गोद में ठेकर तरकारियों के बागीचे में चली गई। मैंने माली का फावड़ा लेकर इतना बड़ा गड्ढा खोदा जितना कि मैं खोद सकी और तब मैंने उन दोनों को मिट्टी के अंदर गाड़ी दिया। एक यहाँ और दूसरा वहाँ अलग-अलग—इसलिए कि वे आपस में अपनी माँ की चर्चा न कर सकें। अगर ऐसे नन्हें बच्चे बोल सकें तो ? मैं इसके बारे में क्या जानूँ।”

मोपासाँ की इन पक्तियों में ऐसी कौन-सी बात है जिसके कारण इनमें कलात्मकता आ गई है ? अपनी किस विशेषता के कारण ये साहित्य की अमूल्य विभूति हो गई है ? अपने प्रकृत विषय पर आने से पहले इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में दो शब्द कह देना आवश्यक है।

मनुष्य ने जब से होश सँभाला है तब से उसका निरन्तर यह उद्योग रहा है कि उसके अन्तर में सर्प की तरह कुण्डली मारकर बँठे हुए पशुत्व का अन्त हो। पशुत्व से उसके उन्मुक्त होने की एक-एक स्थिति में मानवत्व का उदय निहित है, जिसकी विशिष्टता के विभिन्न स्तरों को ही कला की उत्कृष्टता को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित करने का अधिकार प्राप्त है। मनुष्य की स्थिति पशुत्व और देवत्व के मध्य में है। पशुत्व का त्याग करके उसे देवत्व की ओर अग्रसर होना है। जहाँ अकेला पशुत्व सींगों को सामने करके प्रहार करने के लिए उद्यत है, वहाँ कला का निवास संभव नहीं, और न वही संभव है जहाँ देव-जीवन सुख-दुःख हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि से युक्त द्वन्द्वात्मकता से अप्रभावित, एकरस समता के घरातल पर विद्यमान रहकर विहार करता है; कला तो वही अपना शोभन प्रकाश छिटकाती है जहाँ पशुत्व पर विजय प्राप्त करके मानवता अपने प्रकृत प्रगतिशील स्वरूप को धारण करती है। मानव की यह विजय अकेली मानव की नहीं, वरन् देव की भी विजय है, क्योंकि इस प्रकार की मानव की प्रत्येक विजय के द्वारा देव ख़ता है कि दानव का बल क्षीण हो रहा है।

मोपासाँ के उक्त अवतरण पर एक दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि उसकी प्रीति घटना के आदि से है अथवा अन्त से। आरम्भ में पशुत्व

का आवाहन है और अन्त में मनुष्यस्व का; मोपासाँ उस पाशविक दुराचार का वर्णन रस ले-लेकर नहीं करता, जिसके परिणाम-स्वरूप उक्त युवती विपत्ति में पड़ी। उसकी सहज सहानुभूति घटना के उस भाग से है, जिसमें अपराधिनी अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति को खोलकर सामने रख देती है तथा मनुष्य की सोई हुई मानवता को जगाने का प्रयास करती है। कलात्मकता के इस रहस्य से अपरिचित हिन्दी के अनेक लेखक, जिन पर कुरुचिपूर्ण उपन्यास लिखने का आरोप लगाया जाता है, यह कहते सुने जाते हैं कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह असत्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता। हम भी स्वीकार करते हैं कि उन्होंने जीवन में बहुत-सी बातें आँखों से देखी हैं, वे सर्वथा सत्य हैं, उन्हें असत्य प्रमाणित करने का साहस कोई नहीं कर सकता। यह मान लेने पर भी यह कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने एक क्षण के लिए भी यह सोचने का कष्ट स्वीकार नहीं किया कि अन्ततोगत्वा किसी सत्य को लिख देने-मात्र से वह कलात्मकता से सम्पन्न होकर साहित्य के गले का हार न बन जायगा। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस सत्य पर उन्हें गर्व है वह पशु-सत्य-मात्र है जो आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन तक ही सीमित है, उसके अंतर में अंध-कार-ही-अन्धकार है, उस गूढ़, दुर्गम गुफा में कला की किरण पहुँच ही नहीं सकती। पशु की सारी शक्तियाँ आत्म-रक्षण और आत्म-भरण के प्रयत्नो ही में समाप्त हो जाती हैं, उसके पास ऐसी कोई निधि नहीं है, जिसे वह औरो को दे देने के लिए अधीर हो। और, इस निस्वार्थ, प्रयोजनहीन अधीरता का आधार पाये बिना कला खड़ी नहीं हो सकती। कलाकार होने के लिए कुछ तैयारी की आवश्यकता होती है और उसका अनिवार्य भाग यह है कि वह पहले अपने हृदय का सस्कार करे, अपने अन्तःकरण के भीतर निर्विघ्न विहार करने वाले पशु पर विजय प्राप्त करे। इस विजय का उपहार लेकर ही कलाकार कला देवी के मंदिर में आराधना के लिए प्रवेश कर सकता है।

यदि कलाकार उपयुक्त तैयारी के साथ अपने कार्य को हाथ में लेगा तो दुरदान्त पशु और आन्तरिक प्रकाश से सम्पन्न मानव के पारस्परिक सघर्ष की कहानी इतनी रोचक हो जायगी कि उसे पाठको को आकर्षित करने के लिए न स्वयं पशु के स्तर पर उतरना पड़ेगा और न उन्हें बृहत्तर पशु बनाने का अपराध करना होगा। बंदर ही विकास पाकर मनुष्य हो गया, डारविन के इस सिद्धान्त के विरोध में उन्हें उस अवस्था में यह नया सिद्धान्त प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि मनुष्य ही विकास पाकर बंदर हो गया। बेचारे डारविन ने तो किसी हद तक प्रगति-सिद्धान्त ही का निर्वाह किया था, उसकी कीर्ति को नष्ट करने के लिए हम व्यर्थ ही सिर को पैर बनाकर शीर्षासन क्यों करने लगे ?

यह प्रश्न हो सकता है कि यदि यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही में हमें कलात्मकता के लिए मनुष्य बनने की साधना करनी पड़ेगी तो यथार्थवादी बनने से लाभ क्या हुआ ? सरलता क्या हुई ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि जो लोग केवल चटकीली प्रवाहमयी भाषा का सहारा लेकर साहित्य-जगत् में अपना सिक्का जमाना चाहते हैं, वे तथाकथित यथार्थवाद को अपनाना चाहेंगे तो बैठे-विठाये सिर-दर्द मोल लेंगे, जो आदर्शवादियों के मत्थे अपेक्षाकृत कम मात्रा में ही पड़ता है । कला-रसिक यथार्थवादी को आग के एक अगारे के लोभ से मन भर राख हटानी पड़ती है, एक रत्ती सोना मिलने की आशा से सौ बार डुबकी लगाने का परिश्रम करना होता है, इसके विपरीत आदर्शवादी कुछ अधिक सुविधा में रहता है, वह मानो सोने-चाँदी के बाजार में बैठा है और थोड़ी-सी साधना के मूल्य पर जब चाहे तब उन्हें आवश्यक मात्रा में मोल ले सकता है । उसका पथ इतना अनिश्चित और कटकाकीर्ण नहीं है, जितना यथार्थवादी का ।

यथार्थवाद चाहे मनोवैज्ञानिक अध्ययन का पत्ता पकड़े, चाहे प्रगतिवादी दर्शन की आड़ में खड़ा होकर भाँके, यदि वह कलात्मकता का साथ छोड़ देगा तो उसका भविष्य उज्ज्वल नहीं है । सबसे पहले तो डारविन और कार्लमार्क्स के जडवाद से उसे पिण्ड छुड़ाना होगा । बदर को मनुष्य बनाकर डारविन ने अपनी प्रगति समाप्ति कर दी, कार्लमार्क्स ने मनुष्य की भूख की ओर और फ्रायड ने केवल काम-पियासा की ओर ध्यान दिया, इनकी प्रगति भी सीमित होकर रह गई । बाह्य घटना-विस्फोटों के मूल को मनुष्य की चित्त-वृत्तियों के भीतर खोजने में लगकर भी उक्त सीमाओं से अवरुद्ध मनोवैज्ञानिक अध्ययन मन के कितने स्तरों को पार कर सका है ? और जहाँ वह रुक गया है उसके आगे क्या कोई भूमि ही नहीं है ? क्या मनुष्य का कोई भी उपचेतन स्तर ऐसा है जो सर्वथा निश्चल, प्रशान्त प्रमाणित किया जा सके ? यदि मनुष्य का बाह्य आचरण उनके द्वारा प्रभावित और प्रेरित है तो स्वयं वह किन्हीं अन्य स्तरों से निर्देशित होगा । अन्त में क्या हम इस परिणाम पर पहुँचने के लिए बाध्य न होंगे कि कोई लोक, कोई बिन्दु ऐसा भी है जहाँ की निश्चलता, निर्विकारता, निर्लिप्तता ही में सम्पूर्ण प्रगति को समाधि प्राप्त होगी और जहाँ अपनी समस्त कलान्ति का निवारण करके वह यथापूर्व अपनी यात्रा पर फिर चल पड़ेगी । अतएव अच्छा यह होगा कि यथार्थवाद ऐसे अपूर्ण मनो-वैज्ञानिक अध्ययन के झमेले में न पड़े जो उसे कहीं भी टिकने, खड़े होने की जगह नहीं देता और जो यौन मनोप्रस्थियों के विश्लेषण के नाम पर यम के नरक-लोक की सैर कराकर पाठकों को मानसिक अवसाद से व्याकुल कर देता है । साथ ही उस प्रगतिवाद से भी उसका सम्बन्ध-विच्छेद होना चाहिए, जो फ्रायडवाद के स्वर-में-स्वर

मिलाकर प्रायः प्रत्येक विवाहित युग को छिन्न-भिन्न करने ही में उसकी भलाई समझता है। यदि यथार्थवाद इन कल्पित समस्याओं को हल करने के चक्कर में पड़ेगा तो उसकी मिट्टी पलीद हो जायगी।

जब बन्दरों की कोई प्रगतिशील जाति अपनी बुद्धि-शक्ति की विशेषता से विकास करके क्रमशः मनुष्यों के रूप में परिणत हुई होगी, तब बंदरों की शेष जातियों ने बड़ा हर्ष मनाया होगा। किंतु यदि दुर्भाग्य से मनुष्य-समाज की कोई शाखा अपनी बुद्धि की अतिशय विकृति से विपरीत पथगामिनी होकर बन्दरों के समाज से जा मिले तो शेष मानव-जातियों के लिए तो यह बड़े परिताप की बात होगी। जो हो, यदि तथाकथित यथार्थवादियों को अणु बम का आविष्कार करने वाले वैज्ञानिकों से होड़ करना ही अभीष्ट हो तो समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ कुछ मानव-रत्नों के मन में यथार्थवाद अथवा अति यथार्थवाद के औषध-संचरण (Injection) द्वारा पशु-तत्त्व का विशेष प्रादुर्भाव और मानव-तत्त्व का आमूल संहार करके वे उन्हें फिर उसी श्रेणी में वापिस भेज दें जहाँ से वे आये थे। बीसवीं शताब्दी में यह प्रयोग भी अपना महत्त्व रखेगा। स्त्री पुरुष के रूप में परिवर्तित हो ही रही है, एक-मात्र साहित्य के प्रयोग द्वारा बुद्धिमान मनुष्य को पूर्ण पशु के रूप में पहुँचा देने का चमत्कार भी इस शताब्दी में हो जाना चाहिए !

संहार के बिना निर्माण नहीं होता। बाह्य प्रकृति में भी हम देखते हैं कि पहले पेड़ के जीर्ण पत्ते गिर जाते हैं और तब नये सुकुमार पत्ते अलंकार रूप में उन्हें प्राप्त होते हैं। साहित्य में भी, जो जीर्ण है, जिसकी उपयोगिता की अवधि व्यतीत हो चुकी है, उसका संहार करके नवीन की प्रतिष्ठापना की जाती है। इस संहार-कार्य की चोट सहन करने के लिए हमें दो में से एक को निर्वाचित करना है— या तो हम पशु-तत्त्व का संहार करें या मानव-तत्त्व का। मानव-तत्त्व का संहार करने का अर्थ यह है कि जिन पेड़ों में नई, सुन्दर, कोमल पत्तियाँ निकल आई हैं उन्हें तोड़कर फेंक दिया जाय तथा नीचे झड़कर गिरी हुई पीली, सूखी, बेजान पत्तियों को इकट्ठा करके गोद से डालियों में चिपका दिया जाय ! पाश्चात्य उपन्यासकारों में से कुछ ने यह विलक्षण कार्य भी किया है; उन्होंने मानव-तत्त्व का संहार करके पशु-तत्त्व को प्रतिष्ठा प्रदान की है। उसी अस्वाभाविक प्रक्रिया का अनुकरण हमारे हिंदी के भी कुछ साहित्यकारों ने किया है और संभव है उसे वे जारी रखें। यह ध्यान देने योग्य है कि वहाँ के श्रेष्ठ उपन्यासकारों के पद-चिन्हों का अनुसरण करने का हमने उद्योग नहीं किया; हमने उनके केवल दोषों ही को ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा है; हमने उसी संहार-कार्य को अपनाया पसंद किया है जिससे स्वयं हमारा संहार हो जाता है, वह संहार हमें प्रिय नहीं है जो सृजनात्मक है, जो हमें मानवत्व के विकास की

नई-नई सीढ़ियों पर चढ़ाता है, जिससे हमसे शक्ति का संचार होता है और हम पूर्णता-प्राप्ति के प्रयासी बनते हैं। यहाँ इतना कह देना मैं आवश्यक समझता हूँ कि मेरा यह कथन केवल उन यथार्थवादियों तथा अतिथार्थवादियों के प्रति है जो अपनी रचनाओं में पशुत्व की आराधना को ही कला का सबसे प्रधान उद्देश्य समझ रहे हैं।

प्रेमचन्द्र जी ने कहा है कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। मैं कहना चाहता हूँ कि साहित्यकार को पहले यथार्थवादी और बाद को आदर्शवादी होना चाहिए। आदर्शवाद का बहिष्कार मुझे अभीष्ट नहीं है, उसे मैं केवल द्वितीय स्थान देना चाहता हूँ। यदि मुझे आदर्शवाद प्रिय न हो तो सृजनात्मक संहरण की बात ही क्यों उठाऊँ? फिर तो उसी संहरण-पद्धति का मैं भी पक्ष-समर्थन करूँ जो मनुष्य की मनुष्यता का लोप करके उसे पशु रूप में उपस्थित करने की चेष्टा करती है। यथार्थवाद को मैं प्रथम स्थान इसलिए देता हूँ कि मनुष्य को पहले वह भूमि मिलनी चाहिए जिस पर वह खड़ा हो सके, उसके बाद वह अगर आकाश की ओर देखना चाहता है तो सुविधा-पूर्वक देख सकता है। इसके विपरीत यदि खड़े होने की जगह ठीक करने के पहले ही हम आकाश की ओर देखने लग जायें तो परिणाम पतन के सिवा और क्या हो सकता है? लेकिन खड़े होने के लिए जगह ठीक करने का यह अर्थ नहीं कि आकाश की ओर अथवा आगे अगला कदम रखने के लिए भूमि की ओर देखने का प्रयत्न न करके हम अपने सामने ही गढ़ा खोदने में लग जायें। मानवत्व का संहरण करके पशुत्व का सृजन करना ऐसा ही प्रयास है। इस निषेधात्मक प्रयास से मानव का कल्याण सम्भव नहीं।

तो क्या यथार्थवाद का कोई ऐसा रूप भी निर्दिष्ट किया जा सकता है जो हमें प्रकृत भूमि पर खड़ा करके प्रगति करने में सहायक हो सके, जिसका सहारा लेकर हम अपने उपन्यास में केवल ऐसा संहरण-तत्त्व समाविष्ट कर सकें जो सृजनात्मक हो, रचनात्मक हो, अर्थात् जो मनुष्य के भीतर की पशुता का नाश करके उसकी मनुष्यता को विकसित करे? इसके उत्तर में “हाँ” कहने में मुझे कोई संकोच नहीं।

यों तो प्रकृत, रचनात्मक, निर्माणात्मक संहरण से युक्त यथार्थवादी उपन्यास के लिए सामग्री समस्त ससार में बिखरी हुई है। किंतु यदि हम अपने देश के भीतर निर्बल होकर पड़े हुए समाज ही को अपनी सेवा की उचित प्राथमिकता देना चाहें तो ऐसा करके हम कर्तव्य-पालन का गौरव भी प्राप्त कर सकते हैं। आज एक-एक गाँव में, एक-एक नगर में ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी हो रही हैं जिनमें मनुष्य हिंसा और मिथ्या का आश्रय लेकर अपने जीवन को विफल बना रहा है। जमींदारी का

अंत हुआ, महाजनी में शिथिलता आई, आशा की गई थी कि गाँव की जनता में आत्म-शक्ति का संचार होगा, अपने राज्य के स्थापित हो जाने पर वह सुख की नींद सो सकेगी। अधिकारयुक्त पंचायत से अधिक सुन्दर कौन-सी चीज गाँव वालों को दी जा सकती थी? किन्तु इतने लाभ हो जाने पर भी, सरकार से इतनी सुविधाएँ पाने पर भी ग्रामीण जनता आज भी इतनी पीड़ित और व्यथित क्यों हो रही है? कारण यह है कि जहाँ कष्टदायिनी शक्ति पहले जमींदार और महाजन में केन्द्रित थी, वहाँ अब वह व्यक्ति द्वारा प्रभावित दल के बहुमत में केन्द्रित है। यह बहुमत पिछले समय के जमींदार और महाजन से भी अधिक अत्याचारी हो गया है, इसीके प्रभाव में पडकर कितने ही सरपंच निरीह, दलहीन व्यक्तियों के विरुद्ध असत्य, अन्यायपूर्ण निर्णय देते देखे गये हैं; जिसके परिणाम स्वरूप सगठित होकर लोगों ने उनकी हत्या की है। जब छोटे-छोटे स्वार्थों के कारण लोग अपना सर्वनाश करने पर जुट गये हैं, तब क्या यह सम्भव नहीं है कि यथार्थवादी उपन्यासकार ज्ञान का दीपक लेकर उनके पास पहुँचे और मधुर, कोमल वाणी में उनसे कहे कि तुम्हारा मार्ग ठीक नहीं है, तुम क्षुद्र मनोवृत्तियों की तृप्ति के लिए ऐसे साधनों को अपना रहे हो जिनके द्वारा अपने कार्य का शतांश भी सम्पन्न नहीं करा पाते, उल्टे तुम्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। न्याय की गद्दी पर बैठकर न्याय करो, न्याय-जैसे रत्न को कौडियों के दाम पर मत बेचो, नहीं तो तुम्हारी गरदन नापी जायगी—यथार्थवादी उपन्यासकार ईश्वर के नाम पर न सही, क्या व्यावहारिकता के नाम पर भी यह सुझाव नहीं दे सकता? गाँवों को छोड़िए, वहाँ अधिकांश जन अनपढ़ हैं और अचानक अधिकार पाकर उन्मत्त हो गये हैं—ऐसा कहा जा सकता है। नागरिक जीवन के पढ़े-लिखे लोग तो और भी भयंकर भूल से अपने उत्तरदायित्व को भूलें हुए हैं। विचित्र बात यह हो रही है कि शोषित और शोषक का ठीक तौर से पता नहीं लगता। अवसर पाकर शोषित ही शोषक बन जाता है; जिससे सहायता मिलने की आशा रहती है, वही घातक गुप्त शत्रु के रूप में प्रकट होता है। अपने अधिकार पर आरुढ़ रहकर हानि उठा लेने, अन्याय के विरोध में सगठित होकर खड़े होने में आदर्शवाद नहीं है, यथार्थवाद है और यदि यथार्थवादी उपन्यासकार देश-भर में इस प्रकार की समस्याओं के व्याप्त रहने पर भी उन्हें अपनी कला के द्वारा हल करने की चेष्टा न करके केवल ऐसे विषयों पर लेखनी चलाता है, जिनका सम्बन्ध विषय-वासना से है और जिनके निरन्तर चिन्तन और मनन से मनुष्य शिथिल और अकर्मण्य हो जाता है, तो यही कहना पड़ेगा कि वह विषयगामी हो गया है और यह नहीं निर्णय कर सकता कि किम चीज को कितना अधिक अथवा कितना कम महत्त्व दिया जाना चाहिए। जाड़े में कम्बल बेचकर उसके

दाम से ऐसे ही शौकीन लोग रेशमी सूट बनवाते हैं ।

जैनेन्द्र जी का यह कहना शत-प्रतिशत सही है कि प्रेमचन्द्र जी केवल हिंदी-जगत् के नहीं, संसार के लेखक थे । उनकी महत्ता का यही रहस्य है कि आदर्शवाद की मान्यता रखते हुए वे सच्चे यथार्थवादी थे । उनका पहला उपन्यास 'सेवामदन' पूर्ण आदर्शवादी है और अन्तिम उपन्यास 'गोदान' पूर्ण यथार्थवादी । पशुत्व के किन स्थलों पर प्रहार करने से अनायास ही मानवत्व के सृजन का मार्ग परिष्कृत होगा, यह बात उन्होंने अच्छी तरह समझ ली थी । ग्रामीण और नागरिक—दोनों ही प्रकार के जीवन की नस-नस से वे अच्छी तरह परिचित थे । जमीदार, महाजन, सरकारी पदाधिकारी, प्रपंचपरायण नेता आदि की शोषण-प्रवृत्तियों से परिचित होकर इन्हीं-के रूप में दृग्गद दुर्बल मानवता को निगल जाने के लिए मुँह फैलाने वाली पशुता पर उन्होंने तीव्र आघात किये हैं, उनकी मार्थकता और प्रभावशीलता की ओर ध्यान जाते ही हम आज के वातावरण में उनकी शक्तिशालिनी लेखनी की अनुपस्थिति का अनुभव किये बिना नहीं रह सकते । मैं यह नहीं मानता कि उनकी-सी प्रतिभा आज के उपन्यासकारों में नहीं है, किन्तु यह कहने के लिए विवश हूँ कि लेखनी का संचालन करके समाज की कुछ सेवा कर जाने, पाठकों के हृदय में कुछ ऊँचे भाव उत्पन्न कर देने, उभरती हुई मानवता का चित्रण करके पशु-वृत्ति को किसी हद तक पराजित और अवरुद्ध बना डालने की उनमें दृढ़ लगन थी । उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि "साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है । यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और भसखरों का काम है । साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है । वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भाव का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है ।" मनुष्यत्व को जगाने का अर्थ ही है पशुत्व को सुलाना, उसका सहार करना । अपनी घोषणा के अनुरूप 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन', 'कर्मभूमि' आदि ग्रन्थों की उन्होंने रचना की, जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रेमचंद द्वारा हिंदी-उपन्यास में सृजनात्मक संहरण का एक सुन्दर मानदण्ड स्थापित हुआ ।

सृजनात्मक संहरण का जो उद्योग प्रेमचन्द्र जी ने जनता के लिए बोधगम्य रूप में किया उसीको प्रसाद जी ने अपनी दार्शनिक कलाकार-सुलभ अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण किंचित् जटिलता के साथ किया । 'कंकाल' में व्यभिचारियों की कथा है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु व्यभिचारियों को गौरवान्वित बनाना उसका उद्देश्य नहीं । पशुत्व को नग्न रूप में उपस्थित करके प्रसाद जी ने उसके रसास्वादन में निमग्न होने की कोई रुचि नहीं दिखाई । 'कंकाल' को पढ़कर पाठक

पशुत्व के दलदल में घँसने के लिए नहीं, उससे मुक्ति-लाभ करने के लिए उतावला होगा। 'इरावती' में 'बृहस्पतिमित्र' ब्रह्मचारी आदि के उद्गारों से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। 'दिल्ली का दलाल' से 'कंकाल' की कोई तुलना ठीक नहीं। वैसे तो कण्व ऋषि के आश्रम में शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम-प्रसंग अपने ही तक सीमित रहकर क्या उचित था ? किन्तु कालिदास ने उसकी परिणति दिखाकर उक्त प्रेम-घटना को कला की साधना के लिए साधन रूप में ग्रहण किया। उभय पक्ष में उत्तरदायित्व की भावना से शून्य होकर शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन व्यभिचार ही कहा जाता, किन्तु कलाकार की प्रतिभा द्वारा निर्मित परिस्थिति ने उसे मुक्ति प्रदान की और विकास प्राप्त करके उसे गौरवपूर्ण सम्बन्ध के रूप में परिणत कर दिया।

जैनेन्द्र जी की 'परख' में सृजनात्मक संहरण की उच्च कला का उद्घाटन हुआ है; किन्तु 'सुनीता' में न वे हरिप्रसन्न में मानवत्व जगा पाये और न पशुत्व का ही अन्त कर सके।

इलाचन्द्र जोशीजी के उपन्यासों में भी मानवत्व के विकास ही की ओर प्रवृत्ति दिखाई गई है। उनमें भी पशुवृत्ति के सहार द्वारा प्रगति का विधान किया गया है, उदाहरण के लिए 'परदे की रानी' में निरजना को इन्द्रमोहन द्वारा उसके गर्भवती होने पर मातृत्व का भार वहन करने की जो शिक्षा चंद्रशेखर गुप्त (गुरुजी) ने दी है, उससे यही ध्वनित है। इन्द्रमोहन आत्महत्या करता है, निरजना आत्महत्या के लिए तैयार होती है। इनमें से किसी को लेखक ने वह गौरव नहीं प्रदान किया है जो चन्द्रशेखर गुप्त को दिया गया है। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सृजनात्मक तत्त्व की शक्ति संहरण-सामग्री की शक्ति के अनुपात में कम है।

अज्ञेय जी की कृति 'शेखर : एक जीवनी' के सम्बन्ध में 'पाठको' और 'समीक्षको' के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई साधिकार कहता है कि मैं इस उपन्यास को पढ़ चुका हूँ और फिर बार-बार पढ़ूँगा, इसके सर्वथा विपरीत कोई कहता है कि कोई अन्य देश होता तो 'शेखर : एक जीवनी' के लेखक के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की गई होती। मैं यह मानता हूँ कि काम में लाई जाने वाली आधार-भूत सामग्री की मात्रा में यदि निर्माणात्मक तत्त्व को लेखक कम शक्ति प्रदान करेगा तो गलत-फहमी की गुञ्जाइश हो सकती है। यदि अनुपात ठीक रहे और पाठक में कलात्मक भावना का उदय हो सके तो जीवन का कोई भी कीचड़, कोई भी दूषण इतना मलिन नहीं है कि कला के विकास के लिए उसका उपयोग न हो सके। मेरी समझ में अज्ञेय जी उक्त उपन्यास में मानवता की पूर्ववर्ती सीमा को लॉचकर एकांत

पशु-वृत्ति के समर्थन में इतना अधिक डूब नहीं गए हैं कि उन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता अनुभव की जाय ।

प्रस्तुत प्रसंग में अन्य अनेक उपन्यासकारों की चर्चा भी की जा सकती थी। यदि यह चर्चा यहाँ नहीं की गई है तो इसका कारण उनकी अयोग्यता नहीं, वरन् इस निबन्ध की क्षुद्र काया ही इसके लिए उत्तरदायिनी है ।

अन्त में इतना और कह देना आवश्यक है कि हमारे वर्तमान उपन्यास-कार प्रेमचन्द्र जी की अपेक्षा प्रतिभा में कम नहीं हैं, उनकी अन्तर्दृष्टि बड़ी पैनी है, मार्मिक है । किन्तु उनमें एक बहुत बड़ा अभाव है—उनमें प्रेमचन्द की सी समाज-सेवा की लगन नहीं है, जन-साधारण के प्रति सच्ची सहानुभूति नहीं है, पीड़ित और दलित के उत्थान के लिए उमंग नहीं है । प्रेमचन्द जी की रचना-त्मकता को यदि वे थोड़ी मात्रा में भी अपना ले तो प्रकट रूप में बहुत अधिक प्रतीत होने वाली उनकी निषेधात्मकता, जो उनकी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों में कही-कही झाँकती दिखाई पड़ती है, बहुत-कुछ संतुलित हो जाय । यदि 'उपन्यास' नामक अपने इस कलमी पौधे को हम हिन्दी में स्थायी बनाना चाहते हैं तो आंतरिक और बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में र्थार्थवाद का आदर्शवाद से समन्वित, संतुलित रूप प्रकट होना चाहिए ।

इक्कीस ::

:: 'दिनकर' जी का 'कुरुक्षेत्र'

हमारे दैनिक जीवन ने जब सत्य का कोई स्वरूप नीरस, प्राणशून्य रूढ़ि का रूप धारण कर लेता है और हम स्वयं अनुभव करने लगते हैं कि हम किसी वधन में, कारागार में पड़ गए हैं, तब कवि ही स्वस्थ, सुन्दर, कल्याणकर तथा हमारे जीवन से अधिक घनिष्टता रखने वाला सरस सत्य लेकर हमारे सामने उपस्थित होता है और उसे ही स्वीकार करके, उसमें ही अपनी चित्तावृत्तियों को रमाकर, हम तदनु रूप अपने को ढालने लगते हैं। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गाँधी द्वारा प्रवर्तित अहिंसा उनके इने-गिने अनुयायियों को छोड़कर शेष अधिकांश लोगों को कभी प्रिय नहीं हुई। अहिंसा की निर्विवाद उपयोगिता होने पर भी लोगो ने उसके प्रति सौहार्द का भाव नहीं बढ़ाया। ऐसी अवस्था में उसके प्रति भक्ति के अभाव का स्थान विवश मान्यता के भाव ने ले लिया। क्रमशः लोगो में यह विचार बल संग्रह करने लगा कि अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार के लिए सात्त्विक अस्त्रों का उपयोग अनुचित नहीं है। इसी विचार-धारा को वाणी प्रदान करने के लिए 'दिनकर' जी ने 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य की रचना की है। इस दृष्टि से 'दिनकर' जी के इस काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है; उसने एक निर्जीव सत्य के स्थान में एक सजीव सत्य की स्थापना का प्रयत्न करके हिंदी-भाषी समाज की विचार-शक्ति को प्रेरणा देने के रूप में उसकी प्रशशनीय सेवा का उद्योग किया है। अपने इस उद्योग में वे कहाँ तक सफल हुए हैं, यही यहाँ विचारणीय है।

अपने नवीन सत्य की प्रतिष्ठापना के लिए कवि को महाभारत-संग्राम द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियाँ स्वभावतः बड़ी उपयुक्त और सहायक प्रतीत हुईं। उसमें विजय प्राप्त करके भी युधिष्ठिर उत्साह और उल्लास से युक्त न हो सके। अनुताप और ग्लानि ने उन्हें घेर लिया। वे सोचने लगे कि इस विजय से अच्छा तो यही होता कि हमने त्याग-भाव स्वीकार किया होता और सीधे-टेंडे किसी भी ढंग से अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न करने का निश्चय किया होता। अपनी शकाओं को लेकर वे भीष्म-पितामह के पास पहुँचते हैं और भीष्मपितामह उनका समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। महाभारत के इसी प्रसंग को लेकर दिनकर जी ने अपने 'कुरुक्षेत्र' की वस्तु-रचना की है। उन्होंने अपने संदेश का उपयुक्त वाहक बनाने के उद्देश्य से

भीष्मपितामह के चित्रण में कुछ मौलिकता से काम लिया है। उनका यह चित्रण कैसा है, इसके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा, यहाँ पहले इतना जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक अवस्था में त्याग और अहिंसा का पक्ष लेने के लिए इस काव्य में एक ओर युधिष्ठिर प्रस्तुत है, तो दूसरी ओर अन्याय के निराकरण-उद्देश्य को लेकर की जाने वाली हिंसा का समर्थन करने के लिए भीष्मपितामह उपस्थित है। किसकी वाणी में कवि की निश्चयात्मक वाणी अपनी गूँज पा रही है, यह पहचानना कठिन नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि सदेह की स्थिति में युधिष्ठिर है और व्याख्याता का पद भीष्मपितामह का है। ऐसी अवस्था में इस बात में कोई दुविधा नहीं रह जाती कि भीष्मपितामह की विचार-धारा स्वयं कवि की विचार-धारा है।

भीष्मपितामह के अपार त्याग और प्रायः अमानुषिक ब्रह्मचर्य-संकल्प के कारण मानव-मात्र की श्रद्धा उनकी ओर सहज ही उमड़ती है, तथापि दुर्योधन के प्रति अनुचित पक्षपात तथा द्रौपदी के महान् सकट-काल में भी सहज कर्तव्य-पालन-सम्बन्धी उदासीनता ने उनके चरित्र पर कलक की एक रेखा खींच दी है। दिनकर जी ने उनके व्यक्तित्व के भीतर छिपे हुए अनेक मार्मिक स्थलों का उद्घाटन किया है, जिससे पाठक के सामने उनका एक पूर्ण स्वरूप उपस्थित होता है और वह उनके लिए सहानुभूति से प्रेरित हो जाता है। भीष्मपितामह की वाणी को प्रभावशाली बनाने के लिए उनका यह कवि-कौशल सराहनीय हुआ है।

अपने को धिक्कारते हुए भीष्मपितामह कहते हैं :

“धिक्, धिक् मुझे, हुई उत्पीड़ित सम्मुख राज बधूटी।”

× × × × ×

“और रहा जीवित मैं, धरणी फटी न दिग्गज डोला,

गिरा न कोई वज्र, न अम्बर गरज क्रोध में बोला।”

वे अपना पतन स्वीकार करते हैं :

“सदा सुयोधन के कृत्यों से मेरा क्षुब्ध हृदय था।

पर क्या करता ? यहाँ सबल थी नीति, प्रबलतम नय था ॥

अनुशासन का स्वत्व सौंपकर स्वयं नीति के कर में।

पराधीन सेवक बन बैठा मैं अपने ही घर में।”

वीरता का पतन किस प्रकार होता है, इसका वर्णन भी भीष्मपितामह ने बड़ी ही सचाई के साथ किया है :

“यौवन चलता सदा गर्व से सिर ताने शर खींचे।

भुक्तने लगता किंतु क्षीण बल वय-विवेक के नीचे ॥

किन्तु बुद्धि नित खड़ी ताक में रहती घात लगाये ।
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो, कब वह उसे दबाये ॥

× × × ×
“जीवन की है श्रान्ति घोर हम जिसको बय कहते हैं ।
थके सिंह आदर्श ढूँढते व्यंग बाण सहते हैं ॥”

× × × ×
“बात पृष्ठने को विवेक से जभी वीरता जाती ।
पी जाती अपमान पतित हो अपना तेज गँवाती ॥”

भीष्मपितामह का कहना है कि विवाह न करने के कारण उन्होंने दुर्योधन को अपना स्नेह दिया और उसी स्नेह के प्रकाश में अपना यौवन-काल व्यतीत कर दिया । वृद्धावस्था ने उन्हें और उनकी वीरता को विवेक के हवाले करके उनकी कार्यकारिणी-शक्ति नष्ट कर डाली । इन स्वीकारोक्तियों के द्वारा उनका चरित्र तपे हुए सोने की तरह खरा उतर आया है ।

धर्मराज युधिष्ठिर के सम्बन्ध में भी लोग प्रायः कहा करते हैं कि युद्ध में भाग लेना उनके लिए उचित नहीं था । शायद ऐसे ही शंकालुओं का समाधान करने के लिए कवि ने उनकी स्वीकारोक्तियों की भी नियोजना की है । धर्मराज अपनी विजय को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

“अयि विजय, रुधिर से विलग्न वसन है तेरा,
यमदंष्ट्रा से बया भिन्न दसन है तेरा ?”

× × × ×
ओ कुरुक्षेत्र की सर्वप्रासिनी काली !
मुख पर से तो ले पोंछ रुधिर की लाली ॥”

× × × ×
धन ही परिणाम है युद्ध का अन्तिम
तब इसे यदि जानता मैं”

× × ×
फिर से कहता हूँ पितामह ! तो
यह युद्ध कभी नहीं ठानता मैं ।

युधिष्ठिर इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज-सिंहासन के लोभ ही से पाण्डव इस युद्ध में सम्मिलित हुए । उनका कहना है कि जब तक उनमें यह लोभ प्रबल रूप से विद्यमान है तब तक संग्राम में विजेता होकर भी वे वास्तव में विजेता नहीं हैं, अतएव वे निर्णय करते हैं कि इस लोभ को जीतने के लिए एक और रण

करना उनके लिए आवश्यक है :

“यह होगा महा रण राग के साथ,
युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा ।
वर संस्कृति की रण-छिन्न लता पर,
शांति-मुधा फल दिव्य फलेगा ॥”

फिर भी युधिष्ठिर की स्वीकारोक्तियों में एक कसर है । उन्होंने यह कहती नहीं स्वीकार किया कि अनर्थ का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व उनकी जूआ खेलने की दूषित प्रवृत्ति पर था । अस्तु ।

हमारे जीवन में देव पक्ष के साथ-साथ दानव पक्ष सदैव क्रियाशील रहा है । देवपक्ष का प्रतिनिधित्व करनेवाले अनिवार्य होने पर ही युद्ध करते हैं और युद्ध में विजयी होने पर भी इस बात के लिए खेद करते हैं कि उनके द्वारा हिंसात्मक कार्य होने के कारण समाज में कष्ट का संचार हुआ । युधिष्ठिर इसी पक्ष के प्रतिनिधि हैं ।

दानव पक्ष के प्रतिनिधिगण आवश्यकता न होने पर भी युद्ध करने के लिए बहाने ढूँढा करते हैं । वे अश्व-शस्त्र की भाषा ही समझ सकते हैं । अतः ऐसे लोगों को जीवन-सत्य समझाने के लिए युद्ध की भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है । दुर्योधन इसी पक्ष के प्रतिनिधि थे और भीष्मपितामह ऐसे ही विपक्षगामी दुर्योधन के पृष्ठपोषक थे ।

युधिष्ठिर और भीष्मपितामह के संवाद में दोनों की सत्यनिष्ठा सराहनीय है, युधिष्ठिर युद्ध की निंदा करते हैं और भीष्मपितामह युधिष्ठिर के युद्ध को ‘ज्वलित प्रतिशोध’ पर आश्रित होने के कारण सर्वथा उचित ठहराते हैं । यही नहीं, वे तो यह कहते हैं कि जब तुम्हारे स्वत्व का हरण हो रहा है तब त्याग और तप से काम लेना ही पाप है । भीष्मपितामह का माध्यम लेकर कवि ने और भी बहुत-सी बातें स्पष्ट रूप से कही हैं, जिन्हें विचारार्थ ध्यान में रखना आवश्यक होगा । ये इस प्रकार हैं— (१) आह का अवलम्ब लेना उस व्यक्ति के लिए विचारणीय हो सकता है जो ‘बद्ध, विदलित और साधनहीन’ है, भुजाओं में शक्ति रखनेवाले को तो लड़ना ही होगा । (२) धर्म, तप, कर्षणा, क्षमा आदि व्यक्ति की शोभा है, किन्तु समुदाय का प्रश्न उपस्थित होने पर हम इन्हें भुलाने के लिए विवश हो जाते हैं । (३) मनोबल देह का शस्त्र नहीं हो सकता, उसका क्षेत्र वह मनोमय भूमि है जहाँ मनुष्य अपने ‘ज्वलन्त विकार’ से लड़ता है । (४) केवल आत्मबल को साधन बनाकर जूझने वाला देह के संग्राम में विजयी नहीं हो सकता । क्योंकि :

“पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,

आत्मबल का एक वश चलता नहीं।”

(५) तप और त्याग की शक्ति का प्रभाव व्यक्ति के मन पर तो पड़ सकता है, किन्तु जहाँ समुदाय का सम्बन्ध आ जायगा वहाँ योगियों की शक्ति से वह कभी पराजित नहीं हो सकता।

उक्त समस्त स्थापनाओं पर विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हिंसा के द्वारा ही हिंसा का उत्तर सफलतापूर्वक दिया जा सकता है। निस्सन्देह कवि ने आक्रामक हिंसा का पक्ष-समर्थन नहीं किया है—वह हिंसा जो, आक्रमणकारी दानव पक्ष-समर्थक दुर्योधन की है, उन्होंने केवल उस हिंसा का आवाहन उचित माना है जो देव पक्षपोषक, आत्मरक्षक युधिष्ठिर की है। कवि का कथन वहाँ तक तो सर्वथा उचित है जहाँ तक आक्रामक और आत्मरक्षक दोनों ही स्वार्थ-साधन में भौतिक दृष्टिकोण को ही महत्त्व देते हैं। दुर्योधन अपने अधिकार के बाहर भी राज्य चाहता है, इससे कुछ उतरकर युधिष्ठिर अपने अधिकार के भीतर राज्य चाहता है, इसमें सन्देह नहीं कि सासारिक सुखोपभोग के लिए प्रचुर भौतिक साधनों से सम्पन्न होने की वासना दोनों ही में है। अतएव, अधिकार किसे मिले और किसे न मिले—इसका निर्णय रक्तपातपूर्ण संग्राम के द्वारा ही हो सकता है: ऐसे अवसर पर यदि कोई अहिंसा-सिद्धान्त के पालन का आग्रह करे तो यह मानना पड़ेगा कि उसमें बहुत अधिक भोलापन है। सासारिक विलासिता की सामग्री एकत्र करने के लिए अहिंसा का उपयोग निरर्थक है, भले ही उसके द्वारा किसी को न्यायोचित अधिकार प्राप्त हो सके।

सच बात तो यह है कि महाभारत-काल में संग्राम के हिंसात्मक साधनों की इतनी प्रचुरता हो गई थी कि अहिंसात्मक संधर्ष की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। किन्तु यदि उसकी सम्भावना होती तो क्या अहिंसात्मक युद्ध का यह रूप होता कि एक ओर कौरवों की सेना खड़ी होती और दूसरी ओर अहिंसक पाण्डव खड़े होते ? नहीं, अहिंसात्मक संग्राम का संचालन इस प्रकार नहीं होता।

यदि युधिष्ठिर अहिंसात्मक संघर्ष में रत होते तो सबसे पहले आत्मशुद्धि के रूप में वे जूआ खेलना बंद करते, उसके अनन्तर उन्हें राज्य-प्राप्ति की वासना को त्यागकर साधारण श्रमिक का जीवन स्वीकार करना पड़ता, साथ ही दुर्योधन के प्रति वे सच्चा स्नेह रखते और अपने स्नेह के लिए कोई बदला न माँगते। त्याग के इस वातावरण में यह पूर्ण सम्भव है कि दुर्योधन का दुराग्रह शिथिल पड़ता और वह प्रेमपूर्वक उनके सुखमय जीवन-निर्वाह का कुछ प्रबन्ध कर देता। सामान्य श्रमिक का जीवन हम स्वीकार नहीं करेंगे, हम राजा ही होकर रहेगे, अहिंसा का

पुजारी इस प्रकार का आग्रह नहीं करता ।

व्यक्ति हो अथवा समुदाय, वासनामय जीवन-साधन के संग्रह-निमित्त अथवा जीवन के प्रति मोहमय दृष्टिकोण-निर्वाह के उद्देश्य से अहिंसात्मक साधनों का अवलम्ब लेकर लाभ नहीं उठा सकता । व्यक्ति और समुदाय दोनों ही को यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि अहिंसात्मक संग्राम की शैली और उसके साधन, हिंसात्मक संग्राम की शैली और उसके साधनों से सर्वथा भिन्न हैं, और अहिंसात्मक संग्राम की सफलता के लिए भी उसी प्रकार तैयारी करनी पड़ती है जिस प्रकार हिंसात्मक संग्राम के लिए । कहने की आवश्यकता नहीं कि पाण्डवों में अहिंसात्मक संघर्ष की क्षमता नहीं थी और आवश्यक क्षमता-प्राप्ति के लिए उन्हें साधना करनी पड़ती । इसके विपरीत हिंसात्मक संग्राम के लिए धन्वा-वाण से वे सदैव सज्जित रहते थे । उनकी इसी तैयारी के कारण परिस्थितियाँ इस प्रकार विकसित हुई कि उन्हें हिंसात्मक संग्राम में भाग लेने के लिए बाध्य होना पड़ा । ये परिस्थितियाँ अनिवार्य नहीं थी, साधना के अभाव ही में उन्होंने भयानक रूप धारण किया । आखिर अयोध्या की राजगद्दी पर रामचन्द्र का भी तो अधिकार था । यदि लक्ष्मण ऐसा समर्थक पाकर उन्होंने कंकयी की इच्छा-पूर्ति के विरुद्ध युद्ध ठान दिया होता तो क्या उन्हें कोई दोषी ठहराता ? और इसमें भी सन्देह नहीं कि विजय उन्हींकी होती । किन्तु रामचन्द्र ने अपने अधिकार का त्याग किया और इस त्याग के द्वारा और अधिक महान् होकर जनता के हृदय-सम्राट् बने । उन्होंने राज्य को लात मारकर वनवासी का जीवन स्वीकार किया । उनके उच्च-कोटि के त्याग ने राज-लक्ष्मी को उनका चरण चूमने के लिए बाध्य कर दिया । यहाँ हमारे सामने प्रश्न यह खड़ा होता है कि जिस मार्ग पर रामचन्द्र चल सके, उस पर युधिष्ठिर और उनके भाइयों के पाँव क्यों गतिशील नहीं हो सके ? इसका असंदिग्ध उत्तर यही है कि पाण्डवों में अहिंसात्मक संघर्ष चला सकने की क्षमता नहीं थी, उसके लिए आवश्यक मात्रा में उदारता और त्याग-भावना का उनमें अभाव था ।

युधिष्ठिर ने बात आरम्भ में नहीं समझी, किन्तु युद्ध का कुपरीणाम देखकर उन्हें असह्य आघात लगा और उन्हें सन्देह हुआ कि उनसे कही भूल हो गई है । वे भीष्मपतामह से कहते हैं :

“कुछ के अपमान के साथ पितामह,

विश्व-विनाशक युद्ध को तोलिये ।

इनमें से विघातक पातक कौन—

बड़ा है ? रहस्य विचार के खोलिये ।”

किन्तु 'कुरुक्षेत्र' के 'भीष्मपितामह' के पास युधिष्ठिर के युद्ध को उचित ठहराने के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं है। सातवें सर्ग में उन्होंने श्रम के महत्त्व की घोषणा की है, किन्तु इस सम्बन्ध में कहीं एक शब्द भी नहीं कहा है कि राज्य-लोभ से विरत रहकर श्रमिक-जीवन-यापन स्वीकार करना, भ्रान्तिमग्न भाइयों के प्रति युद्ध की नीति न ग्रहण करके प्रेम का व्यवहार करना युधिष्ठिर के लिए अधिक ऊँचा और श्रेयस्करो आदर्श होता।

युधिष्ठिर अपने प्रश्न को और भी सरल बनाते हुए कहते हैं कि इस ध्वंस के द्वारा हमें जिस सुख की उपलब्धि हुई है वह उचित है या शान्ति के मार्ग पर चलते हुए आँसू का उपहार लेकर प्रस्तुत होने वाला दुःख सहन करना उचित होता ? किन्तु कवि ने प्रश्न को यह रूप देकर उसे विकृत कर दिया है। यह क्यों मान लिया जाय कि राज्य के न मिलने पर युधिष्ठिर उसके लिए जीवन-भर रोने ही रहते ? बिना संतोष के शान्ति का मिलना सम्भव ही नहीं हो सकता था। जीवन भर राज्य के मोह में मग्न होकर रोने रहने की तुलना में तो युद्ध ही का मार्ग उचित था, किन्तु यदि युधिष्ठिर का उद्देश्य यह मान लिया जाय कि वे संतोष और परिश्रमपूर्ण जीवन से अधिकार-मान्य युद्ध की तुलना करना चाहते हैं तो स्पष्ट रूप से यह कहना होगा कि महाभारत-संग्राम के एक पक्ष का नेतृत्व करके उन्होंने उचित नहीं किया, वह संग्राम उन्होंने भले ही अपने स्वयं की रक्षा के लिए किया हो और भीष्मपितामह को भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि शान्ति का उक्त मार्ग मानव सभ्यता को विकास की ओर ले चलता। इस प्रकार यह देखा जायगा कि जीवन में मनोबल, अहिंसा, प्रेम आदि आधारों का विरोध करने की पुनः कवि ने भीष्मपितामह को उस योग्यता से वंचित कर दिया है जो युधिष्ठिर को किसी ऊँचे लक्ष्य की ओर ले चलती। अपने प्रस्तुत रूप में भीष्मपितामह युद्ध-भावना से अभिभूत जान पड़ते हैं और युद्धकाल में वे जितने ही प्रचण्ड विरोधी थे, युद्ध के समाप्त होने पर युधिष्ठिर-पक्ष के उतने ही बड़े समर्थक हो गए हैं। खेद है, भीष्मपितामह का यह चित्रण संतोषजनक नहीं है। एक बहुत बड़े सिद्धान्त पर आक्रमण करने के लिए मन्त्रित होने पर कवि के लिए युधिष्ठिर के पक्ष का जैसे सरल रूप में उपस्थित करना आवश्यक था उसका भी अभाव दिखाई पड़ता है। अतएव यह कहना पड़ता है कि अपने दृष्टिकोण को सबल अभिव्यक्ति प्रदान करने की उमंग में कवि ने युधिष्ठिर-पक्ष के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है और युधिष्ठिर का एक धुँधला व्यक्तित्व ही हमारे सामने खड़ा होता है।

हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि कवि ने इस काव्य में महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक संघर्ष-सम्बन्धी सिद्धान्त का विरोध करना चाहा

है। किंतु मनोबल और आत्म-बल की उपयोगिता पर जिस प्रकार आक्रमण किया गया है और काव्य के निर्माण का जिस काल से सम्बन्ध रहा है उसे ध्यान में रख कर विचार करने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि अहिंसा के राज-नैतिक प्रयोगों में अस्वाभाविकता देखकर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया को काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करना उसका उद्देश्य रहा है। किन्तु भीष्मपितामह और युधिष्ठिर दोनों ही के चित्रण में कही-न-कही त्रुटि होने के कारण हम इस सम्बन्ध में किसी परिणाम पर पहुँच नहीं पाते, हमें किसी प्रकार का नेतृत्व नहीं प्राप्त होता। हम यह नहीं समझ पाते कि आखिर हम क्या करें? एक ओर तो हमें बताया जाता है कि मनोबल, आत्मबल आदि से कुछ नहीं होने का, दूसरी ओर हमसे यह कहा जाता है कि हम विज्ञान की सहायता लेकर नये-नये शस्त्रों का आविष्कार करें। यदि यह सच है कि युद्ध अनिवार्य है तो यह भी सच है कि नये अस्त्रों के अनुसन्धान के लिए उद्योग निरन्तर जारी रहेगा। यदि कोई चाहता है कि नर-हंसारकारी आविष्कारों का अंत हो तो उसे उन साधनों की खोज करनी पड़ेगी जो युद्ध की आवश्यकता को कम करें। मनोबल और आत्मबल के प्रयोग द्वारा हम अपने मतभेद और वैमनस्य की समस्या को जितना कवि ने समझा है उससे कहीं अधिक दूर तक हल कर सकते हैं। किन्तु जैसा कि मैं कह आया हूँ, यह कदापि प्रभव नहीं है कि भौतिक वासनाओं की समस्त माँगों की पूर्ति के लिए उस मत के मानने वाले हिंसात्मक सग्राम की सेनाओं के सामने कुरुक्षेत्र के मैदान में खड़े किये जा सकें। देह और आत्मा में जितना अन्तर है उतना ही अंतर हिंसात्मक और अहिंसात्मक रण की शैलियों में भी रहेगा।

छठे सर्ग में मनुष्य की नीचता का वर्णन किया गया है। कतिपय पंक्तियाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत की जाती हैं।

“एक छोटी, एक सीधी बात ।

शिव में छाई हुई है वासना की रात ॥

× × ×

बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच ।

यह बचन से देवता पर कर्म से पशु नीच ॥

जीवन में यदि मनोबल और आत्म-बल का उपयोग घटाया जायगा तो मनुष्य की यह नीचता घटेगी नहीं, बढ़ती ही जायगी।

यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि आत्म-रक्षा का कोई साधन शेष न रह जाने पर सीमित मात्रा में हिंसात्मक सग्राम की उपयोगिता सदैव बनी रहेगी। उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकेगा। सच पूछिए तो हिंसा और अहिंसा में से

किसी एक के बहिष्कार की नहीं, दोनों ही के समन्वय की आवश्यकता है। साथ ही हिंसा के स्थान में अहिंसा पर बल देना अधिक हितकर होगा।

देश के लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है कि महात्मा गांधी के सिद्धांतों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति न प्राप्त होने के कारण जनता का उनके प्रति सौहार्द न बढ़ सका और उस दिशा में कोई प्रयत्न आरम्भ होने के पहले ही उनके विरोध में प्रतिक्रिया शुरू हो गई। काव्य में इस प्रतिक्रिया का नेतृत्व 'दिनकर' जी ने किया है, किंतु अहिंसा और आत्मबल पर, अपना मार्ग प्रशस्त करने के लिए जैसा आघात उन्हें करना चाहिए था, वे नहीं कर सके हैं।

इस काव्य में ओज, प्रवाह, सद्बिचार-संग्रह आदि की कमी नहीं है; भाषा सरल और प्रभावशालिनी है; सन्यास के विरोध में समाज-सेवा का सन्देश, श्रम-सिद्धांत, जीवन-साधनों का सम वितरण आदि विचारों की सजावट सुन्दर है; किंतु अपनी मूल स्थापना को सशक्त न बना सकने के कारण यह साहित्य के इतिहास में स्थान पाने योग्य किसी प्रकार की क्रान्ति करने में असमर्थ रहेगा।

बाईस ::

:: विवेचना की आवश्यकता

हिंदी-साहित्य सत्य के नव-नव क्षेत्रों को अधिकृत करता हुआ उस द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है, जो चकित करने वाली भले ही न हो, किन्तु उचित मात्रा में संतोषजनक तो अवश्य ही है। उसने अपने जीवन के आरम्भ-काल ही में हिन्दी-भाषा-भाषी समाज की पराधीनता से उत्पन्न होने वाली समस्याएँ अपने सामने पाईं। उक्त समाज की मानसिक स्थिति के पतन के साथ-साथ उसने भी अपने-आपको नीचे उतारकर यथासंभव उसका मनोरंजन और कल्याण-साधन किया, और अब आधुनिक युग में, हिंदी के राष्ट्रभाषा रूप में समादृत होने पर, वह एक बहुत बड़े उत्तरदायित्व को, भारतीय व्यक्ति-साधना और भारतीय सामाजिक आदर्श—राष्ट्रीयता—के सामंजस्य-सदेश के भार को, अपने अनभ्यस्त कंधों पर लेकर चल रहा है। अतएव उसका आगे का पथ किस प्रकार कम-से-कम कंटकाकीर्ण रह सकेगा, इसके सम्बन्ध में हम हिंदी-साहित्य-सेवियों को समय-समय पर कुछ विचार करते रहना चाहिए। इसी उद्देश्य से मैं यहाँ पाठकों की सेवा में कुछ पंक्तियाँ निवेदन कर रहा हूँ।

सबसे पहले हम व्यक्ति-साधना और उक्त आदर्श राष्ट्रीयता के स्वरूप के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विचार कर ले, क्योंकि इसके बिना हम इन दोनों के सामंजस्य-स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। व्यक्ति-साधना का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक विचार धारा, भावना, वाणी और कार्य-कलाप आदि के द्वारा सम्पन्न होने वाली उसकी अभिव्यक्ति से है। इसी प्रकार राष्ट्रीयता का संबंध उस विचार सरणि और भाव-लहरी से है, जो भारतीय समाज के अधिकांश व्यक्तियों के मस्तिष्क और हृदय को अभाव-विशेष का अनुभव कराकर समान रूप से मथ रही है। यह प्रवृत्ति कोटि कोटि हृदयों को एक ही ढंग से प्रभावित कर रही है। इसका अर्थ है कि यह एक विशाल सामूहिक सगठन का आधार बनाई तथा एक महती शक्ति के रूप में परिणत की जा सकती है। जिस प्रवृत्ति से व्यक्ति साधना को बल मिलता है, वह उक्त प्रवृत्ति से अनेक अंशों में भिन्न है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति का एक रूप यह भी हो सकता है कि वह राष्ट्रीयता के प्रवाह में अपने-आपको विसर्जन करे। अतएव यदि व्यक्ति-साधना और राष्ट्रीयता नामक अपने वर्तमान सामा-

जिक आदर्श के क्षेत्र-विस्तार को हम हृदयंगम करना चाहें, तो यह कह सकते हैं कि व्यक्ति साधना के विशाल वृत्त के घेरे में उक्त राष्ट्रीयतागत आदर्श तो सन्नि-विष्ट हो सकता है, किंतु राष्ट्रीयतागत आदर्श के भीतर व्यक्ति-साधना अपने सम्पूर्ण रूप में खप नहीं सकती। व्यक्ति-साधना का क्षेत्र विस्तृत है, चिरंतन है, सार्वभौम है, इसके विपरीत राष्ट्रीयतागत उपर्युक्त आदर्श काल विशेष की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अवतीर्ण हुआ है। दोनों के सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करने के लिए प्रकृति के विशाल भांडार से उपमा लेना चाहे, तो यो कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति-साधना अपरिमित नील गगन के सदृश है, तो उसमें राष्ट्रीयतागत सामाजिक आदर्श पूर्ण चंद्र के समान है; जिस पर एकाएक सभी की दृष्टि केन्द्रित हो जाती है।

व्यक्ति-साधना के आलंबन के रूप में प्रकृति, मनुष्य और ईश्वर, तीनों ही का उपयोग किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति के प्रेम में उन्मत्त होकर यदि एक कवि वर्डस्वर्थ का रास्ता पकड़ता है, दूसरा बिहारीलाल अथवा मैथिलीशरण गुप्त का और तीसरा तुलसीदास का, तो इस निर्वाचन के संबंध में हमें कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता देनी पड़ेगी। साथ ही समाज का भी इसीमें विशेष लाभ है कि कवि अपने काव्य के लिये जिस प्रिय आलंबन को ग्रहण करना चाहता है, उसे छोड़कर दूसरे आलंबन को ग्रहण करने के लिये वह विवश न किया जाय। उदाहरण के लिए यदि कोई कवि नारी-सौंदर्य ही को आधार बनाकर कलात्मक सृष्टि करना चाहता है, तो उसे उस ओर से हटाकर वीर रस की कविता लिखने के लिए बाध्य करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। जैसे भूषण तुलसीदास नहीं हो सकते, वैसे ही तुलसीदास भूषण या बिहारीलाल नहीं हो सकते। भूषण को भूषण, तुलसीदास को तुलसीदास और बिहारीलाल को बिहारीलाल ही रहने देकर समाज ने जो लाभ उठाया है, उनकी अनमोल कृतियों के रूप में जो अक्षय वैभव प्राप्त किया है, वह इसी कारण संभव हो सकी है कि उक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के पूर्ण विकास के लिए अवसर पाया।

कवियों की अभीष्ट स्वतंत्रता उन्हें सहज ही नहीं प्राप्त हो सकती। वे भी समाज के अंग हैं, और उसीसे अपना पोषण प्राप्त करते हैं। समाज के सुख-दुःख हर्ष विषाद, आशा निराशा आदि से वे अप्रभावित नहीं रह सकते। ऐसी अवस्था में जब समाज का एक-एक व्यक्ति व्यक्ति-साधना के एक विशेष रूप को महत्व देकर उसे समाजगत साधना के रूप में अपनाता है तब कवि उसमें सम्मिलित होकर अपना सहयोग क्यों न प्रदान करेगा, इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए।

इस कारण की घोषणा स्पष्ट रूप से करके कवि को यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि समाज-स्वीकृत साधना का स्तर उसकी व्यक्ति-साधना के स्तर से नीचा है। इस प्रमाण के अभाव में उसे समाज की आलोचना का शिकार होना पड़ेगा, और यह आलोचना तब तक होती रहेगी, जब तक कवि की नीचे स्तर की व्यक्ति-साधना समाज-स्वीकृत साधना की बराबरी में नहीं आती। जैसे सूर्य ससार का अधिकार नष्ट करता है, वैसे ही समाज अपनी आलोचना द्वारा कवि को निम्न कोटि की व्यक्ति-साधना के प्रलोभनों से मुक्त करता है, और अपने सहार-कार्य से तब तक विरत नहीं होता, जब तक कवि या तो समाज-स्वीकृत साधना के स्तर पर नहीं पहुँच जाता, या अपनी व्यक्ति-साधना को समाज-साधना से ऊँची नहीं प्रमाणित करता। समाज-सम्मत साधना के स्तर पर पहुँचकर कवि लोक-सम्मान प्राप्त करता है, और उससे भी ऊँचा उठकर वह सर्वकालीन, सार्वभौम, चक्रवर्ती कवि हो जाता है, उसके सिर पर अमरता का वह मुकुट बँधता है, जिसकी मणियाँ कभी धूमिल नहीं होती।

कवि को प्रचलित लोकमत और आदर्श की अवज्ञा नहीं करना चाहिए, उसे ग्लानि पहुँचाने वाली कोई बात नहीं करनी चाहिए। समाज में वह मूर्तिमान् शकर है। उम्रे चमड़े की दो आँखें तो प्राप्त होती ही हैं, उनके सिवा एक और आँख होती है, जिसे कल्पना की आँख कहते हैं। समाज के सपूर्ण कलुष का नाश करने के लिए उसे उचित समय पर यह तीसरी आँख खोलनी चाहिए। जिस कवि में तीखी कल्पना नहीं, दोषों में गहराई तक पहुँचने वाली दृष्टि नहीं, उसे कवि-कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। समाज का नेतृत्व करने के स्थान में जब कवि उसकी कटु आलोचना का पात्र बनता है, तब एक शोचनीय दृश्य उपस्थित हो जाता है। सूर्य अगर ठंडा पड़ जाय और ससार को गरमी न दे, बादल पानी न दे, पृथ्वी अन्न न दे, तो इन सबको आलोचना से कौन बचा सकता है? इसी तरह ठंडे पड़े हुए कवि को आलोचना से कोई नहीं बचा सकता। उसके त्राण का केवल एक पथ है। यदि वह लोकोत्तर सत्य का अनुसंधान करके उसका गान नहीं कर सकता, तो कम-से-कम उसे लोक-सम्मत सत्य की, आदर्श की आराधना तो करनी ही चाहिए, लोक-साधना को तो अपनाना ही चाहिए।

मैंने अभी कहा है, लोक-सम्मत आदर्श साधना को अपनाने से कवि को लोक-सम्मान प्राप्त होता है। लोक-सम्मान बड़ी मीठी चीज है, उसमें एक गहरा नशा पैदा करने की शक्ति है। इसलिए कभी कभी लोक-सम्मत ही में परितोष प्राप्त कर लेना कवि के लिए हानिकर हो सकता है। जिस समय समाज में साधना का सर्वथा अभाव हो जाता है, जब उसका जीवन लगभग पशु-जीवन के स्तर पर आ जाता है,

तब भी समाज-सम्मति ही मे अपनी कला की तृप्ति पाने का अर्थ यह है कि कलाकार अत्यंत हीन श्रेणी की भावुकता मे अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। कालांतर में जब किसी अज्ञात विश्व-प्रेरणा से समाज की निद्रा भंग होती है, तब वह अपने कवियों की चौकसी का भी लेखा लेने लगता है, और जब वह देखता है कि उन्होंने उचित समय पर आवश्यक दूरदर्शिता और सतर्कता से काम नहीं लिया, तब उनकी कटु आलोचना करने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं, कवि के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं कि वह समाज के स्वर-मे-स्वर मिलाये, प्रचलित लोक-मत और जीवन-शैली मे अपने-आपको भी सम्मिलित कर दे, बल्कि यह भी आवश्यक है कि वह रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दे। समाज की प्रत्येक स्थिति मे कहीं-न-कहीं अपूर्णता रहती ही है, यही अपूर्णता मिटाने के लिए कवि को उचित है कि वह कोई-न-कोई रचनात्मक आदर्श समाज के सामने उपस्थित करे। अतएव समाज के प्रचलित लोक-मत और मे कवि का विश्राम करना उचित नहीं, क्योंकि यह सभी अवस्थाओं मे निर्दोष नहीं आदर्श होता।

यदि हम हिंदी-साहित्य की विभिन्नकालीन परिस्थितियों पर एक बार दृष्टि-पात करें, तो ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह पाठको को बहुत आसानी से हृदयगम हो जायगा। हिंदी के आदिकवि चंद बरदाई ने अपने काव्य मे प्रचलित आदर्श और लोक-मत ही का निर्वाह किया। असदिग्ध रूप से उनमे महान् कवि की दृष्टि नहीं थी। यदि होती, तो भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के राजा जिस प्रकार सुन्दरी स्त्रियों का हरण करने अथवा बलपूर्वक डोला लेने तथा उसके परिणाम-स्वरूप मार-काट करने मे प्रवृत्त होत थे, उसमे समाज की निर्जीवता का अनुभव करके वह उसका प्रतिवाद तो करते ही। कबीर ने प्रचलित आदर्श—हिंदू-मुस्लिम-एकता—का सदेश तो अपने काव्य मे दिया ही, साथ ही उससे ऊँचे उठकर मनुष्य-जीवन की आध्यात्मिक व्याख्या भी करने की चेष्टा की। सूरदास और तुलसीदास ने भी यही किया। केशवदास, भूषण, बिहारी, मतिराम, पद्माकर और भारतेन्दु ने भिन्न-भिन्न समय के समाज मे प्रचलित आदर्श को काव्य मे व्यक्त करने के अतिरिक्त कुछ विशेषता नहीं प्रदर्शित की। ऐसी अवस्था मे जो आदर कबीर, सूरदास और तुलसीदास का होगा, और समाज की भिन्न-भिन्न स्थितियों मे भी होता रहेगा, वह उक्त अन्य कवियों को नहीं प्राप्त हो सकता। कबीर आदि ने लोकाराधना की, किंतु अपनी व्यक्ति साधना को उससे ऊँचा रक्खा। अन्य कवियों ने अपेक्षाकृत हीन प्रतिभा, अथवा यश, सम्मान, धन आदि की कामना से प्रेरित होकर अपने-आपको लोक-सम्मति ही मे समाप्त कर दिया।

वर्तमानकालीन कवियों और रचनाकारों को एक विशेष सुविधा प्राप्त है,

जिसका पिछले युगों के कवियों और रचनाकारों को अभाव था। वह सुविधा है समालोचना। जहाँ पिछले युगों के कवि बहुत समय तक प्रमाद में निमग्न होकर उड़े रह सकते थे, अपनी त्रुटियों से स्वयं को तथा अपने श्रोताओं और पाठकों को अपरिचित रखकर झूठी डींगें हाँकते रह सकते थे, वहाँ आधुनिक युग के कवि को सजग करने वाली, असमर्थताओं का बोध कराने वाली समालोचना का आजकल अभाव नहीं है। दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों के लेखों और नोटों की बात जाने दीजिए, आज के मध्यम श्रेणी के कवियों तक के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं। यदि पिछले युगों के कवि आज जीवित होते, तो शायद आधुनिक काल के कवियों के सौभाग्य को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते।

कितु हमें असदिग्ध रूप से यह भी समझ लेने की आवश्यकता है कि किस तरह की समालोचना से हमारा विशेष कल्याण हो सकता है। आजकल समालोचना की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं, एक ओर तो वे अति प्रशंसात्मक हैं, और दूसरी ओर अति निंदात्मक, जिसका स्पष्ट रूप से यह अर्थ है कि उनमें मिथ्या का अंश अधिक और सत्य का अंश कम होता है। कवियों की कीर्ति-लोलुपता प्रसिद्ध है, वे अपनी रचना में इतने लिप्त रहते हैं कि उसके दोषों को पहचानना उनकी शक्ति से बाहर की बात हो जाती है। ऐसी अवस्था में अपनी रचनाओं का अतिरिजित मूल्य आँकना उनके लिए स्वाभाविक ही है। कितु अन्य लोगों को तो उनके वास्तविक मूल्य ही की अपेक्षा हो सकती है। साहित्य का समष्टिगत लाभ इसीमें है कि हम उनके यथार्थ रूप को समझे, और उनका यथार्थ आदर करें। जिस समाज में भिन्न-भिन्न कवि अथवा उनके प्रेमीगण रचना-विशेष को अपनी ममता और अहता की अभिव्यक्ति का साधन बना रहे हैं, उसके सिर पर सर्वश्रेष्ठत्व का सेहरा बाँध रहे हैं, वहाँ निर्णय किस प्रकार हो? क्या विद्वानों की सम्मतियाँ प्राप्त करके हम किसी हल पर पहुँच सकते हैं? नहीं, बड़ा-से-बड़ा विद्वान् क्यों न हो, उसकी सम्मति पर सदेह करने की गुञ्जाइश बनी ही रह सकती है। निरापद और सर्व-सम्मत होने का केवल एक ही रास्ता है, और वह यह कि हम व्यापक सिद्धान्तों की शरण ले और उन्हीं की कसौटी पर कसकर निर्णय करें। तो फिर अब हमारे सामने प्रश्न इस रूप में उपस्थित होता है कि किन व्यापक सिद्धान्तों का आधार लेकर हम वर्तमान हिंदी-साहित्य की व्याख्या में अग्रसर हो?

किसी विद्वान् का कहना है कि यदि मुझे मालूम हो जाय कि व्यक्ति-विशेष किसके संपर्क में अपने जीवन का अधिक समय व्यतीत करता है, तो मैं बता दूँगा कि उसका व्यक्तित्व कैसा है? इसी प्रकार मैं कह सकता हूँ कि मुझे यदि आप केवल इतना बता दे कि कवि-विशेष किस स्थल पर रोया और किस स्थल पर हँसा

है, तो मैं आपको बता दूँगा कि वह कैसा कवि है। यमक और अनुप्रास, उपमा और रूपक, उत्प्रेक्षा और अपह्नुति से कुछ विशेष बनता-बिगड़ता नहीं, यद्यपि उचित स्थान पर इनकी भी उपयोगिता निर्विवाद है। सच पूछिए, तो हमें जिस बात की वास्तव में तलाश करनी चाहिए, वह है किसी खास घटना के सम्बंध में कवि की अनुभूति की मात्रा। एक भिखारी को अपमानित होते देखकर साधारणतया लोग कुछ विशेष ध्यान नहीं देते, किंतु कवि वही तिलमिला उठता है। यह तिलमिलाहट कहाँ से आती है? असदिग्ध रूप से कवि-कल्पना साधारण व्यक्ति की कल्पना से उच्चतर और अनुभूति साधारण व्यक्ति की अनुभूति से प्रखरतर होती है। साधारण जन-समाज की अपेक्षा तीव्रतर अनुभूति को वही कवि हृदय में धारण कर सकता है, जिसकी कल्पना का स्तर साधारण जन-समाज की कल्पना के स्तर से ऊँचा हो। साथ ही कवि की अनुभूति का स्तर जितना ऊँचा हो, उससे कहीं ऊँचा कल्पना का स्तर होना चाहिए, क्योंकि तभी दोनों के मध्य में कहीं उसकी उत्कठा, अतृप्ति, तड़पन आदि को व्यक्त करने वाली कला का भवन खड़ा हो सकेगा।

जिन वर्तमान कवियों, नाटककारों, कहानी-लेखकों, उपन्यास-निर्माताओं आदि की रचनाओं का अध्ययन करना हमें अभीष्ट हो, उनकी रचनाओं के भीतर ही यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई कल्पना को एकत्र करना चाहिए। यह कल्पना दो भागों में विभक्त की जा सकती है—(१) स्पष्ट और (२) स्पष्ट। कल्पना के द्वितीय विभाग से, जिसे हम स्पष्ट कल्पना कह सकते हैं, कवि की अनुभूति क्रमशः परिचय प्राप्त करके उसके साथ रमण करना आरम्भ करती है। इसी रमण की उत्पत्ति वे कलात्मक कृतियाँ हैं, जो अपनी शक्ति के अनुसार समाज से आदर-सम्मान और श्रद्धा प्राप्त करती हैं।

हमारा अभीष्ट अध्ययन वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अवलंबित होना चाहिए। रचनाकार की कल्पना और अनुभूति से परिचय प्राप्त करने पर हमें कवि की प्रतिभा के सम्बन्ध में एक सुव्यवस्थित धारणा स्थापित करने में सहायता मिलेगी। जो रचनाकार प्रकाश में आ रहा है, जिसकी रचनाओं का उचित या अनुचित प्रभाव समाज पर पड़ने लगा है, उसकी कृतियों की ठीक-ठीक विवेचना होनी चाहिए। यह विवेचना व्यक्तियों के लिए निर्मम भले ही हो और कभी-कभी तो वह अनिवार्य है, किंतु समष्टि रूप से समाज और साहित्य का लाभ इसीमें है कि वे आसवित-शून्य होकर अपने कार्य में अग्रसर हों। इस विवेचना के निरंतर क्रियाशील रहने से यह स्पष्ट होता चलता है कि किस लेखक का क्या स्थान है। इसके प्रभाव से अच्छे लेखकों का सम्मान तथा जो अच्छे नहीं हैं, उनका पराभव होता चलता है। खेद है, हमारे वर्तमान हिंदी-साहित्य में इस विवेचना की कमी के कारण भिन्न-

भिन्न लेखको को अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में अतिशयोक्तिपूर्ण सम्मर्तियाँ बनाए रखने का अवसर मिलता है ! इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वे अपने-आपको प्रकाश में लाने के लिये मित्रों की सहायता लेने लगते हैं। और ये मित्र अपनी उपयोगिता सार्थक करने के लिये प्रायः यह भुला देते हैं कि नियम और सिद्धान्त का सहारा त्यागकर वे स्वयं अपने-आपको निर्जीव कर देते हैं और तब अपने लेखक का भी विशेष उपकार नहीं कर पाते। इस प्रकार बहुत-सी शक्ति, जो समाज के लिए उत्पादक कार्यों में लग सकती है, व्यर्थ के गुणानुवाद और मिथ्या पृष्ठ-पोषण में खर्च हो जाती है। यदि हम इस अपव्यय को रोकना चाहते हैं, तो हमारा धर्म है, वर्तमान हिंदी-साहित्य की विवेचना को प्रोत्साहित करें।

आशा है, वर्तमान हिंदी-साहित्य की व्याख्या में रत मज्जन हिंदी-भाषी समाज की इस बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की ओर ध्यान देंगे।

तेईस ::

:: मरी अप्रकाशित कृति : 'तारक-वध' महाकाव्य

अपने अप्रकाशित 'तारक-वध' महाकाव्य के सम्बन्ध में मैं पाठकों के सामने एक सश्रिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

इस ग्रन्थ में उन्नीस सर्ग हैं चार चरणों वाले लगभग ४००० पद्य हैं, हिन्दी के प्रचलित छन्द काम में लाए गए हैं; कही-कही अतुकान्त-पंक्तियाँ भी आई हैं, कही-कही आवश्यकतानुसार गीतों का भी समावेश हुआ है । संस्कृत के वर्णवृत्तों का इसमें प्रयोग नहीं किया गया है । सन् १९२६ में इसकी कल्पना प्रस्तुत हुई थी, सन् १९४७ में इसका लेखन-कार्य समाप्त हुआ । तब से अभी तक यह अप्रकाशित ही है ।

प्रथम सर्ग के पूर्व 'प्रवेश' में आत्म-निवेदन, वस्तु-निर्देश, मंगलाचरण तथा मधुमोहन द्वारा पत्नी वनदेवी को तारक-वध की कथा सुनाई जाने के प्रसंग का वर्णन है । इसी प्रकार उन्नीसवें सर्ग के अन्त में उपसंहार के रूप में शेष भी है । भाषा खड़ी बोली है और यथा-सम्भव भाषा की सरलता की रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है ।

इस काव्य का नायक मैंने शृंगी ऋषि को बनाया है तथा नायिका के पद पर महाराज दशरथ की पोषिता पुत्री शान्ता को आसीन किया है । तारकासुर द्वारा शान्ता के हरण की मैंने कल्पना की है ।

पौराणिक आख्यान में कार्तिकेय द्वारा तारकासुर के मारे जाने की प्रसिद्धि है, किन्तु 'तारक-वध' में यह कार्य शृंगी ऋषि द्वारा ही सम्पन्न हुआ है । मैंने कार्तिकेय को आलोक के एक व्यक्तित्व, प्रकाश के एक पुञ्ज के रूप में ग्रहण किया है, शृंगी ऋषि ने अपनी साधना और तपस्या द्वारा इस प्रकाश को प्राप्त किया और इसीकी सहायता से स्वयं अपने में कार्तिकेयत्व का विकास करके तारकासुर के दानवत्व का अन्त किया ।

कार्तिकेय ने तारकासुर को मारा, पौराणिक आख्यान इतना ही कहकर रुक नहीं जाता, वह यह कहता है कि केवल कार्तिकेय उसे मार सकते थे, अन्य सभी देवताओं के प्रयत्न निष्फल ही होते । कार्तिकेय के पिता-माता के रूप में भी वह रुद्र और चण्डी आदि का नाम न लेकर शंकर-पार्वती का नाम लेता है । पार्वती

के लिए गिरिजा, शैलजा आदि शब्दों का प्रयोग तो किया गया है, किन्तु दुर्गा, चण्डी आदि का नहीं। शंकर के लिए कहीं-कहीं निस्संदेह 'हर' शब्द का प्रयोग आता है और अपने तीसरे नेत्र की ज्वाला से वे कामदेव को भस्म करते भी देखे जाते हैं, किन्तु उनका यह काम आत्मरक्षात्मक है, आक्रमणात्मक नहीं। रुद्र में तो अत्यन्त तीव्र हिंसा काम-क्रोध-प्रियता आदि हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित है कि कार्तिकेय के पिता-माता, शंकर-पार्वती, अहिंसात्मक सत्य और अहिंसा-त्मक शक्ति के प्रतिनिधि हैं, अर्थात् अहिंसात्मक सत्य और अहिंसात्मक शक्ति के सम्मिलन एवं समन्वय से उत्पन्न होने वाली नवीन शक्ति, नवीन ज्योति का नाम ही कार्तिकेय है। इसी शक्ति और इसी ज्योति की उपासना शृंगी ऋषि ने की और जब उसके दर्शन से वे परम शक्ति-सम्पन्न हो गये तब अनायास ही तारकामुग का हृदय परिवर्तन करके उसे आनन्द-समाधि में विलीन कर सके। शंकर-रूप सत्य को मार्ग का ज्ञान तो है, किन्तु वह अकेला, निरपेक्ष, समाधि-प्रिय होने के कारण चल नहीं सकता, इसके विपरीत पार्वती-रूप शक्ति चल तो सकती है, किन्तु उसे ज्ञान नहीं है, अपने पथ-प्रदर्शक को प्राप्त करने के लिए वह साधनामयी भी तपस्या-निरत है। ऐसी अवस्था में शृंगी ऋषि को 'कर-समन्वित पार्वती' अर्थात् कार्ति-केय अथवा अहिंसात्मक सत्यमयी शक्ति, सत्यमय आग्रह अर्थात् सत्याग्रह का अव-लम्ब लेकर तारकासुर के साथ संघर्ष करना पड़ा। 'तारक-वध' में उक्त कथा ने यही स्वरूप ग्रहण किया है। तारकासुर के मारे जाने का श्रेय उसमें भी ज्योति-का-न्त्यों कार्तिकेय को प्राप्त है, किन्तु मैंने मनुष्य की साधना तथा उसके पराक्रम और पुरु-षार्थ को प्रमुख स्थान दिया है।

शृंगी ऋषि दक्षिण में स्थित अपने 'प्रमोदवन' (पर्वतीय आश्रम) में शान्ता को प्राप्त करने की प्रतीक्षा में अपना समय काट रहे हैं। शान्ता-वियोग की कथा उनसे श्रवण करने के लिए अहिंसात्मक वातावरण में निमग्न वनके नकल, मृगी, शुक, पिक, मोर, भुजंग आदि उन्हें घरे हुए हैं? यह कैसा प्रेम है? कैसी विरह-कथा है? एक साधक ऋषि का कुमारी राज-कन्या से कैसा अनुराग?

महाराज दशरथ के राज्य में अकाल पड़ा। महामुनि नारद ने महाराज को आदेश दिया कि शान्ता पत्नी-भाव से शृंगी ऋषि के पास जाय और उन्हें अयोध्या में लाये तभी इस अधर्म-ग्रस्त राज्य में धर्म-भावना की वृद्धि होगी और मेघ इच्छित जल-वृष्टि करेगा। महाराज ने इसे स्वीकार किया। शान्ता के हृदय में ऋषि के प्रति अपार प्रेम का सागर लहरा उठा। 'मानस' नामक विमान की सहायता से वह प्रमोद-वन में पहुँच गई।

शृंगी ऋषि और शान्ता के इस पारस्परिक प्रणय का रहस्य क्या है? इसका

उत्तर यह है कि पूर्व जन्म की स्मृति से दोनों ने एक-दूसरे को पहचान लिया है। श्रृंगी ऋषि कार्तिकेय के मानव रूप है तथा शान्ता शारदा का मानव-स्वरूप है।

कार्तिकेय और शारदा कौन हैं ? समाधिस्थ सृष्टिकार को कार्य-रत बनाने के लिए जब काम ने उन पर अपना बाण चलाया था, तो उनको सान्त्वना देने वाली ब्राहि-ब्राहि वाणी ने ही शारदा का रूप धारण किया, उसको कन्या के समान हित-कारिणी मानकर उन्होंने उसका प्रत्युपकार करना चाहा, यही भाव कार्तिकेय के रूप में उनके सामने प्रस्तुत हो गया। छः मुख वाले कार्तिकेय और शारदा की सुघर जोड़ी को चंचल आमोद-प्रमोद द्वारा रस की वृष्टि करते देखकर सृष्टिकार ने अपरिमित सुख का अनुभव किया। किन्तु सृष्टिकार पर प्रहार करने के पूर्व कामदेव ने शंकर पर आघात किया था और उनसे निवेदन किया था कि वे कुछ रौद्र भाव धारण करके पूर्ण सत्य की समष्टि पर अपने त्रिशूल द्वारा चोट करे और अश-सत्यो के खण्ड तोड़-तोड़कर सृष्टिकार के कार्य-प्रसार के लिए उनके सामने प्रस्तुत करे। शंकर ने यह बात स्वीकार कर ली थी। उनका रौद्र त्रिशूलाघात पहले स्वयं कामदेव पर तथा उसके अनन्तर कार्तिकेय और शारदा पर पड़ा। कामदेव ने शारदा को नवीन रस की खोज करने की प्रेरणा दी; वह कार्तिकेय को छोड़कर उपवन में चली गई। इधर शारदा के विरह में व्याकुल कार्तिकेय ने उसे देखा भी तो दृष्टि-विकार के कारण मलिन भावमयी अप्सरा समझकर उसको यह शाप दे दिया कि तुम जड़ पृथ्वी हो जाओ। सत्य बात जान लेने पर वे विषाद-मग्न होकर रोने और आहें भरने लगे। उनका प्रकृत स्वरूप अन्तर्हित हो गया, अपने विकृत रूप में वे मर्त्यलोक में आने के लिए बाध्य हुए। वहाँ विभिन्न योनियों में भ्रमण करने के अनन्तर वे विभाडक मुनि के यहाँ श्रृंगी ऋषि के रूप में अवतीर्ण हुए। सभी योनियों में उन्हें प्रिया की याद बनी रही। उनके क्लेश से विचलित होकर सृष्टिकार ने शारदा ही के तत्वों से शान्ता का निर्माण किया, जिससे वियोग की शेष अवधि पार करने में उनको मरलता हो। श्रृंगी ऋषि को इससे क्या सरलता हुई ? बात यह है, कि पृथ्वी की जड़ता के कारण उसकी कोई प्रतिक्रिया उन्हें प्राप्त नहीं होती थी। शान्ता के तेजस्वी मानव-व्यक्तित्व ने इस अभाव का निराकरण किया। इससे निश्चय ही श्रृंगी ऋषि को कुछ शान्ति-लाभ हुआ।

श्रृंगी ऋषि को शान्ता के मिलने से किम प्रकार शान्ति हुई ? वे अद्वैतवादी हैं, सृष्टि के कण-कण से सौहार्द और तादात्म्य का अनुभव करना चाहते हैं। प्रमोद-वन की सीमाओं तक उन्होंने इस दिशा में अपने भावों का विकास कर लिया है, किन्तु प्रमोद वन ही तो सारी सृष्टि नहीं है। पूर्ण अद्वैत भावना की सिद्धि के लिए वे तड़प रहे हैं, किन्तु उनकी वेदना के विकास को वेग नहीं प्राप्त होता। जड़

पृथ्वी की अनुभूतिशून्यता मानो उन्हें तीखी प्रेरणा देने के स्थान में अपनी ही भाँति मूक और अनुभूतिशून्य बना डालना चाहती है। यह परिस्थिति स्वयं भी उनमें एक बेचैनी पैदा कर रही है। शान्ता के मिलने से उन्हें जो सरस प्रतिक्रियाएँ मिली, उनमें उनके भीतर का कार्तिकेयत्व अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उत्कण्ठित हो उठा। क्या शृंगी ऋषि के लिए इतनी शान्ति भी कम मूल्यवान् है? किन्तु वास्तव में शान्ता ने उन्हें इससे और अधिक दिया, अपने जीवन-प्रवाह द्वारा जीवन-विकास का विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करके उसने उन्हें कार्तिकेयत्व की सिद्धि की ओर ठेल-सा दिया, उन्हें अविलम्ब विन्ध्याचल में जाकर तपस्या करनी पड़ी। इसी प्रकार शान्ता को शृंगी ऋषि के सम्पर्क में आने पर अपने व्यक्तित्व के भीतर दबी हुई शारदा-भावना को विकसित स्वरूप प्रदान करने का अवसर मिला।

शृंगी ऋषि और शान्ता के प्रगतिवाद का स्वरूप स्पष्ट करने के उद्देश्य से 'तारक-वध' में प्रगति-सिद्धान्त की विवेचना तथा सृष्टि-रचना के रहस्य का उद्घाटन भी अपने ढंग से मिया गया है।

जहाँ तक प्रगति-सिद्धांत की विवेचना का सम्बन्ध है, 'तारक-वध' में भारतीय ब्रह्मवाद का साम्यवादी आचार्यों के प्रगतिवाद के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। एक महा केन्द्र है, जिसकी ओर समस्त प्रगति धाविन है, और अपने अनुरूप अगति अथवा विश्राम लेकर आगे बढ़ती है। इस महाकेन्द्र को हम ब्रह्म के रूप में ले सकते हैं। इस केन्द्र के वाम और दक्षिण ओर क्रमशः प्रगति के प्रतिनिधि आग्नेय रुद्र और अगति के प्रतिनिधि साम्ब सदाशिव—दोनों ही अन्योन्य प्रतिक्रिया-त्मक होकर एक ओर तो अपना ही सहार करके आत्म-प्रसार करते हैं, दूसरी ओर समस्त व्यक्त जगत् का आहार करके आत्म-विलयन करते हैं।

रही सृष्टि-रचना के रहस्योद्घाटन की बात तो उसके सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। प्रगति के प्रतिनिधि रूप में आग्नेय रुद्र का उल्लेख किया जा चुका है। ये रुद्र ही व्यक्त जगत् के प्रथम अवतरण हैं। इनका आत्म-सहर्षण इनका रौद्र महाताण्डव नृत्य है, जिसके अनन्तर कलाति के कारण इनकी सह-योगिनी महाशक्ति वियोगिनी होकर, पुनः सगमार्थ, इन्हें रिझाने के प्रयत्न के रूप में सृष्टि रचना करती है और जबकि ये नेति-नेति कहते हैं तो निराश और क्रुद्ध होकर सृष्टि को चकनाचूर भी करती चलती हैं। अगणित कल्पों के व्यतीत होने पर रौद्र महाताण्डव नृत्य में ही प्रिय के साथ उसका फिर सगम प्राप्त होता है।

स्पष्ट है कि सृष्टि-रचना एवं प्रलय की प्रेरणा प्रिय-विरह-विषाद तथा मिलनोत्कण्ठा-निरूपित प्रगतिवाद ही से सम्बन्धित है तथा प्रगतिवाद ही सृष्टि के कण-कण को आनन्दमय सौंदर्य-नृत्य के लिए तैयार करता रहता है। साथ ही यह भी

स्पष्ट है कि यह प्रगतिवाद रौद्र आत्म-संहरण एवं शांकर आत्म-विलयन दोनों ही सिद्धांतों के सामञ्जस्य पर आश्रित है, इनमें से केवल एक के असंयत विकास पर नहीं। शृंगी ऋषि और शान्ता इसी सामञ्जस्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे प्रकृत प्रगतिवाद के अनुयायी हैं।

‘तारक-वध’ में दानवत्व किसी प्रादेशिक, जातीय अथवा वर्गगत सीमा के भीतर सीमित नहीं माना गया है। जो शांकर आत्म-विलयन अथवा केन्द्रानुसारी सिद्धांत को सर्वथा त्यागकर एक-मात्र रौद्र आत्म-संहरण अर्थात् केन्द्रापसारी सिद्धांत को ग्रहण करता है, जो जीवन की एकता को अस्वीकार करके द्वैतभाव-प्रतिपादक असत्यो और अर्द्धसत्यो को अंगीकृत करता है, जो अपने विकृत व्यक्तिवाद और विकृत समाजवाद से प्रकृत अद्वैतवाद तथा प्रकृत प्रगतिवाद के आराधकों को ठगना चाहता है, वह देव हो अथवा मानव, ‘तारक-वध’ में दानव के रूप ही में उसकी स्वीकृति की गई है।

संक्षेप में ‘तारक-वध’ में यही कहा गया है कि मानव ने आनन्द की प्रगति के लिए अपने प्रमाद की सृष्टि की तथा आत्म-विस्मृति के रस से उसके मूल को सींचकर दानवत्व रूपी विष-फल का विकास किया और जब अमिन यातना और वेदना के परिणाम-स्वरूप वह आत्म-स्मृति का सहयोग प्राप्त कर लेता है, तब उसे दिखाई पड़ता है कि विष और अमृत में कोई अन्तर नहीं, देवता और दानव में कोई भेद नहीं, शृंगी ऋषि, कार्तिकेय और तारकासुर तीनों में एक ही शाश्वत सत्य विद्यमान है।

‘तारक-वध’ में महाराज दशरथ के राज्य में अकाल-विषयक परिस्थिति के प्रसंग से राजा और प्रजा के सम्बन्धों का विवेचन, वर्णाश्रम-व्यवस्था के वैज्ञानिक एवं विकृत रूप की व्याख्या तथा अन्य विविध विषयों के निरूपण के साथ-साथ छहों ऋतुओं का, समुद्र, पर्वत, संध्या, उषा, प्रभात, कुमारोत्पत्ति आदि का वर्णन यथा-स्थल सन्निविष्ट है।

मेरे अप्रकाशित ‘तारक-वध’ महाकाव्य की यही रूप-रेखा है।

चौबीस ::

:: वर्तमान हिन्दी-काव्य-भाषा और जन-सम्पर्क

हिन्दी-काव्य-भाषा के संबंध में कुछ समय से यह प्रश्न उठाया जाने लगा है कि उसमें जन-सम्पर्क का अभाव है। यदि यह सत्य है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस अभाव का निराकरण आवश्यक है? आवश्यकता के प्रमाणित हो जान पर स्वभावतः उसकी रूढ़ि के साधन भी विचारणीय हो जायेंगे।

भाषा चाहे समाज के दैनिकी-व्यवहार की हो, चाहे काव्य-व्यापार से संबंधित हो, उसका स्वरूप प्रचलित शासन-पद्धति एवं सामाजिक मर्यादा की रूप-रेखा द्वारा निर्धारित होता है। एकतन्त्र शासन में जन-समूह की भाषा की उपेक्षा स्वाभाविक है, विशेषकर जब वह शासन विदेशी हो। राज-स्वीकृत भाषा के स्वरूप पर शासन से सम्बन्धित वर्गों का अधिकाधिक प्रभाव पड़ेगा ही; क्योंकि जन-समूह को राजकीय कार्यों के सम्पर्क में आने के बहुत कम अवसर प्राप्त हो सकेंगे।

किंतु लोकतंत्र शासन में इसका ठीक उलटा होगा। राज-काज में जन-सम्पर्क घनिष्ठ होने के कारण क्रमशः भाषा में जन-सम्पर्क-प्रभाव बढ़ेगा, उसके अनन्तर काव्य-भाषा के क्षेत्र में भी उसका प्रवेश हो जायगा। भाषाओं का विकास सदैव सामाजिक सम्मिलन के स्वरूप पर ही आधारित रहा है। सिद्धांततः यह बात समस्त विश्व की भाषाओं के संबंध में निर्विवाद रूप से कही जा सकती है।

साधारणतया 'हिन्दी' के अन्तर्गत खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी तथा उनसे सादृश्य रखने वाली अन्य बोलियों का भी समावेश हो जाता है, किन्तु वर्तमान समाज के विचारों और भावों का प्रधान रूप से संवहन करने के कारण 'हिन्दी' शब्द का उच्चारण होते ही खड़ी बोली का चित्र अनिवार्य रूप से हमारे सामने खड़ा हो जाता है। अतएव यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्तमान हिन्दी-काव्य-भाषा से तात्पर्य खड़ी-बोली-काव्य की भाषा से है; ब्रजभाषा और अवधी में काव्य लिखने के दिन गए। खड़ी बोली को ही हमें इस तरह सजाना और सँवारना है कि वह हमारे वर्तमान युग की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

वर्तमानकालीन मानव आज प्रत्येक क्षेत्र में उदबुद्ध और सावधान हो रहा है। उसके प्रति युग-युग से जो अन्याय और अत्याचार होता आया है, आज उसकी प्रतिक्रिया हो रही है और विश्व की समस्त रचनात्मक शक्तियाँ उसे सन्तुष्ट करने

मे लग रही है, कोई समय था जब प्रगति का माप विलास-भवनों के कँगूरों की उच्चता से, चक्रवर्ती सम्राटों के आतंक-सृजनकारी वैभव-प्रदर्शन से तथा सम्पन्न, अधिक अवकाश-प्राप्त प्रेमियों की आमोद-प्रमोद-वृद्धि से होती थी। किन्तु आज वह समय नहीं है, आज कालदेव की करुण दृष्टि दारिद्र्य-पीडित, साधनहीन मानव पर चली गई है और वर्तमान समय में उसे उसी का सुख-साधन अभीष्ट है; भले ही उसके कारण हमारे प्रबल-से प्रबल व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को अपनी परम प्रिय रंगीन अभिलाषाओं का बलिदान करना पड़े।

जाग्रत मानव का यह हुंकार चल पड़ा है और स्वयं को विश्व के कोने-कोने में व्याप्त कर रहा है। भारत भी उसके दुर्धर्ष नाद से सशंक हो रहा है; सम्पूर्ण भारतीय साहित्य उसके विद्रोही स्वर से झनझना उठा है; हिन्दी-साहित्य भी कोई अपवाद नहीं है।

कालदेव ने सैकड़ों शताब्दियों के अनन्तर आज जो करवट ली है, उसमें मानव का कुचला हुआ व्यक्तित्व अपना समाधान माँग रहा है। राज-वंशों का अन्त हो रहा है, पूँजीपतियों के महल ध्वस्त हो रहे हैं और धीरे-धीरे पीडित, आहत व्यक्ति का कंकाल रक्त-मास से युक्त हो रहा है; विश्व के समस्त कलाकारों का आज वही आराध्य, उपास्य हो रहा है, जिसकी ओर पिछले युगों के कवियों के एक वर्ग ने फूटी आँखों भी नहीं देखा था। हमारे हिन्दी-काव्य में भी यह विद्रोही प्रवृत्ति सिर ऊँचा कर रही है। युग-परिवर्तन के कारण प्रत्येक समाज और उसके अगीभूत प्रत्येक व्यक्ति के मनोभावों में क्रांति हो रही है। इस क्रांति से व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष की निरकुशतापूर्ण प्रभावशालिता से पल्लवित और पुष्पित होने वाली कृत्रिम एवं आरोपित भाषाओं की जड़ें कट रही हैं। उर्दू का उदाहरण हमारे सामने उपस्थित है।

हिन्दी-काव्य-भाषा जन-सम्पर्क प्रभावित हो, अथवा न हो ? हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में कभी यह प्रश्न उठाया ही न गया। सन्त-परम्परा के कवियों ने जो भाषा लिखी वह तो जन-भाषा थी ही, विद्वान् महात्माओं के काव्य में जन-भाषा के प्रयोग के साथ-साथ कला-कौशल भी दिखाई पड़ा; जन-भाषा का आश्रय लेकर उन्होंने मानव-व्यक्तित्व के परम कल्याण-साधन के उद्देश्य से काव्य-रचना की, जिसमें उच्चकोटि की समाजसेवा के तत्त्व निहित हुए।

कालान्तर में एक अस्वाभाविक आरोपित भाषा के विकास के कारण प्रकृत जन-भाषा का जिस प्रकार तिरस्कार हो रहा था उसका प्रतिकार करने के लिए ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी की उस गद्य-शैली को जन्म दिया जो निरन्तर विकसित होती चल रही है। जन-भाषा में किसी प्रकार की दुर्बलता शेष न रह जाय, वह

विचारो ही को नहीं, भावनाओं को भी व्यक्त करने के योग्य बन जाय—इसी अभिप्राय से पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली को पद्य-रचना के भी उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया। तब से जन-भाषा के रूप में हिंदी का विकास अनवरत रूप से चल रहा है।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सुसंगठित खड़ी बोली काव्य-भाषा का जो शृंगार श्री हरिऔध, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री सुमित्रानन्दन पंत, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री जयशंकरप्रसाद तथा श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ, उसे एक क्रांति समझना चाहिए। इन सभी कवियों ने जन भाषा के स्वरूप को उत्तरोत्तर पुष्ट करने की चेष्टा की है। युग का संदेश इनकी वाणी में व्यक्त हुआ है और इनकी शक्ति उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में व्यक्त होती चली है। इन कवियों का आभार हमें स्वीकार करना पड़ेगा।

वर्तमान हिंदी काव्य-भाषा यदि जन-भाषा ही है अथवा जन भाषा से-प्रभावित है तो यह प्रश्न ही क्यों किया जाता है कि वर्तमान हिंदी-काव्य-भाषा को जन-सम्पर्क-प्रभावित बनाने की आवश्यकता है या नहीं ?

सच बात यह है कि एक अस्वाभाविक और कृत्रिम तथा आरोपित भाषा से मुक्ति पाने के प्रयत्न में हमारी वर्तमान काव्य-भाषा स्वयं भी एक अस्वाभाविकता और कृत्रिमता में जकड़ उठी है। इस अस्वाभाविकता और कृत्रिमता के दर्शन हमें सर्वत्र नहीं होंगे, किंतु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कहीं-कहीं वह हमारे सामने उपस्थित हो ही जाती है।

‘प्रिय प्रवास’ की भाषा को स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक कृत्रिम मानते थे; उनका तो यह मत था कि हरिऔध जी इस प्रकार की काव्य-रचना करके हिंदी का गला घोट रहे हैं। पं० श्रीधर पाठक के इस मत का कोई ध्यान देने योग्य आधार नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। फिर यदि ‘प्रिय प्रवास’ के लिए ऐसा कहा जा सकता है तो ‘कामायनी’ और ‘साकेत’ के लिए भी यही क्यों नहीं कहा जा सकता ? और यदि वर्तमान काव्य-भाषा ही तक हम सीमित न रहे तो साथ ही यह प्रश्न भी हो सकता है कि ‘रामचरितमानस’ को भी हम उसी श्रेणी के अंतर्गत क्यों न मानें ?

आगे बढ़ने के पूर्व हमें उक्त ग्रंथों के संस्कृति-गर्भित स्वरूप का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। सबसे पहले ‘रामचरितमानस’ की निम्नलिखित कतिपय पंक्तियों पर दृष्टिपात कीजिए :

‘‘मामभिरक्षय रघुकुल नायक ।

धृत बर चाम बचिर बर सायक ॥

मोह महा घन पटल प्रभंजन ।
 संसय विपिन अनल सुर रंजन ॥
 अगुन सगुन गुन मंदिर सुंदर ।
 भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर ॥
 काम क्रोध मद गज पंचानन ।
 जपहु निरन्तर जन मन कानन ॥”

✠ ✠ ✠

“जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही ।
 वस सीस बाहु प्रचंड खंडन चंड सर मंडन मही ॥
 पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचन ।
 नित नौमि राम कृपाल बाहु विसाल भव भय मोचन ॥”

अब इन अवतरणों की तुलना नीचे दिए गए अवतरणों से कीजिए और देखिए कि अधिक संस्कृत-गर्भित कौन है :

- (१) “रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका र.केन्दु बिम्बानना ।
 तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका श्रीङ्गा-कला पुत्तली ॥
 शोभा-वारिधि की अमृत्य मणि सो लावण्य लीलामयी ।
 श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थीं ॥
 सद्-वस्त्रा, सद्-लंकृता, गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता ।
 रोगी वृद्ध जनोपकार निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा ॥
 सद्-भावातिरता, अनन्यहृदया, सद्-प्रेम-संपोषिका ।
 राधा थीं सुमना, प्रसन्नवदना, स्त्रीजातिरत्नोपमा ॥”^१
- (२) “सृष्टि-दृष्टि के अंजन रंजन ताप-विभंजन बरसो ।
 व्यग्र, उदग्र जगज्जननी के अग्रि अग्रस्तन बरसो ।
 गत सुकाल के प्रत्यावर्त्तन हे शिखि-नर्त्तन बरसो ।
 जड़-चेतन में बिजली भर दो और उद्बोधन बरसो ॥”

✠ ✠ ✠

“उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से ।
 और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से ॥
 वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण करण के ।
 क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ॥”^२

(३) “अभिशाप प्रतिष्ठानि हुई लीन ।

नभ सागर के अन्तस्तल में जैसे छिप जाता महामौन ।

मृदु मरुत लहर में फेनोपम तारागण झिलमिल हुए बौन ॥

निस्तब्ध मौन था अखिल लोक तबालस था वह विजन प्रान्त ।

रजनी तम पूञ्जीभूत सदृश मनु इबास ले रहे थे अशान्त ॥”^५

उक्त अवतरणों की तुलना करके हम देखेंगे कि तुलसीदास जी की पंक्तियाँ आधुनिक कालीन कवियों की पंक्तियों की अपेक्षा अधिक संस्कृत-गर्भित नहीं हैं, तो कम-से-कम उनके समकक्ष तो अवश्य ही हैं ।

भाषा की दृष्टि से ‘रामचरितमानस’ निस्सन्देह कहीं-कहीं बहुत अधिक संस्कृत-गर्भित है, इतना संस्कृत-गर्भित कि साधारण हिंदी पाठक के लिए उसके पूरे भाव को समझ लेना बहुत अधिक कष्ट-साध्य है । किंतु हममें से कितने ऐसे हैं जो ‘रामचरितमानस’ की भाषा को जन-भाषा से भिन्न कोई कृत्रिम भाषा मानने के लिए तैयार होंगे ?

वास्तविकता यह है कि हिंदी-काव्य में केवल संस्कृत शब्दों का बहुल प्रयोग ही हिंदी-काव्य-भाषा को कृत्रिम बनाने के लिए यथेष्ट नहीं है । संस्कृत शब्दों का लगभग सर्वथा बहिष्कार करने पर भी श्री हरिऔध अपने ‘चोखे चौपदे’ और ‘बोलचाल’ की भाषा को स्वाभाविकता प्रदान नहीं कर सके । ऐसी अवस्था में हमारे सामने स्वभावतः यह प्रश्न खड़ा होता है कि भाषा को कृत्रिम बनाने वाला प्रधान कारण क्या है ?

हिंदी-कवियों की यह परिपाटी रही है कि उन्होंने अपने वर्णनीय विषय के चित्रण के लिए देश-भाषा की विशिष्ट भाषा में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं झलकने दी है । किंतु वे असंदिग्ध रूप से अपवाद हैं; अधिकांश सामान्य ल्यलों में जहाँ मानव-भावनाओं का चित्रण ही अभीष्ट रहा है, उन्होंने लोक-प्रचलित शब्दों और लोकोक्तियों ही के द्वारा सौंदर्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है । सूरदास के काव्य में भी हम यही प्रवृत्ति पायेंगे ।

हमारे आधुनिक युग के कवियों ने तुलसीदास, सूरदास आदि प्राचीन कवियों के विवशता के अपवाद को सदैव व्यवहार में लाने योग्य नियम के रूप में स्वीकृत करके जनता से अपना सम्पर्क कम कर दिया है; पूर्वोक्त कवियों की उस प्रवृत्ति की ओर से उन्होंने अपना ध्यान हटा लिया है, जिससे प्रेरित होकर वे देश की अपढ़, अबोध जनता में प्रचलित साधारण शब्दों को भी अपनी काव्य-कला के स्पर्श से चमका देते थे ।

‘रामचरितमानस’, ‘सूरसागर’, ‘पद्मावत’ आदि में से ऐसे सहस्रों शब्दों का संकलन किया जा सकता है जिन्हें गाँवों में जन-साधारण बोलता है और जिनको इनके रचयिताओं ने अपने कलात्मक प्रयोग द्वारा सौंदर्य और प्रतिष्ठा से मंडित बना दिया है ।

इस तरह यह स्पष्ट है कि हमारी वर्तमान काव्य-भाषा को जन-सम्पर्क-भाषित बनाना अत्यंत आवश्यक है । यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो जिस कृत्रिम भाषा का स्थान लेने के लिए हमने अपनी काव्य-भाषा का विकास किया है उसी की सी कृत्रिमता के कारण इसका भी ह्रास होगा । जैसे शिशिर पेड़ से जीरा पत्ते झाड़ देता है वैसे ही कलात्मकता के प्रयोग द्वारा हम अपनी काव्य-भाषा की कृत्रिमता का निराकरण कर दें, जिससे नवीन, सुन्दर, सुकुमार दल की तरह हमारी उस काव्य-भाषा का आविर्भाव हो जिसके निरुपम सौंदर्य से सभी काव्य-प्रेमी चकित हो जायें ।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि काव्य-भाषा को जन-सम्पर्क-प्रभाषित बनाना आवश्यक है तो साधन क्या है ? मैं यहाँ थोड़े से साधनों का उल्लेख कर रहा हूँ । वे इस प्रकार हैं—

(१) अवधी, भ्रजभाषा, भोजपुरी आदि बोलियों के क्षेत्रों से उपयुक्त शब्दों का संग्रह करके हम उनका प्रयोग अपने काव्य में ऐसे ढंग से करें कि उनमें नवीन सौंदर्य-सा उत्पन्न होता दिखाई पड़े ।

(२) उक्त क्षेत्रों में तथा खड़ी बोली के क्षेत्र में प्रचलित सुन्दर लोक-वक्तियों का संग्रह करके उनका भा हम वैसे ही उपयोग करें ।

(३) रस-परिपाक, स्वाभाविक वातावरण के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दें, मानव-हृदय को सुख-स्पर्श करने वाली सामग्री का संकलन अधिक मात्रा में करें और जहाँ इसमें बाधा पड़ती हो वहाँ शब्द तद्भव हों या तत्सम, इसकी चिन्ता न करें ।

(४) अरबी-फारसी के जो शब्द हमारे समाज में प्रचलित हो गए हैं उनका भी हम अपने काव्य में कलात्मक प्रयोग करें । हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि अरबी-फारसी के अप्रचलित तत्सम शब्दों का प्रयोग करके हम सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकेंगे ।

(५) भाषा में ओज और बल लाने के लिए अपने काव्य को हम ऐसी प्रवृत्तियों का अनुचर न बनायें जो व्यक्ति के अधिकारों को कुचलती हैं अन्याय का अनुमोदन करती हैं, अत्याचार का बल बढ़ाती हैं । मानव-व्यक्तित्व की उन्मुक्ति का सन्देश लेकर यदि हम चलेंगे तो हमारी काव्य-भाषा को अपूर्व स्वाभाविकता

और शक्ति प्राप्त होगी ।

ऊपर उर्दू भाषा की कृत्रिमता का निर्देश किया गया है । मैं उर्दू को भारतीय जीवन के लिए स्वाभाविक भाषा नहीं मानता हूँ । अरबी और फारसी के तत्सम शब्दों को बहुत अधिक मात्रा में ग्रहण करके उसने अपने-आपको संकीर्ण बना लिया है । किन्तु यह सब होने पर भी एक विशिष्ट वर्ग के बीच उसकी स्वाभाविकता अनुकरणीय है । उसमें शब्दों के निर्वाचन में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि वे सम्य उर्दू-पठित समाज की दैनिक बोल-चाल में आते हैं या नहीं, किन्तु उसकी दृष्टि केवल नागरिक समाज की ओर है; हमें अपनी दृष्टि नागरिक तथा ग्रामीण दोनों ही प्रकार के समाज की ओर ले जानी चाहिए और काव्य के अन्तर्गत विभिन्न परिस्थितियों के उपयुक्त दोनों ही क्षेत्रों से प्राप्त होने वाली शब्दावली और मुहावरे काम में लाने चाहिए ।

वर्तमान युग की हुंकार को व्यक्त करने की शक्ति ऐसा भाषा में नहीं आ सकती, जिसमें जनता के हृदय का रस नहीं । कल्पित जगत् की कल्पित परिस्थितियों वाले मनुष्यों के लिए केवल कल्पना के आधार पर काव्य करके कोई रचनाकार मानव-हृदय की प्यास को बुझा नहीं सकता ।

युग की हुंकार को काव्य में व्यक्त करने की बात कहकर मैं जीवन की शाश्वत भावनाओं की उपेक्षा नहीं कर रहा हूँ । उक्त हुंकार ही में शाश्वत भावनाओं का भी समावेश है ।

पच्चीस ::

:: श्रानन्दवर्द्धिनी समिति

इलाहाबाद जंक्शन पर बाम्बे मेल के आते ही कुलियों ने तत्परतापूर्वक श्रीमान् सच्चिदानन्द शर्मा तथा उनकी सम्पूर्ण मण्डली का सामान फर्स्टक्लास के डिब्बे में रखकर बिस्तरबंद खोल दिये और लम्बी यात्रा की सुविधा के लिए बिस्तर ठीक तौर से लगा दिये। इसके अनन्तर यात्रीगण अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये। मैं भी शर्मा जी के पास बैठ गया। कुछ देर तक बातें चलती रहीं। गाड़ी ने सीटी दी। मैं उठकर डिब्बे से बाहर आ गया और खिड़की के पास तब तक खड़ा रहा जब तक गाड़ी चलने नहीं लगी। इस समय शर्मा जी भी खिड़की के पास आ गये थे और बोले—‘शीघ्र हा आपको नई दिल्ली आना होगा। आइएगा न?’ मैंने उत्तर दिया—‘क्यों नहीं?’ इस समय शर्मा जी के यात्रा-दल के सभी सदस्य उनके आस-पास खड़े होकर मेरी ही ओर उन्मुख हो रहे थे। गाड़ी ने तेजी पकड़ी, हम सभी ने एक दूसरे से ‘ज्याहिन्द’ कहकर विदा ली।

शर्मा जी ने मुझसे नई दिल्ली आने का जो आग्रह किया था, उसमें कोई रहस्य छिपा था, इसका आभास मुझे लगभग एक महीने बाद लगा जब मेरे पास उनका एक पत्र आया। यह पत्र एक लिफाफे में था और इसमें नई दिल्ली आने के लिए आमंत्रण दिया गया था, साथ ही इसमें ३०० रुपया का एक क्रास चैक भी था। इस चैक ने मुझे बड़ी हैरानी में डाल दिया। मैं यह नहीं समझ सका कि मार्ग-व्यय के नाम पर इतनी बड़ी रकम भिजवाने से शर्मा जी का क्या तात्पर्य है। दिल्ली चलने पर ही इस रहस्य का उद्घाटन होगा, अंत में इसी निर्णय पर पहुँचकर मैंने यात्रा की तैयारी शुरू कर दी और निश्चित तिथि पर पहुँचने के लिए तूफान एक्सप्रेस से प्रस्थान भी कर दिया।

“मार्ग-व्यय के लिए आपने जो चैक मेरे पास ‘भिजवाया’ था, उसके अंक में एक शून्य अधिक हो गया है, मेरे लिए ३० रुपया मार्ग-व्यय बहुत काफी था, आपने ३०० रुपया भिजवा दिया!” मैंने दिल्ली में शर्मा जी के निवास-स्थान पर उनसे भेट होते ही कहा।

शर्मा जी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—“आप यदि अपने समय का मूल्य न समझें तो क्या मैं भी न समझूँ? मैंने आपके हवाई-जहाज से आने के लिए

आवश्यक रुपये भिजवाये थे। आप तो शायद रेलगाड़ी से आये हैं।”

“हाँ, मेरे तो १५ रुपये से अधिक खर्च नहीं हुए है। मैं चैक लेता आया हूँ दूसरा चेक बनवा दें तो बहुत अच्छा हो” मैंने कहा।

मेरी बात सुनकर शर्मा जी बहुत जोरो से अट्टहास करके बोले—“यह खूब कही ! जान पड़ता है, रुपये रखने के लिए आपको कही जगह नहीं मिल रही है।” भाई, मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि जितना व्यय हो, उतना ही लेना चाहिए, यह सतयुग वाला जान आपने कहाँ पाया ? सत्य के इस अधूरे रूप को पूरा रूप समझने का यह कलियुग वाला प्रमाद आपको कहाँ मिला ? इस आर्थिक युग में आपने ऐसी अनर्थकारिणी शिक्षा कहाँ पाई ? अस्तु, इन बातों को जाने दीजिए; अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए मैंने आपको बुलाया है। मैं आज दिल्ली के साहित्यकारों के सहयोग से आनन्दवर्द्धनी समिति की स्थापना करना चाहता हूँ। इस समिति की संयोजना आगे चलकर आप ही को करनी होगी। स्थापना के अनन्तर इसका एक बड़ा अधिवेशन किया जायगा, जिसमें विश्व के प्रतिनिधि साहित्यकार आमन्त्रित होंगे।”

“किन्तु आपके विचारों का कुछ परिचय मुझे है, उनसे मेरे विचारों का मेल नहीं बैठेगा। ऐसी अवस्था में किस तरह कार्य चला सकूँगा”—मैंने चिन्ता प्रकट करते हुए कहा।

मुख-मुद्रा में उदारता का भाव व्यक्त करते हुए शर्मा जी ने उत्तर दिया—“आप यह तो स्वीकार करेंगे ही कि आज के युग में सारा कार्य बहुमत से होना चाहिए, विश्व की सभी सरकारों ही को देखिए, वह बहुमत ही से तो चल रही है। पाँच मिलकर जो बात कह दे वह सही और केवल दो ही आदमी जिस बात के पक्ष में हों वह गलत; यही नीति आज हमारे देश में ही नहीं, विश्व-भर में प्रचलित हो रही है। जब यह विचार-धारा हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित कर रही है, तब क्या यह सम्भव है कि साहित्य उससे अछूता ही रह जाय ? यह मैं मानता हूँ कि आप केवल उन्हीं साहित्यकारों का आह्वान करें जो सच्चे साहित्य-सेवी हों, लेकिन मेरा आग्रह यह है कि साहित्य के सम्बन्ध में जो कुछ करें वह बहुमत के निश्चय के अनुसार ही हो। साहित्य के क्षेत्र में भी संगठन की आवश्यकता है, इसे आप न भुलाये। यदि यह संगठन न किया गया तो राजनीतिज्ञ-रूपी निशाचर साहित्यकार-रूपी ऋषियों को खा जायगा। विश्व-शान्ति को एक दृढ़ आधार पर स्थापित करने के लिए ही मैं यह आयोजन कर रहा हूँ।”

शर्मा जी के इस व्याख्यान का मुझ पर प्रभाव पड़ गया। मैंने दिल्ली में रह

कर 'आनन्दवर्द्धिनी समिति' की संयोजना करना स्वीकार कर लिया। उसका सब आयोजन हो चुका था, मुझे समिति की बैठक में केवल उपस्थित रहना था।

मेरी और शर्मा जी की उक्त बातचीत संध्या समय स्टेशन से आते ही चाय पीने के अवसर पर हुई थी। मैंने शर्मा जी की बात मान तो ली थी, किन्तु मेरे अंतर से ध्वनि आ रही थी कि उसमें कहीं कुछ खटकने वाली बात अवश्य है। यह खटकने वाली बात क्या है, अतिथि-भवन में अपनी चारपाई पर चढ़र ओढ़कर लेटा हुआ मैं इसी की खोज कर रहा था। यहाँ पाठक को समझ लेना चाहिए कि इस समय मैं बहुत बड़े सकट में था भी और नहीं भी था। भौरा काठ में छेद कर सकता है, किन्तु कमल के कोष में फँस जाने पर उसमें से बाहर नहीं निकल पाता। कोई अन्य व्यक्ति होता तो मैं सहज ही छुटकारा पा सकता था, थोड़ी-सी रुखाई से काम चल जाता किन्तु, आनन्द और प्रसन्नता की साक्षात् मूर्ति शर्मा जी के प्रेम-बन्धन को तोड़ना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त एक बड़ी अड़चन यह थी कि न वे स्वयं तर्क को छोड़कर चलना चाहते हैं और न किसी से आशा करते हैं कि वह तर्क से असगत आचरण करें। यदि मैं शर्मा जी को तर्क में परास्त कर सकता, तो मेरी तो मुक्ति हो ही जाती, साथ ही उनके जैसे खिलाड़ी के लिए यह सब-का-सब मनोरंजन का सामान हो जाता। किन्तु मेरे सामने दुविधा उपस्थित हो गई थी—जीवन और साहित्य के अन्योन्य सम्बन्ध को अस्वीकार करना, मेरे लिए संभव नहीं था, तर्क द्वारा इसका विरोध नहीं किया जा सकता था, और इसे मान लेने के बाद शर्मा जी के तर्क की दूसरी कड़ी में गला फँसे बिना नहीं रह सकता था, अर्थात् यदि जीवन बहुमत से शासित है तो साहित्य भी बहुमत से शासित होगा ही। मैं इसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ था कि चपरासी ने आकर कहा—“सरकार, डिनर का समय हो गया है, चले।” मैं तुरन्त उठ खड़ा हुआ और पैरों को चप्पल में डालकर उसके पीछे-पीछे हो लिया।

डिनर के कमरे में शर्माजी अभी नहीं आये थे, किन्तु उनके स्टाफ के कई सज्जन वहाँ मौजूद थे—मौलाना दिलेर अली, ठाकुर गजराजसिंह, पादड़ी गुडविन, मिस्टर विनोद, कुमारी सोफिया आदि। गोल मेज थी, जिसके चारों ओर कुर्सियाँ रक्खीं हुई थी। विचित्र बात यह थी कि समानता के प्रचारक शर्मा जी ने कुर्सियों तक में साम्यवाद का प्रचार किया था। यह देखकर मैं मन ही-मन डरा कि मुसलमान, ईसाई आदि के साथ भोजन करने बैठ रहा हूँ, तो कहीं ऐसा न हो कि आज यहाँ मेरी पर्ण शुद्धि हो जाय, पूर्ण इसलिए कहता हूँ कि आधी शुद्धि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन में हो चुकी थी, जहाँ अतिथि-स्वागत-परायण स्वागत-समिति ने भोजन-सत्कार की व्यवस्था किसी होटल को सौंपकर सारे बखेड़े से छुट्टी पा

ली थी। मैं कुर्सी पर बैठा ही था कि शर्मा जी भी आ गये। हम सब लोगों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। शर्मा जी मेरे पास ही बैठे।

थोड़ी देर में मुरादाबादी कलई की थालियों में जब शुद्ध भोजन की व्यवस्था देखी तो चित्त को बड़ी शान्ति मिली। कर्सियाँ एक-दूसरे में दूर थी, थालियाँ भी उतनी ही यथेष्ट दूरी पर। हम लोग रूचिपूर्वक भोजन करने लगे। बीच-बीच में बातें भी होती रही। शर्मा जी ने मुझसे कहा—“कार्यक्रम के अनुसार विचार-विनिमय के लिए मेरे द्वारा आमन्त्रित दिल्ली के प्रमुख साहित्यकार यहाँ एक घंटे में पधारेगे। भोजन और स्वल्प विश्राम के अनन्तर हमें उसमें सम्मिलित होना होगा। आज ही सब लोगों की सम्मति से आनन्दवर्धनी-समिति की स्थापना हो जायगी और तब उसका एक बड़ा अधिवेशन करने की व्यवस्था होगी, जिसमें विश्व-भर के साहित्यकार यह निर्णय करेंगे कि विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए उक्त समिति द्वारा आनन्द के किस सर्व-सम्मत अथवा बहुजन-सम्मत स्वरूप का प्रचार किया जाय।”

शर्मा जी की उक्त विचार-शृंखला की दो कड़ियों ही में मैं उलझा हुआ था, तब तक आनन्द-प्रचार की यह तीसरी कड़ी भी सामने आ गई। इसका भी मैं कैसे विरोध कर सकता था? आखिर संसार में आनन्द-प्रचार का मंत्र खोजने ही के लिए तो बुद्ध देव राज-पाट छोड़कर वनवासी हुए थे। शर्मा जी भी यदि यही खोज करना चाहते हैं तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? मैंने उत्तर दिया—“ठीक है। आपका उद्देश्य सराहनीय है।” शर्मा जी इसके बाद गम्भीर होकर चुप हो रहे।

भोजन के अनन्तर मैंने अपने कमरे में थोड़ा विश्राम किया और तब विचार-विनिमय के लिए निर्धारित स्थान पर मैं पहुँचा। यह छोटा-सा हाल सरीखा था, जो इस अवसर के लिए सुन्दरता के साथ सजाया गया था। पूरे कमरे में दगी और उसके ऊपर सफेद चादर बिछी हुई थी। सभापति के लिए गर्दे-तकिए का प्रवध था और जितनी दूर तक साहित्यकारों के बैठने का अनुमान किया गया था, सुन्दर कालीन भी डाल दिए गये थे।

दिल्ली के साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमी दर्शकों का आना शुरू हो गया। डा० नगेन्द्र, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री दिनकर, सेठ गोविन्ददास, श्री नवीन जी, श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री बाँके-बिहारी भटनागर, श्री प्रभाकर माचवे आदि आ गये। संयोग से पंत जी भी दिल्ली में थे और राष्ट्र-कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के साथ वे भी दीख पड़े। मौलाना दिलेरअली ने आज साहित्यकारों का स्वागत करने में अच्छा उत्साह दिखाया, लम्बी

दाढ़ी और मोटे शरीर की बाधा होने पर भी उन्होंने अपने फुरतीलेपन से सबको चकित कर दिया। फुरतीलेपन के झोके में उन्होंने समाचार-पत्रों के संवाददाताओं तथा दर्शकों का भी इतना प्रभावशाली स्वागत किया कि वे संकुचित हो गये। इसी धुन में एक रिक्शेवाले का भी, जो किसी दर्शक से केवल पैसे लेने के लिए साहसपूर्वक भीतर चला आ रहा था, धूमधाम से स्वागत हो गया। श्रीमान् शर्मा जी के पक्के गिण्टी होने की तीरव घोषणा के लिए ही शायद मौलाना साहब स्वागत करने में इतने तन्मय हो रहे थे।

सब लोग यथास्थान बैठ गये। अब किसी को न आता देखकर, कुछ हताश और लाचार से मौलाना दिलेरअली भी ठाकुर गजराजसिंह आदि के साथ उन लोगों का समाधान करने लगे जो आवेशपूर्वक श्रीमान् शर्मा जी की अनुपस्थिति की टीका-टिप्पणी कर रहे थे। अचानक कुमारी सोफिया को साथ लिये हुए शर्मा जी आ गये और गाव-ताकिये की टोक लगाकर इस तरह विराजमान हुए, मानो सभापति होना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसके लिए प्रस्ताव आदि किये जाने की कोई आवश्यकता नहीं। जो हो, शर्मा जी का सभापतित्व निर्विवाद था, उनसे किसी को होड़ नहीं थी, केवल कार्य-विधि निर्वाह का अभाव ही लोक-सभा के सदस्यों को शायद कुछ खला था।

मैं श्री भगवतीचरण वर्मा के पास बैठा हुआ धीमे स्वर में कुछ बातें कर रहा था, शर्मा जी का संकेत पाकर मुझे उनके पास जाना पड़ा। मेरे पहुँच जाने पर कुछ आवश्यक बातों के लिए सहेजकर सभापति शर्मा जी ने बैठे-ही-बैठे कहा—“दिल्ली के प्रमुख साहित्यकारगण तथा अन्य सज्जनों! आज आपके सहयोग से मैं आनन्दवर्द्धिनी-सिमिति की स्थापना करना चाहता हूँ। आनन्द की खोज में मनुष्य-मात्र है। हमारे यहाँ के ऋषि-मुनि भी इसी खोज में सदैव व्यस्त रहे। आज भी हम इसी खोज में लगे हुए हैं। किन्तु, यह कार्य संगठित रूप से नहीं हो रहा है। अपनी-अपनी ढफली, अपना-अपना राग वाला हाल हो रहा है। इसका परिणाम यह है कि हम महायुद्ध की आशंका से नित्य ही त्रस्त हो रहे हैं। विश्व-शान्ति की स्थापना साहित्यकारों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं है और जब तक विश्व के साहित्यकार आनन्द के किसी एक रूप पर सहमत होकर इसका प्रचार नहीं करेंगे तब तक उनके सहयोग का कोई मूल्य नहीं। इस संगठन को जन्म देने के उद्देश्य से आज आप इस संस्था की स्थापना करें तथा एक बड़ा अधिवेशन करके विश्व के साहित्यकारों को एक ढग पर साहित्य-निर्माण के लिए प्रेरित करें। इस कार्य को अग्रसर करने के लिए समालोचकों की सहायता बहुत अधिक मात्रा में अपेक्षित है। इसीलिए मैंने अपने मित्र श्री गिरिजादत्त शुक्ल ‘गिरीश’ को प्रयाग से आग्रहपूर्वक बुलाया है। यदि

आप आज आनंदवर्द्धनी समिति की स्थापना कर देंगे तो उसके संयोजक के रूप में कार्य करने के लिए मैंने उन्हें सहमत कर लिया है। यह भी कह दूँ कि इस संस्था को धन की कभी कमी नहीं रहेगी। आप फिलहाल एक लाख तक का बड़ा-से-बड़ा आय-व्ययक बना सकेंगे। यही कहकर मैं इस संस्था की स्थापना के लिए प्रस्ताव करता हूँ।”

शर्मा जी के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए मैंने कहा—“मैं शर्मा जी को इतना उत्तम विचार प्रस्तुत करने के लिए बधाई देता हूँ। उनका उद्देश्य महान् है। सफलता निश्चित है। मुझे आशंका केवल यह है कि हम लोग, जो भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं को लेकर लड़ने के आदी हैं, किस प्रकार किसी एक विचार पर सहमत हो सकेंगे? जो हो, यदि आप इस संस्था की स्थापना कर देंगे तो मैं इसकी सेवा का आपको आश्वासन देता हूँ।”

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने संस्था की स्थापना के पक्ष में अपना मत प्रकट किया, किन्तु यह चिन्ता भी व्यक्त की कि बहुमत यथार्थवाद की ओर ही झुकेगा, इससे अश्लीलता का प्रचार होने का भय है।

पतंजी बोले—“मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संस्था सुन्दर कार्य करेगी। अभी से अश्लीलता की आशंका करना ठीक नहीं। वास्तव में उसके निवारण ही के लिए तो संगठित होने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज अपने जीवन में हम स्वर्ण-युग का आवाहन करने के लिए एकत्र हुए हैं। आज का दिन इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।” श्री भगवतीचरण वर्मा ने कहा—“मैं इस संस्था का स्वागत करता हूँ, न श्लील और अश्लील के सम्बन्ध में माथापच्ची करने से कोई लाभ है और न पाप और पुण्य को साहित्य के क्षेत्र में एक स्तर पर पहुँचाने की आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि हम जो कुछ करें, आनन्द की भावना से प्रेरित होकर करें।

नवीन जी बोले—“इस संस्था की स्थापना के पक्ष में मैं भी हूँ, किन्तु आपको बता देना चाहता हूँ कि जनता यथार्थवादी और अश्लील साहित्य ही के पक्ष में रहती है। फ्रांस में उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में यह बात प्रचुर मात्रा में देखी जा चुकी है। योरोप के साहित्यकारों को यदि आप बुलायेंगे तो यथार्थवाद की ही नहीं, उग्रयथार्थवाद की विजय होगी। इससे भारतीय आदर्शवाद की हत्या हो जायेगी।”

सेठ गोविन्ददास तथा अन्य साहित्यकारों ने भी इसी प्रकार अपने विचार प्रकट किये। संस्था की स्थापना तो सर्वसम्मति से हो गई, किन्तु शर्माजी ने यह अनुभव किया कि भ्रान्ति-निवारण के लिए उनका कुछ कहना आवश्यक है। तब कुछ आकस्मिकता के साथ खड़े होकर उन्होंने उपस्थित लोगों को इस प्रकार सम्बोधित किया—“मित्रो, इस संस्था की स्थापना करके हमने आज एक

बहुत बड़ा अनुष्ठान किया है। विश्व के कल्याण-साधन के लिए हमने एक कदम आगे बढ़ाया है। किन्तु कुछ सन्देहों को दूर करना आवश्यक है। आदर्शवाद भय-कर खतरे के क्षेत्र में पहुँच गया है और उसका तब तक उद्धार नहीं हो सकता जब तक सर्वप्रिय भाव-धारा, सर्वबोधगम्य विचार-प्रवाह, सर्व-सुलभ अभिव्यक्ति-शैली और अमुन्दर-से-असुन्दर रचनाओं में भी खींच-तानकर सौन्दर्य को देख लेने वाली आलोचना-कला का आप विकास न कर ले। आप यथार्थवाद से घबराये नहीं, उसे अपने लिए हितकर समझे और साधनापूर्वक इतनी मात्रा में उसे अपनायें कि योरप के साहित्यकार भी हार मान जाय। उन्हें पराजित करके ही, अपनी शक्ति की मान्यता सिद्ध करके ही आप अपने आदर्शवाद की भी रक्षा कर सकते हैं, जो विभिन्न भाव-धाराओं की चपेट में पड़कर कुचल उठा है और दम तोड़ने के निकट आ गया है। अश्लील और श्लील का प्रश्न आपने व्यर्थ उठाया, आप-जैसे महान् पुरुषों को इन छोटी बातों की ओर ध्यान देना शोभा नहीं देता। तनिक गम्भीरतापूर्वक विचार करिए, वेदान्त के क्षेत्र में जाइए, सभी कुछ ब्रह्ममय है। ब्रह्म न अश्लील, हो सकता है न श्लील, भारतीय संस्कृति आपको यह आश्वासन देने के लिए तैयार है, किन्तु खेद है, आप इसे स्वीकार करने की ओर ध्यान नहीं देते। बड़े क्लेश की बात है कि लोगों के चित्त में अश्लीलता का एक बहुत बड़ा भय समाया हुआ है। जो तैरने से घबरता है उसकी घबराहट तभी मिटेगी जब वह तैरने के लिए विवश किया जायगा, इसी प्रकार अश्लीलता के भय-निवारण के लिए यह आवश्यक है कि हमारे साहित्यकारगण एक बार अश्लीलता से अधिक-से-अधिक परिचय प्राप्त कर ले। शास्त्रकारों ने कहा है—‘अति परिचयादवज्ञा’; अत्यन्त अधिक परिचय हो जाने पर अश्लीलता के प्रति सारी रुचि स्वतः समाप्त हो जायगी। प्रत्येक वस्तु के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है, तो फिर अश्लीलता ही में ऐसी कौन-सी आकर्षण-शक्ति है कि उससे यथेष्ट परिचय कर लेने पर भी उससे प्रेम ही बना रहेगा? मुझे पूर्ण निश्चय है कि इस प्रयोग में हमें सफलता मिलेगी और इसके परिणामस्वरूप तत्काल ही आदर्शात्मक प्रतिक्रिया अपना विकास प्राप्त करेगी। इस दृष्टि से मैं तो यही कहूँगा कि जिन लोगों ने हिन्दी में अश्लील साहित्य का निर्माण किया है वे हमारे धन्यवाद के भाजन हैं, उन्होंने भारतीय संस्कृति की, भारतीय समाज की रक्षा कर ली है।

मनुष्य ऐसे शास्त्र की खोज के लिए तड़प रहा है जो अश्लील को श्लील और श्लील को अश्लील बनाकर दोनों का भेद मिटा दे। अपनी भूल और अपनी प्यास उसे अब अधिक सुबोध है और सबसे अधिक दुर्बोध है इन्हें भुला देना अथवा दूसरे

की भूख-प्यास को भी मन में स्थान देना । जो दुर्बोध है उसे ही हम मानव के मन पर लादना चाहते हैं और जो सुबोध है उसे ही तुच्छ और घृणित बताकर उसको हतोत्साह करते हैं । हमारे देश में यह भूल आज से नहीं, अनन्त काल से होती आ रही है । हमारे यहाँ सबसे बड़े सुधारक हुए हैं महात्मा बुद्ध; किन्तु उन्होंने भी इच्छाओं के दमन की ही शिक्षा दी । मुझे यह स्वीकार नहीं है, मैं कहता हूँ कि संसार में किसी को भी यह स्वीकार नहीं है, यदि है तो वह मनुष्य नहीं है, कोई अन्य प्राणी है । और हमें तो सबसे पहले मनुष्य ही के कल्याण की चिन्ता करनी है ।

अब मुझे सर्व-सुलभ अभिव्यक्ति-शैली पर भी कुछ कहना है । साहित्य में ऐसी शैलियों के आविष्कार की आवश्यकता है, जिनमें साहित्य-निर्माण का कार्य सरल हो जाय, साहित्य-रचना के कार्य को कठिन नियमों के घेरों में बन्द न करना चाहिए । राज-मार्ग इतना चौड़ा और अकटक होना चाहिए कि अन्धा भी राज-भवन में पहुँच जाय । साहित्य-निर्माण के पथ पर चलना इतना आसान कर देना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति और कामों के साथ-साथ अपने लिए आवश्यक साहित्य तैयार कर ले । टालस्टाय अपना बनाया हुआ जूता पहनते थे, गाँधीजी अपने लिए दूसरों के परिश्रम से बने कपड़ों के मुहताज नहीं रहते थे । तो फिर साहित्य ही के लिए हम दूसरों का मुँह क्यों ताकें ? माना कि हमारे रँगई-बुधई शेक्सपियर और कलिदास की तुलना नहीं कर सकेंगे, किन्तु इससे क्या, सीधा-टेढ़ा अपना स्वराज छोड़ कर हम दूसरों का राज क्यों स्वीकार करें ? हम शेक्सपियर और कालिदास ही के क्यों दास बने रहें, मिल्टन और दांते, सूर और तुलसी, गालिब और टैगोर ही का क्यों गुण-गान करते फिरें ? हम अपना उपन्यास, अपनी कहानी अपना नाटक, अपनी कविता तैयार कर लेंगे और उसीको पढ़-पढ़कर झूम लेंगे । हमें आम-निर्भरता का यही पाठ विश्व-भर को पढ़ाना है । पंत जी की ही तरह मैं भी स्वर्ण युग की कल्पना करता हूँ, किन्तु मेरा विचार यह है कि स्वर्ण-युग वही होगा जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपना किसान, अपना जूलाहा, मोची, अपना डाक्टर और अपना साहित्यकार भी हो जायगा ।

लेकिन कानून के सहयोग के बिना साहित्य को जनतन्त्रात्मक रूप देने में हमें सफलता नहीं मिलेगी । इसलिए मैं चाहता हूँ कि हमारे लोक-सभा के सदस्य एक कानून बना दें, जिससे किसी की रचना में दोष निकालने की प्रवृत्ति महान् अपराध के रूप में दण्डनीय हो जाय । घुरहू का बिरहा हो अथवा निरहू का चौताल; चूरन वाले का लटका हो या लोना चमारिन का झाड़ू-फूँक का मंत्र, हमें सब की व्याख्या के लिए, सबकी प्रशंसा के लिए कोई-न-कोई ढंग निकाल लेना चाहिए । और,

उस हालत में प्रतिकूल आलोचना की आवश्यकता ही क्या है, जब स्वान्तः सुख के लिए लिखी गई प्रत्येक रचना अपने जन्म-दाता को सुख देकर अपना जीवन सफल कर ही लेती है। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' तुलसीदास जी भी यह कह गये हैं !

संक्षेप में ये थोड़ी बाते कहकर मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि आनन्द-वर्द्धिनी-समिति ससार के प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द में मग्न बनाने के लिए निरंतर उद्योग करेगी। साहित्य-निर्माण का आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। याद प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द का चस्का लग जायगा तो उसे आपस में लड़ने-भिड़ने की आवश्यकता ही न रह जायगी। जय हिन्द।”

श्रीमान् शर्माजी के व्याख्यान के अनन्तर उपस्थित सज्जनों की शीत-वाधा दूर करने के लिए चाय आ गई। उत्साहपूर्वक सबने उसे ग्रहण किया और अन्त में मौलाना दिलेर अली में धन्यवाद लेकर सबने अपने-अपने निवास-स्थान को प्रस्थान किया।

इस घटना में कितनी सत्यता है और कितनी असत्यता, जिन सज्जनो को यह जिज्ञासा हो उनसे मुझे इतना ही कहना है कि लौकिक दृष्टि से न घटित होकर भी यह घटना दार्शनिक दृष्टि से सघटित हो चुकी है; यदि किसी को और कुछ ज्ञातव्य हो तो वह मुझसे पत्र-व्यवहार करे।

छब्बीस :

:: उर्दू—देश-भाषा ही की एक शैली

देश की परिवर्तित परिस्थितियों में उर्दू-भाषा और उर्दू-साहित्य का क्या उपयोग होगा ?—इस सम्बन्ध में प्रायः उर्दू-हितैषियों की ओर से चिंता प्रकट की जाती है। उर्दू अपने जन्म-काल में ही बड़ी भाग्यवान् रही है, अल्प वय ही में उसे राजकीय कृपा प्राप्त हुई और यद्यपि शमक बदले, किन्तु उसके प्रति अनुग्रह में कोई कभी नहीं आई। देश-भाषा को क्षति पहुँची, वह दर-दर ठोकरें खाती रही, किन्तु राज-सम्मानिता उर्दू की आन-बान में कोई अंतर नहीं पड़ा। राज-कृपा के स्थान में यदि उर्दू ने जनता की कृपा भी सम्पादित करने का प्रयत्न किया होता तो आज उसके भाग्य के सम्बन्ध में चिंता करने की आवश्यकता ही न पड़ती।

जो लोग उर्दू को एक स्वतन्त्र भाषा मानते हैं—जिसके मिट जाने की आशंका सामने उपस्थित है—उनका विचलित होना स्वाभाविक है। जिस भाषा में एक-से-एक सुन्दर काव्य है, जिसकी मुक्तक कविताओं की जोड़ की चीज अन्य भाषाओं में शायद ही मिल सके, जिसका गद्य बहुत मशकत और प्रभावशाली है, उसका अस्तित्व लोप हो जायगा तो उसमें देश की बहुत बड़ी क्षति होगी—उर्दू की जीवन-रक्षा के निमित्त वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं।

किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो देश-भक्त और उर्दू-प्रेमी होने के साथ-ही-साथ उर्दू को स्वतन्त्र भाषा मानकर उसे हिन्दी की एक शैली के रूप में ग्रहण करते हैं। देश-भाषा में अरबी और फारसी के शब्द भरकर ही तथा अनेक विदेशी तत्त्वों के समावेश के आधार पर ही इस शैली का निर्माण हुआ है। स्वदेशीय तत्त्वों के प्रति ज्यों-ज्यों अनुगम बढ़ता जायगा त्यों-त्यों विदेशी तत्त्वों का परिहार होता चलना स्वाभाविक है, उसी प्रकार देशी शब्दों की तुलना में अरबी और फारसी शब्दों को बहुत दिनों तक प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। रही केवल लिपि की बात, मो देवनागरी के प्रचार को रोककर फारसी और अरबी लिपि में लिखने का आग्रह भी अधिक विचार के योग्य नहीं है। ऐसी स्थिति में उर्दू जिन विभिन्नताओं को लेकर देश-भाषा से पृथक् हुई थी उनमें से क्रमशः सबके तिरोहित हो जाने पर उसकी शैली का समाप्त हो जाना निश्चित है और इससे देश की राई बराबर भी हानि नहीं होगी। इस भय को मान्यता देने वालों का यह कहना है कि उर्दू साम्रा-

ज्यवाद के एक चिह्न के रूप में आई और साम्राज्यवाद के नाश के साथ-साथ उसका भी नाश अवश्यम्भावी है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह मत सर्वथा अप्रामाणिक है।

उर्दू का भविष्य चाहे जैसा हो, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि उर्दू-साहित्य की रक्षा होनी चाहिए, क्योंकि वह हमारी ही राष्ट्रीय सम्पत्ति है। उर्दू-साहित्य में जितना अंश रचनात्मक है, अध्ययन के योग्य है उसका अध्ययन होना चाहिए। यदि उर्दू-काव्य में अथवा उर्दू-गद्य में शक्ति-सम्पन्न विचार और भाव हैं तो उर्दू लाख प्रयत्न करने पर भी मिट नहीं सकेगी, उसके प्रेमी पाठक उसे जीवित रखेंगे।

किन्तु किसी भी अवस्था में हिम्मत न हारने वाले उर्दू के कुछ हितैषियों ने थोड़े दिनों में यह कहना शुरू किया है कि उर्दू समस्त उत्तर प्रदेश के घर-घर में बोली जाती है; वे उसे देश-भाषा का रूप देकर उपयोगी सिद्ध करना चाहते हैं। इसी तरह की बात मौलाना फारूकी ने कुछ समय पहले अपने एक अंगरेजी लेख में इस प्रकार कही थी

"I challenge that there is not a single Hindu house in these provinces where urdu is not spoken."

अर्थात् "मैं चुनौती देकर कहता हूँ कि इन प्रान्तों में एक भी हिन्दू घर ऐसा नहीं है, जहाँ उर्दू न बोली जाती हो।" इन दोनों बातों पर यदि एक साथ विचार करें तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि उर्दू उत्तर प्रदेश के देहातों में हिन्दुओं के घरों में बोली और समझी जाती है और हिंदी नाम की कोई भाषा उत्तर प्रदेश में कही है ही नहीं। अस्तु! मैं नीचे एक छोटा-सा अवतरण देता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि उर्दू के समर्थक गण इसे बोलने अथवा समझने की क्षमता रखने वाले घर, देहातों की बात जानें दीजिए। काशी, प्रयाग, कानपुर, आगरा, अथवा लखनऊ ही में खोज निकालें। देखें वे कितने उतरते हैं। अवतरण यह है

"सब में इस आमेजिश के यह जवान रेखता में मुसम्मा हुई। जब मनाई व जहूरी नज्म व नमु फारसी में बानी तर्ज जदीद के हुए हैं वली गुजराती गजल रेखता की ईजाद में सभी का मुव्वदा और उस्ताद हैं।" १

अरबी और फारसी शब्दों में लदी हुई 'उर्दू-ए-मुअल्ला' को प्रत्येक हिन्दू घर की बोली बतलाकर समझदार लोगों की आँखों में अधिक समय तक धूल नहीं झाँकी जा सकती।

थोड़ी देर के लिए यदि हम इस बात को मान भी लें कि उत्तर प्रदेश

के प्रत्येक घर में उर्दू बोली जाती है तो हमारा प्रश्न यह है कि उर्दू के प्रेमीगण चबरा क्यों रहे हैं ? उर्दू को राज-भाषा बनाने के लिए इतना सिरतोड़ परिश्रम क्यों कर रहे हैं ? क्या वे इस बात को नहीं जानते कि हिंदी ने राजकीय उपेक्षा और तिरस्कार की चार शताब्दियाँ व्यतीत करने पर अपना सम्मानित पद आज प्राप्त किया है। इतनी दीर्घकालव्यापिनी उपेक्षा को सहन करके भी यदि हिंदी आज जीवित है तो उसका यही कारण है कि उसकी जड़े जनता के हृदय में हैं। यदि उर्दू की जड़े भी जनता के हृदय में हो तो उर्दू के उन्नायकों में मेरा अनुरोध है कि केवल पच्चीस वर्षों तक राजकीय आश्रय प्राप्त करने की चेष्टा से विरत रहकर वह उन लोगों के सामने इस कथन की सत्यता प्रमाणित होने दें, जिन्हें इस सम्बन्ध में निश्चित रूप में सन्देह है।

भाषा-विज्ञान का माधारण विद्यार्थी भी जानता है कि हमारे देश में साहित्य की सम्मानित भाषा में पृथक् जनता के बीच में बोली जाने वाली लोक-भाषा 'देशभाषा' नाम से सम्बोधित होनी रही है। विक्रम की तीसरी सदी में भरत मुनि ने उक्त प्रकार की जन-भाषा को 'देश-भाषा' ही कहा है। जब प्राकृत, पाली और अपभ्रंश लोक-भाषा के रूप में जनता में प्रचलित थी तब ये भी देश-भाषा ही कही जाती थी। पद्महवीं शताब्दी में विद्यापति ने अपने काव्य में 'देसिल बजना सब जन मिट्टा' में 'देश-वाणी' शब्द का ही रूपान्तर करके प्रयोग किया था। भाग के कवियों ने 'देश' शब्द को छोड़कर केवल 'भाषा' शब्द का व्यवहार प्रचलित किया। तुलसीदास जी ने लिखा है :

भाषा-बद्ध करब में सोई ।

मोरे जिय प्रबोध जेहि होई ॥

भाषा शब्द का प्रयोग केशवदास ने भी किया है—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास ।

तिन भाषा कविता करी शठ मति केशवदास ।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि तुलसीदास और केशवदास के पूर्ववर्ती एवं सम-सामयिक मुसलमान कवि उक्त देश-भाषा को ही 'हिंदी' कहते थे। उदाहरण के लिए नीचे की पंक्तियाँ देखिए :

१—मुश्क काफूरस्त कस्तूरी कपूर ।

हिन्दवी आनन्द शादी और सखर ।

सोजनो रिश्ता ब हिन्दी सूई ताग ।^१

२- तुर्की, अरबी, हिंदवी भाषा जेती आहि ।

जामें मारग प्रेम का सबे सराहै ताहि ॥^१

इस सम्बन्ध में मैं अधिक विस्तार में नहीं जा सकूँगा। संक्षेप में इतना ही कथन यथेष्ट है कि उक्त देश-भाषा के लिए 'हिंदी' नाम का हमारे द्वारा ग्रहण मुसलमान साहित्यकारों के आप्रह के कारण ही संभव हुआ। यह हमारी भाषा-विषयक उदारता थी जो हमने इस फारसी शब्द को अपना लिया।

हमारी इसी देश-भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का बहुत अधिक समावेश करके, भारतीय विशिष्ट व्यक्तियों, पहाड़ों, नदियों, चिड़ियों, फूलों आदि का बहिष्कार करके तथा उनके स्थान में फारसी के विशिष्ट व्यक्तियों, पहाड़ों नदियों, चिड़ियों, फूलों आदि को गौ-वान्वित बनाकर एवं अभिव्यक्ति की शैली में भी परिवर्तन करके एक नई भाषा मुहम्मदशाह के जमाने में उर्दू के प्रथम कवि 'बली' के द्वारा सम्कार-सम्पन्न की गई। इस नवनिर्मित उर्दू में, फारसी और अरबी शब्दों की ठूँस-ठोंस कितने अस्वाभाविक ढंग से की गई, इसका उल्लेख स्वयं मुसलमान लेखकों ने किया है। मैयद इब्नहमन शारिक महोदय अपने श्रीमुख में कहते हैं

'मोलवी बहीदुद्दीन साहब मलीम पानीपती ने अपनी किताब बजा इस्त-लाहात इन्मिया' में 'फरहग आमफिया' का हवाला देकर लिखा है कि उर्दू जबान में खालिस अरबी-फारसी अलफाज की तादाद बकदर $\frac{5}{8}$ के हैं। मवाल यह पैदा होता है कि अरब और ईरान की जबानों में भी हमारे हिन्दुस्तान के $\frac{2}{3}$ अलफाज मौजूद है या नहीं और अगर नहीं है, तो हमें भी उनका बायकाट करने का हक है।'^२

वस उर्दू जबान में खालिस अरबी फारसी अलफाज की तादाद बकदर $\frac{5}{8}$ ही का तो झगड़ा है। हम समस्त अरबी-फारसी शब्दों के बायकाट की बात भी नहीं चला रहे हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी होंगे, जिनमें हमारे कानों और हमारे हृदय का पूर्ण परिचय हो गया है, जो हमारी प्रकृति में पूर्णतया एकीकृत हो गये हैं, उन्हें अपने में पृथक् करना अपने ही अंग को काटकर अलग कर देने के बराबर होगा। किन्तु उन्हें छोड़कर शेष का बहिष्कार करना और उनका स्थान संस्कृत के तत्सम शब्दों को अथवा तद्भव शब्दों को देना हमारे राष्ट्रीय विकास के लिए अनिवार्य आवश्यक है। यह बहिष्कार उनना ही आवश्यक है जितना

१. मलिक मुहम्मद जायसी

२. 'जमाना' जुलाई सन् १९३७

बद मकान को खोलने पर झाड़ू देना । इस झाड़ू के लगने, विदेशीपन निकल जाने के बाद उर्दू के प्रेमी देखेंगे और हम भी देखेंगे कि उर्दू और कुछ नहीं हमारी वही देश-भाषा है, जिसे हम बहुत समय तक 'भाषा' तथा मुसलमान कवि और शासक हिन्दी शब्द में सम्बोधित करते रहे । मुसलमानों के प्रति अपने मौहार्द का परिचय देने ही के लिए हमने क्रमशः 'भाषा' के स्थान में हिंदी नामकरण को स्वीकार कर लिया । लेकिन एक ओर तो मिलने के लिए हमने हाथ बढ़ाया दूसरी ओर मुसलमान साहित्यकारों और नेताओं ने हिन्दी से नमस्कार कर लिया । आज मैं फिर उर्दू के लेखकों और उन्नायकों से आग्रह करता हूँ कि स्वतंत्र भारत में अपने सुन्दर भविष्य का निर्माण करने के लिए वे ईरानी और अरबी सामग्री से काम न लें । ऐसा करना अपने देश के साथ नहीं अपने साथ भी अन्याय करना होगा ।

अतः मे, सैयद इब्न-हसन शारिक महोदय की निम्नलिखित पंक्तियों को हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए :

“अगर हिन्दू और मुसलमानों को एक दिल होना है तो उनको एक ही जवान और रस्म-लखत रखना होगा । वही बहुदल-खयाल पैदा करने और आपस में मुहब्बत व इखलाक कायम करने का बहुतरीन जरिया है ।”^१



